गुरुदेव का जीवन

१४ सितम्बर १९४२,उतर प्रदेश के गाजियाबाद जिले के, ग्ाम खुर्रमपुर सलेमाबाद में एक बालक का जन्म हुआ।

बालक जन्म से ही एक विलक्षण से युक्त था और विलक्षणता यह कि जब भी वह बालक सीधा, शवासन की मुद्रा में, कुछ अन्तराल लेटजाता या लिटा दिया जाता तो उसकी गर्दन दायें बायें हिलने लगती, कुछ मन्त्रोच्चारण और उसके बाद पुरातन संस्कृति पर आधारित ४५ मिनट के लगभग एक दिव्य प्रवचन होता। बाल्यावस्था होने के कारण, प्रारम्भ में आवाज अस्पष्ट होती और जैसे आयु बढने लगी वेसे ही आवाज और विषय दानो स्पष्ट होने लगे। पर एक अपठित बालक के मुख से ऐसे दिव्य प्रवचन सुनकर जनमानस आश्चर्य करने लगा, इस बालक की ऐसी दिव्य अवस्था और प्रवचनो की गूढता के विशय में कोई भी कुछ कहने की स्थिति में नही था। प्रवचन सुनकर जनमानस आश्चर्य करने लगा, इस बालक की एंसी दिव्य अवस्था और प्रवचनो की गूढता के विषय में कोई भी कुछ कहने की स्थिति में नही था।

इस स्थिति का स्पष्टीकरण भी दिव्यात्मा के प्रवचनो से ही हुआ। कि यह सृष्टि के आदिकाल से ही विभिन्न कालो में शृंगी ऋषि की उपाधि से विभूषित और सतयुग के काल में आदि ब्रहा्र के शाप के कारण इस युग में जन्म का कारण बनी। गुरुदेव इस जन्म में भले ही अपठित रहे,लेकिन शवासन की मुद्रा में आते ही इनका पूर्वजन्मित ज्ञान,उदबुद्ध हो जाता और अन्तरिक्ष-स्थ आत्माओ का दिव्य उद्बोधन, प्रवचन करते और शरीर की स्थिति यहॉ होने के कारण हम सबको भी इनकी दिव्य वाणी सुनाई देती। इन पंवचनो में ईश्वरीय की सृष्टि का अद्भुत रहस्य समाया हुआ है, ब्रहा्राण्ड की विशालता, सृष्टि का उद्देश्य,विभिन्न कालो का आंखो देखा वर्णन भगवान राम और भगवान कृष्ण के जीवन की दिव्यता का दर्शन क्या कुछ दिव्य न हीं है इन प्रवचनो में ये किसी भी मनुष्य का,समाज का और राष्ट्र का मार्ग दर्शन करने का सामर्थ्य रखते है।

२० वर्ष की अवस्था तक ये प्रवचन ऐसे ही जनमानस को आश्चर्य और मार्गदर्शन करते रहे।

दिल्ली के कुछ प्रबुद्ध महानुभवो ने प्रवचनो की इस निधि को शब्द ध्वनि लेखन उपकरण के द्वारा संग्रहित करके, पुस्तक रूप में प्रकाशित करने का निश्चय किया, जिसके लिए वैदिक अनुसन्धान समिति नामक संस्था का गठन किया। जिसके अर्न्तगत सन् १९६२ से प्रवचनो को संग्रहति और प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इस दिव्यात्मा ने पूर्व निर्धारित ५० वर्ष के जीवन को भोगकर सन् १९९२ में महाप्रयाण किया।

इस अन्तराल इनके १५०० प्रवचन, शब्द ध्वनि लेखित यन्त्र के द्वारा ग्रहण किये गये। जिनको धीरे-धीरे प्रकाशित किया जा रहा है। वैदिक जीवन और वैदिक संस्कृति का जो स्वरूप इनमे समाया हुआ है। उसके सम्वर्धन, संरक्षण और प्रसारण के लिए हर वैदिक धर्मी के सहयोग की अपेक्षा है। जिससे वसुधैव कुटुम्बकम की संस्कृति से निहित यह महान ज्ञान जनमानस में प्रसारित हो सके। वैदिक अनुसन्धान समिति (रजि.)

१ प्रथम-अध्याय-अद्वैत-वाद, द्वैत-वाद तथा त्रैतवाद की विवेचना

महर्षि भारद्वाज तथा महर्षि रेवक की विचार गोष्ठी

महर्षि भारद्वाज : आत्मा हम उसको स्वीकार करें जिसके न रहने पर मानव शरीर शव बन जाता है, मानव जड़ता को प्राप्त हो जाता है तथा अपने प्रकृत स्वरूप में चला जाता है।

महर्षि रेवक : हम उसको ब्रह्म का प्रतिबिम्ब क्यों न स्वीकार करें?

महर्षि भारद्वाज : इसको ब्रह्म का प्रतिबिम्ब इसलिये स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि ब्रह्म व्यापक है। यदि हम उसको ब्रह्म का प्रतिबिम्ब स्वीकार कर लें तो उसमें अकृत दोष आ जाते हैं।

महर्षि रेवक : ब्रह्म किसको स्वीकार करें?

महर्षि भारद्वाज : जैसे आत्मा इस शरीर को चेतनित बनाये रहती है, इसी प्रकार इस ब्रह्म के सन्निधान मात्रसे ही यह जो प्रकृति है, पंच-महाभूत हैं, वे अपनी-अपनी रचना में संलग्न हो जाते हैं। अर्थात् ब्रह्म के ही प्रतिबिम्ब का आभास प्रकृति में स्वीकार करें । उसमें जो चेतना है, वह ब्रह्म की ही है, ब्रह्म की चेतना से ही प्रकृति अपना चेतनित कार्य कर रही है।

महर्षि रेवक : प्रलय-काल में प्रकृति का क्या स्वरूप बन जाता है?

महर्षि भारद्वाज : प्रलय-काल में प्रकृति का सूक्ष्म स्वरूप बन जाता है।

महर्षि रेवक : प्रकृति जड़ पदार्थ है, वह सूक्ष्म होकर किसमें प्रविष्ट हो जाती है?

महर्षि भारद्वाज : क्योंकि यह ब्रह्म का ही स्वरूप माना गया है। इसलिये ब्रह्म में ही ओत-प्रोत हो जाती है। जिस प्रकार माता का पुत्र उत्पन्न होने से पूर्व माता के गर्भस्थल में शिशु रहता है, वहाँ आत्मा भिन्न है और बालक भिन्न है। इसी प्रकार यह प्रकृति उस ब्रह्म के स्वरूप में रमण करती रहती है तथा उसी में लीन होती रहती है। इन दोनों के मध्य रहने वाला पवित्र आत्मा है, जो मानव के शरीर को चेतनित बनाता रहता है। ये दोनों अपने स्वरूप को ग्रहण और दृष्टिपात करते रहते हैं। दोनों का स्वरूप तथा सङ्गठित होना, यह वास्तव में आत्मा के लिये ही किया जाता है। अर्थात् आत्मा के लिये संसार रचा जाता है। रचने वाला प्रभु है और रची जाने वाली प्रकृति है। इसमें विश्राम करने वाला तथा कार्यवाहक होने वाला एक चैतन्य आत्मा है। प्रकृति के स्वरूप को रचना और प्रलय में इस प्रकार स्वीकार किया जाता है।

महर्षि रेवक : यह आत्मा का स्वरूप वायुमण्डल में अथवा प्रलयकाल में कहाँ रहता है?

महर्षि भारद्वाज : उस समय यह आत्मा भी ब्रह्म के रूप में ही परिणत रहता है, तथा उसी के आँगन में रमण करता रहता है, रमण करने मात्र से ही उसका आभास हमें दृष्टिपात आता है। जिस समय रचना होती है तो रचना आरम्भ होते ही महतत्त्व से प्रकृति का सन्निधान होता है तथा प्रकृति अपने-अपने स्वरूप में रमण करने

लगती है। नृत्य करती हुई उस महतत्त्व की चेतना के आधार पर ही अपनी-अपनी चेतना में चेतनित रहती है तथा अपना-अपना कार्यवाहक इसके समीप आता रहता है। आत्मा इसके मध्य में ऐसे अपनी विकृतता को प्राप्त हो जाती है और संसार अपने-अपने स्वरूप में रमण करने लगता है।

योग-सिद्ध आत्मा अपने शरीर की रचना परमाणुओं द्वारा स्वयम् कर लेता है

आत्मा को शरीर की यहाँ आवश्यकता होती है तथा यह अपने-अपने शरीरों को धारण कर लेता है। जो मोक्ष के तुल्य अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति के योग्य आत्मा होता है (पर अभी कुछ भोगों के भोग शेष रहने के कारण मोक्ष लाभ नही कर सका) वे अपने शरीरो को धारण कर लेते हैं। क्योंकि प्रकृति के परमाणुओं को एकत्रित करने की उनमें क्षमता होती है तथा उनमें वह शक्ति होती है। उसी शक्ति के आधार पर वे अपने शरीरों को धारण करने लगते हैं। इसी प्रकार धारण करते रहने से यह सृष्टि का क्रम आरम्भ हो जाता है।

इस प्रकार संसार में हम त्रैतवाद को लेकर चलते हैं। एकेश्वरवाद तथा त्रैतवाद की विवेचना परम्परा से ऋषि-मुनियों के मस्तिष्क में चली आती है।

त्रैतवाद ही यथार्थ सिद्धान्त है

परन्तु अधिकतर जो मत माना गया है, वह त्रैतवाद ही है। क्योंकि बिना त्रैतवाद के सिद्ध हुए यौगिकता सिद्ध नहीं होती। जब यौगिकता सिद्ध नहीं होती तो मानव कर्म से विहिन हो जाता है। कर्म

से विहीन होने पर यह समाज भ्रष्ट हो जाता है। उसमें मानवीय कर्म की आश्रयता समाप्त हो जाती है। इसलिये हमें त्रैतवाद को लेकर ही चलना चाहिये।

यह जगत एक-दूसरे पर छाया हुआ प्रतीत होता है। प्रकृति ब्रह्म में ठहरी हुई दृष्टिपात आती है। परब्रह्म परमात्मा आत्मा में तथा यह आत्मा और प्रकृति दोनों ब्रह्म में ठहरे हुए दृष्टिपात आते हैं। इस प्रकार एक-दूसरे की सहकारिता से ही यह जगत अपने-अपने आँगन में अपने-अपने आसन पर नृत्य कर रहा है।

जो आत्मवेत्ता पुरुष होते हैं, आत्मा को जान लेते हैं, उनके सम्पर्क में जाने से मानव का हृदय परिपक्व होता है। योगसिद्ध आत्माओं की जानकारी सभी लोक-लोकान्तरों की होती है। क्योंकि उनकी उड़ान सर्वत्र रहती है।

जिस प्रकार भौतिक विज्ञानवेत्ता केवल श्वास के द्वारा ही उसका चित्रण कर लेता है तथा यन्त्रें में भर लेता है, उसी प्रकार योगसिद्ध आत्माएँ त्रैतवाद को लेकर प्रकृति से ब्रह्म तक उड़ान करते हैं। उनकी उड़ान इतनी विशाल होती है कि वे उस महान् आँगन में चले जाते हैं तथा मानवीय क्षेत्र में मानवता का दिग्दर्शन होता है। वे इस प्रकृति के आँगन को नहीं छूना चाहते जिससे विडम्बना और दाह हो। यें तो ब्रह्म की दाह को अपने में ग्रहण कर लेते हैं जिससे पिपासा शान्त हो।

हमें त्रैतवाद को लेकर चलना चाहिये, क्योंकि त्रैतवाद योगसिद्ध होता है तथा वह हमें महत्ता की ओर ले जाता है।

जो एकेश्वरवाद या अद्वैत को लेकर चलता है तो उसमें नाना प्रकार के आरोपण आ जाते हैं। इन आरोपणों से सृष्टि के क्रम तथा मानवीय क्रमों में भिन्नता आ जाती है। सृष्टि के क्रम को अच्छी प्रकार से वर्णन नहीं कर सकते। उसमें नाना प्रकार के दोषारोपण दृष्टिपात आने लगते हैं। (अट्ठारहवाँ पुष्प, ११-४-७२ ई.)

एकेश्वरवाद तथा त्रैतवाद का विवाद परम्परा से चला आ रहा है। जड़ और चेतन का विवाद है। महर्षि पिप्पलाद जिज्ञासुओं के समक्ष ऋत् और सत् की विवेचना करते रहते थे। आदि ब्रह्म से अिंगराचार्य तक विचार एक प्रकार का ही है। महर्षि वायु तथा अिंगरा त्रैतवाद को लेकर चले। त्रैतवाद पर गहन अध्ययन की आवश्यकता है।

विवेचना

एकेश्वरवाद के आधार पर यदि यह स्वीकार किया जाये कि परमात्मा का प्रतिबिम्ब प्रत्येक चित्त पर आता है तथा संसार में नाना प्रकार के जो चित्त हैं वे प्रकृति की एक मूलधारा है तथा उस धारा पर प्रभु की चेतना, प्रतिभा तथा प्रतिबिम्ब आता रहता है और उससे वे गति करने लगते हैं, तो यह गति परमात्मा के प्रकाश से है। यदि परमात्मा को आत्मा के स्वरूप में स्वीकार कर लेते हैं तो आत्मा-परमात्मा एक ही शब्द बन जाते हैं। परन्तु वह केवल शब्द मात्र ही है।

अब यदि इस शब्द का स्रोत हम केवल अज्ञान की प्रतिभा को स्वीकार करेंगे तो अज्ञान का पृथक् अस्तित्व नहीं माना गया। महर्षि अिंगरा तथा महर्षि वायु का मत यह है कि आत्मा और परमात्मा

भिन्न-भिन्न हैं।

संसार में तीन ही वस्तुएँ हैं। १-रचने वाला, २-उसमें प्रवेश करने वाला तथा ३-जिससे वह रची जाती है। महर्षि अंगिरा जी ने माना है कि यदि हम एक ईश्वर, परमात्मा या ब्रह्म को स्वीकार करें, ब्रह्म का प्रतिबिम्ब चित्त में प्रविष्ट होता है, चित्त में ब्रह्म की छाया रहती है और मानवीय शरीर में जितना अज्ञान आता रहता है उतनी ही उसकी संज्ञा बनती रहती है कहीं वह जीव है, कहीं आत्मा है तो कहीं वह ब्रह्म है। अतः उन्होंने कहा कि यह वाक्य सुन्दर प्रतीत नहीं होता। ब्रह्म और आत्मा को एक वस्तु स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि इनको एक ही वस्तु स्वीकार कर लें तो नाना दोष आ जाते हैं।

जड़ और चेतन को स्वीकार करने पर जब साकार और निराकार ब्रह्म का वर्णन आता है तो दृष्टिपात आता है ब्रह्म की चेतना से जब यह प्रकृति अपने में चैतन्य होकर नृत्य करने लगती है तो उस समय ब्रह्म का ही साकार रूप बनकर यह ब्रह्माण्ड नृत्य करने लगता है तथा सर्वत्र ब्रह्माण्ड में एक गति आ जाती है क्योंकि प्रकृति का अपना कोई अस्तित्व नहीं होता।

कुछ नवीन आचार्यों ने ऐसा भी स्वीकार किया कि चित्त में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब आता है और चित्त के न रहने पर वही मुक्त हो जाता है। इसको स्वीकार करने पर ब्रह्म में नाना प्रकार के दोषारोपण आ जाते हैं क्योंकि उन्होंने ब्रह्म को स्थूल रूप धारण करा दिया।

यदि संसार में ब्रह्म की ही चेतना तथा प्रकृति की जड़ता को स्वीकार करते हैं तो आत्मा का अस्तित्व नहीं रहता। (अट्ठारहवाँ पुष्प,

१३-४-७२ ई.)

महर्षि अटुल मुनि, महर्षि नारद, महर्षि सनत्कुमार, महर्षि लोमश, महर्षि विभाण्डक, महर्षि पारामुनि तथा उनके पुत्र धुन्धुऋषि के समाज में अद्वैतवाद के प्रश्न पर विचार हुआ।

महर्षि पारामुनि ने ऋषियों के निर्णय को दोहराते हुए कहा कि जब मानव की स्मरण शक्ति ऊँची हो जाती है, वह योगी बनकर आत्मदर्शन करके परमात्मा के दर्शन की स्थिति में पहुँच जाता है, तब वह आत्मा ब्रह्म बन जाता है। किन्तु परब्रह्म कदापि नहीं बन सकता।

महर्षि अष्टावक्र जी महाराज ने महाराजा जनक जी महाराज से यही कहा था। महर्षि याज्ञवल्क्य जी महाराज ने भी यही कहा था कि प्रभु ने संसार रचा है, वह गणों में विभक्त है। इस संसार में वह गणनीय है, जो हमारा स्वामी है हम उसके आश्रित हैं। उसी ने संसार को उत्पन्न किया। उसको पाकर आत्मा ब्रह्मा बन जाता है, किन्तु परब्रह्म कभी नहीं बनता।

गुरुवर्य श्री ब्रह्मा जी महाराज ने कहा था कि जैसे माता और पुत्र का, पिता और पुत्र का सम्बन्ध है, उसी प्रकार आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध है। (प्रथम पुष्प, १-४-६२ ई.)

भगवान श्रीकृष्णचन्द्र महाराज ने भी यही कहा था कि हे अर्जुन! अपने जन्म-जन्मान्तरों की बहुत सी बातों को मैं जानता हूँ और तू नहीं जानता है। यह आत्मा अमर है, अजर है, अविनाशी और विभु है। भगवान कृष्ण का अर्जुन को ऐसा कहने का अभिप्राय था कि

"तुम मुझे पाओ। मेरे अर्पण कर दो और मुझको जो पा लेता है वह मेरे में ही रमण कर जाता है।" यह उपदेश ठीक उसी प्रकार का है, जैसे गुरु अपने शिष्य को अपने सामने समर्पण करने की शिक्षा देता है। (प्रथम पुष्प, १-४-६२ ई.)

एक सभा में महर्षि नारद मुनि महाराज, महर्षि मार्कण्डेय महाराज, महर्षि भृगु महाराज आदि ऋषियों के समाज में महर्षि नारद जी महाराज द्वारा प्रश्न करने पर यह निर्णय लिया गया कि ब्रह्म अवधि के द्वारा आत्मा परब्रह्म को पाकर ब्रह्म बन जाता है। इसलिये इस सृष्टि काल का नाम ब्रह्मदिन हुआ। अर्थत् यह आत्मा के ब्रह्मा बनने की अवधि है। (प्रथम पुष्प, २-४-६२ ई.)

महर्षि वेद व्यास जी महाराज ने ऐसा कभी नहीं माना कि आत्मा और परमात्मा एक ही है। द्वापरकाल तक किसी भी ऋषि ने ऐसा नहीं माना, बल्कि पृथक्-पृथक् ही माना है। (तृतीय पुष्प, ८-३-६२ ई.)

आत्माओं की गणना में असमर्थता के कारण भी आत्मा और परमात्मा एक नहीं माना जा सकता क्योंकि यह तो शन्तिदायक श्रृङ्खलावाद का नियम है। (प्रथम पुष्प, १८-८-६२ ई.)

यह सार्वभौम सिद्धान्त है कि सूक्ष्म वस्तु स्थूल में समाहित हो जाती है, उसका रूपान्तर हो जाता है। जैसे पृथ्वी जल में प्रतिष्ठित हो जाती है, जल अग्नि में, अग्नि वायु में, वायु अन्तरिक्ष में प्रतिष्ठित हो जाता है इसी प्रकार एक दूसरे की प्रतिष्ठा हम स्वीकार करते रहते हैं। इसी सिद्धांत के आधार पर आत्मा की प्रतिष्ठा ब्रह्म में हो

जाती है, जिसको मोक्ष कहते हैं। (अट्ठारहवाँ पष्प, १३-४-७२ ई.)

जो एक ही ब्रह्म को स्वीकार करते हैं उनके विषय में यह है कि एक ही ब्रह्म की प्रतीति करने की स्थिति तब ही आती है जब बुद्धिवाद समाप्त हो जाता है। वह योगी ऐसा अनुभव करने लगता है कि संसार में एक ही ''ब्रह्म'' की चेतना है और यह जगत परिवर्तनशील है।

त्रैतवाद बुद्धि सङ्गत तर्क सङ्गत है। एकवाद और त्रैतवाद में से श्री पूज्य स्वामी दयानन्द सरस्वती महाराज, जो कि त्रेता युग में महर्षि शमीक महाराज के रूप में थे, त्रैतवाद को मानते थे। त्रैतवाद का प्रसार इसलिये अधिक हुआ क्योंकि एकवाद अधूरा था। एकवाद वही प्राणी उच्चारण कर सकता है, जो ब्रह्म के स्वरूप को आत्मा में परिणत कर देता है और वह अनुभव का विषय है, वाणी का नहीं इसलिये मानव एकवाद की घोषणा किसी भी काल में नहीं कर सकता। (अट्ठारहवाँ पुष्प, १३-४-७९ ई.)

अनधिकारियों ने रूढ़िवाद का प्रसार किया

हमें यह निर्णय करना है कि समाज में आत्मा और ब्रह्म की एकता को प्रकट करें या न करें। साधारण योगियों के समाज में इसको व्यक्त करना ठीक है। जैसे महर्षि जमदग्नि, महर्षि पिप्पलाद आदि ऋषियों के आश्रमों में मुक्ति, आत्मा, परमात्मा विषयों के विश्लेषण होते रहते थे। किन्तु जहाँ समाज नाना भोग-विलासों में संलग्न रहता हो वहाँ ब्रह्म-आत्मा की विवेचना करना कहाँ तक उचित है? संसार में जब अधिकारी को अधिकार दिया जाता है, जो वह

समाज ऊँचा बनता हैं। इसके विपरीत जब वही वस्तु अनधिकारी को दी जाती है तो उससे समाज में नाना प्रकार की भ्रान्तियाँ उत्पन्न होकर रूढ़िवाद बन जाता है।

अनुभव यह रहा है कि आत्मा-परमात्मा की एकता को बाह्य समाज और राष्ट्र में व्यक्त करना सुन्दर नहीं माना गया। क्योंकि अधिकार और अनधिकार को जो महापुरुष स्वीकार नहीं करते, उनकी कोई महत्ता संसार में नहीं रहती क्योकि उसकी उड़ान ऊर्ध्व नहीं होती। उड़ान को वही जान सकता है, जो सूर्यमण्डल, बृहस्पति, गन्धर्व लोकों से लेकर पृथ्वी मण्डल तक के प्राणियों की वार्ता को जान लेता है तथा उनके अधिकार को जान लेता है। वह ऊर्ध्वागति को प्राप्त होता रहता है।

अनेक ऋषिगण आत्मा-परमात्मा की एकता को तो स्वीकार करते चले आये हैं तथा इसमें द्वितीय भाव नहीं रहते। परन्तु इसका (एकता का) स्पष्टीकरण सुन्दर ढङ्ग से तथा तर्क-प्रमाण सहित होना आवश्यक है, क्योंकि इससे रूढ़िवाद बना रहता है। रूढ़िवाद भ्रान्ति का कारण बन करके राष्ट्र और समाज के लिये हानिकारक बन जाता है।

ऋषियों के समाज में जैसे जमदग्नि, वृहणकेतु सोमकेतु, पावली, गौतम आदि के समाज में इस विषय पर विचार करना स्वाभाविक है। क्योंकि वे आत्मा के सम्बन्ध में अपने-अपने अनुभवों के विचार देते हैं, जो सुन्दर हैं। इससे अनुभवी पुरुषों के अनुभव में अधूरेपन का निर्णय हो जाये, तथा निर्णय होने के पश्चात् ज्ञान-विज्ञान की धाराएँ प्रारम्भ होती रहें तथा आत्मा की धारा का जन्म होता रहे।

आत्मा को निरवयव स्वीकार करना, ऋषि-मुनियों के मस्तिष्क में रहता रहा है। परन्तु साधारण समाज के लिये त्रैतवाद का विचार भी होता रहा। इस से द्वितीय भाव का मानव में उत्पन्न होना एक स्वाभाविक माना गया है।

महर्षि शृंगी जी महाराज (जो इस जन्म में पूज्य ब्रह्मचारी कृष्णदत्त जी महाराज के रूप में हैं) का पथ महापुरुषों से भिन्न नहीं हैं। महापुरुष आत्मा की सहकारिता बनाकर आत्मा को ब्रह्म के देश में स्थिर कर देते हैं तो उस ब्रह्म के देश में त्रैतवाद का जन्म नहीं होता। वहाँ के प्रकाश में ही मानव की आभा रमण करती रहती है वही आभायित होती रहती है। वहाँ 'मैं' का जन्म न होकर सर्व-व्यापकता का जन्म होता रहता है।

परमात्मा का विषय अनिर्वचनीय है। वह ऐसा प्रकाश है जो नेत्रों से नहीं देखा जा सकता तथा वाणी से उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। जब परमपिता परमात्मा को एकता में परिणत करते हैं तो द्वितीय भाव मस्तिष्क में नहीं रहता। चेतना के आधार पर ही प्रकृतिवाद को भिन्न-भिन्न रूपों में आचार्यों ने परिणत कर दिया। इसमें भी कोई द्वितीय भाव नहीं। (अट्ठारहवाँ पुष्प, १३-४-७२ ई.)

महर्षि शृंगी जी ने गुरुवर पूज्य श्री ब्रह्मा जी से प्रश्न किया, "मैं जानना चाहता हूँ कि आप जड़ और चेतन का और आत्मा तथा परमात्मा का क्या विश्लेषण करेंगे ? मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति का एक मन है। यह कही विश्वभान (समष्टि) बना हुआ है, तो कहीं विशेष (व्यष्टि)। प्रकृति के पदार्थों में, पृथ्वी के गर्भ में भी मन

की धारा प्रतीत होती है। यह सब परमाणुवाद की सत्ता प्रतीत होती है क्योंकि परमाणुओं तथा रसों का विभाजन केवल मन के द्वारा ही होता है। क्योंकि प्राण सञ्चार रूप से रहता है, इस से उनका विभाजन भी होता रहता है। इसी प्रकार आपकी प्रवृत्तियाँ तथा तपा हुआ विचार हिंसक प्राणियों को प्रभावित कर रहा है। क्योंकि मन इनके पास भी है और आपके पास भी। जैसा मन एकता में रहने वाला है इसी प्रकार यह जो चेतना शरीर को चेतनित कर रही है, जिस चेतना से यह शरीर अपना कार्य कर रहा है, क्या आप इस चेतना को एकता में परिणत नहीं स्वीकार करते?

ब्रह्म सर्वव्यापक है

गुरुवर्य ब्रह्मा जी महाराज ने उत्तर दिया हम परमपिता परमात्मा को इन रूपों में स्वीकार नहीं करते, जिन रूपों में साधारण प्राणी करता है। संसार में प्रायः प्राणी कहता है, ''मैं ही ब्रह्म हूँ।'' अपने को ब्रह्म वह उसी काल तक कहता है जब तक वह प्रकृति के आवेश में है। क्योंकि ''मैं'' का जो प्रतिपादन है वह केवल प्रकृति का ही प्रतिपादन है, वह केवल प्रकृति का ही शब्द है। जहाँ ब्रह्म की एकता का प्रश्न आता है वहाँ ''मैं'' का अस्तित्व नहीं रहता। जब मैं नहीं रहता तो इस प्रकार उच्चारण करना नहीं चाहते। क्योंकि वास्तव में जैसा है वैसा तो है ही। जैसे प्रकृति की धारा में मन को स्वीकार करते हैं, इसी प्रकार प्राण की चेतना को ब्रह्म की धारा स्वीकार करते हैं तथा स्वीकार करते हुए हम यह भी स्वीकार करते हैं कि एक ही ब्रह्म है।

ब्रह्म की चेतना प्रकृति को प्रभावित करती रहती है। उसी के प्रकाश तथा चेतना से यह संसार चेतनित रहता है। ब्रह्म ही सर्वत्र व्याप रहा है, ऐसा प्रायः मानव स्वीकार करता है।

एक साधना करने वाला मानव मन और प्राण को और आत्मा तथा परब्रह्म को दो रूपों में स्वीकार करता है। आत्मा का ज्ञान बहुत विशाल है। संसार में विचारक और व्याख्याता केवल प्रकृति और आत्मा की ही विवेचना करते हैं। ब्रह्म की विवेचना प्रायः नहीं आती। इसका कारण यह है कि चेतना की विवेचना आती है और उस चेतना को शरीर में ही स्वीकार कर लेते हैं।

मानव शरीर प्रकृति का रूपान्तर है

महर्षि याज्ञवल्क्य महाराज ने कहा था, ''आत्मा के न रहने पर यह शरीर शव बन जाता है, जड़ बन जाता है।'' इसी प्रकार चेतना के न रहने पर यह प्रकृति भी जड़ बन जाती है तथा शून्यवत् को प्राप्त हो जाती है।

प्रकृति को इस प्रकार शून्यवत् स्वीकार कर लेने पर यह सिद्ध हो जाता है कि मानव शरीर भी प्रकृति का ही रूप है। इसमें कार्य करने वाली चेतना चली गयी। उसके न रहने पर मानव का शरीर शव बन गया, जिसको मृतक भी कहते हैं। वास्तव में इस शरीर का रूपान्तर हो जाता है।

प्रश्न है कि परब्रह्म परमात्मा की प्रतिभा को किस प्रकार स्वीकार करें? इस सम्बन्ध में नाना ऋषियों में विवाद चलता आया है। परन्तु गुरुवर श्री ब्रह्मा जी महाराज का मत यह है कि संसार में एक चेतना

है, उसी के भिन्न-भिन्न रूप हैं, इन रूपों में ही संसार का रूपान्तर होता रहता है तथा उसी की विज्ञानमयी ज्योति बनी रहती है। जिस प्रकार प्रकृति बदलने वाली है, अर्थात् उसका रूपान्तर होने वाला है, उसी प्रकार मानव के विचारों का रूपान्तर होता रहता है क्योंकि विचार धाराओं में रमण करने वाले है। इसलिये धाराओं का रूपान्तर हो जाता है।

चेतना से जिस प्रकार की धाराओं का जन्म होता है, अन्त में उसका वह रूप नहीं रह पाता, क्योंकि वह धारा तो चेतना की थी और प्रकृति के आवेशों में आकर उसका रूपान्तर हो गया। जिस प्रकार रज, तम, सत बनता रहा, उसी प्रकार उसकी धाराओं का रूपान्तर होता रहता है। ऐसा तो आभास होता है, किन्तु मानव को तो उसी मार्ग को अपनाना चाहिये, जिस पर महापुरुष चलते आये हैं। (अट्ठारहवाँ पुष्प, १२-४-७२ ई.)

सशक्त पवित्र आत्म-चेतना से पशुओं का आत्मा भी प्रभावित होता है

महर्षि श्रृंगी जी महाराज ने गुरुवर श्री ब्रह्मा जी महाराज से पूछा, ''मानव शरीर का भोजन करने वाले मृगराज आपके चरणों को क्यों छूते हैं?''

गुरुवर श्री ब्रह्मा जी महाराज ने कहा, ''यह मन की पवित्रता है।''

प्रश्न : क्या मन का अपना कोई अस्तित्व है?

उत्तर : मन का अपना कोई अस्तित्व नहीं (क्योंकि मन जड़ है, प्रकृति का रूपान्तर है)।

जब मन का अपना अस्तित्व नहीं तो विचार आता है कि आत्मा-आत्मा से प्रभावित हेता है। इससे यह प्रतीत होता है कि ब्रह्म की चेतना की जो धारा है उस स्रोत का प्रतिभास ही उन्हें आभासित कर रहा है तथा उस मार्ग के लिये पुकार रहा है। क्योंकि आभा में वह जो चेतना है, उसमे ज्ञान तो स्वाभविक रहता है। ज्ञान स्वाभविक रहने से उनका स्वाभाव प्रायः बना ही रहता है।

इससे निष्कर्ष यह निकला कि संसार में मानवीय प्रतिभा से जो नाना प्रकार कृत्य, स्वगत विचार तथा मन की भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती रहती हैं, उन्हीं में चित्त की आभासता और चित्त में ब्रह्म की एक महान् अवृत्त चेतना का भास होता है। उसी भास से यह जगत आभासित होता है।

"मैं ब्रह्म हूँ", मानव को यह कहने का अधिकार नहीं

प्रश्न : साधारण अवस्था में मानव उच्चारण कर देता है कि मैं ब्रह्म हूँ। इसका क्या अभिप्राय है?

उत्तर : इसका अधिकार मानव को नहीं होता क्योंकि वह तो प्रकृति का भास है और प्रकृति का भास मानव को ध्रुव-गति (नीचे की गति) को ले जाता है, ऊर्ध्वगति को नहीं। उसे हमें स्वीकार नहीं करना चाहिये।

प्रश्न : इस प्रकार के वाक्य अंगिरा आदि महापुरुषों ने प्रकट क्यों नहीं किए?

उत्तर : इसका कारण यह है कि उनके मस्तिष्क में भिन्नता रहती है। वह भिन्नता मानवीय मस्तिष्को में परम्परा से रहती है। जहाँ

मानवता का प्रश्न आता है, वह केवल एक विचारधारा की ही मानवता बनी रहती है। मानवता का स्रोत उसी काल में चला करता है जब भिन्नता रहती है। यदि भिन्नता नहीं तो मानवता का भी संसार में प्रश्न उत्पन्न नहीं होता। तब यह निश्चय किया गया कि वास्तव में ब्रह्म की ही चेतना है। जड़ और चेतना दोनों एकता में ही रमण करने वाले हैं। आचार्यों, महापुरुषों, महर्षि शाण्डिल्य, महर्षि शोकृति तथा महर्षि दधीचि ने अश्विनी कुमारों को कहा था कि संसार में ब्रह्म को स्वीकार करना चाहिये। उसको स्वीकार करते हुए अपने चित्त में उसकी एकता का तारतम्य हमारे हृदयों में होना चाहिये। तब हृदय में ही सर्वजगत प्रतिष्ठित हो जाता है।

देवी चाक्राणी गार्गी ने महर्षि याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया :.

प्रश्न : महाराज ! इस संसार की प्रतिष्ठा क्या है?

महर्षि याज्ञवल्क्य महाराज ने एक दूसरे की प्रतिष्ठा से संसार का मिलान करते हुए अन्त में कहा :.

उत्तर : मानव के हृदय में यह सर्वजगत प्रतिष्ठित रहता है। ज्यों ही हृदय में संसार की प्रतिष्ठा स्वीकार की, उसी समय संकल्प-प्रतिभा, श्रद्धा, जगत की रचना, यज्ञ आदि सबकी प्रतिष्ठा मानव के हृदय में स्वीकार कर ली जाती है। फिर हृदय का मिलन तथा एकता ब्रह्म में स्वीकार की तो उस समय यह प्रतीत हो गया कि ब्रह्म ही एक ऐसा है, जिसकी चेतना से सर्व-संसार चेतनित प्रतीत होने लगता है।

निष्कर्ष यह है कि उस ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करें। इसको

स्वीकार करते हुए उसी की कृतियों में नाना रूपों में संसार को दृष्टिपात करते रहते हैं तथा केवल प्रकृति के आवेशों के कारण ही संसार को अनेक रूपों में स्वीकार करते हैं।

हम ब्रह्म और आत्मा की एकता को किस रूप में स्वीकार करें? सबके मस्तिष्क में यह प्रश्न रहता है।

चेतना तथा शक्ति का मूल परब्रह्म ही है

इसका उत्तर यह है कि आत्मा की, जीव की तथा ब्रह्म की तीन सञ्ज्ञाएँ बनती हैं। साधारण अवस्था में मानव शरीर में रहने वाला आत्मा या जीवन "जीव" की सञ्ज्ञा में जाना जाता है।

जब उसको अधिक तृष्णा होती है तो देवासुर सङ्ग्राम होने लगता है। इस देवासुर सङ्ग्राम के समाप्त होने पर असुर समाप्त हो जाते हैं। उस समय आत्मा की प्रतिभा स्वीकार करते हैं।

जब आत्मा के नाना प्रकार के आवेश समाप्त हो जाने के पश्चात् प्रकृति के मूल कारण पर चले जाते हैं, तो मन, बुद्धि, चित्त अहंकार की अवस्था में जब परिणत हो जाते हैं तो उस समय उसकी कृतियों में उसी को भासने लगते हैं। भासते हुए चित्त में उस प्रकार की प्रतीति होने लगती है। जब चित्त की सञ्ज्ञा भी समाप्त हो जाती है, तो उसको मुक्ति की अवस्था कहा जाता है।

परमात्मा निरवयव, स्वकृति, अनादि और स्वयम्भू ब्रह्म माना गया है। इसी प्रकार यह आत्मा ब्रह्म की ही एक प्रतिभा है। जैसे संसार में पिता और पुत्र की सञ्ज्ञा है।

आत्म समर्पण से अहंम्भाव का नाश

संसार में आत्मा के ऊपर विचार करने पर चेतना में ही संसार स्वीकार होता रहता है। हम परब्रह्म परमात्मा की उपासना करते हुए एक महान् अध्ययन करते चले जायें। अपनी आत्मा को तथा अपने को उस परब्रह्म के समर्पित करते रहें। समर्पित करने से नम्रता और महत्ता हमारे जीवन में उत्पन्न हो जाती है और हम अपने को उस प्रभु को समर्पित कर देते हैं, तो अहम् भाव उत्पन्न नहीं होता। जहाँ अहम् भाव उत्पन्न नहीं होता वहाँ चेतना में चेतना भासने लगती है। अतः हम परमात्मा की उपासना करते हुए सार्थक बनते रहें तथा प्रत्येक विषयों पर अपना अध्ययन चालू रखें।

परब्रह्म का वेद-ज्ञान अनन्त है

महर्षि सोमभानु जी महाराज का कथन है यदि प्रभु के राष्ट्र में हमारी सहस्रों वर्षों की अवस्था हो और हम वैदिक साहित्य का अध्ययन करते रहें, तो भी यह अवस्था सूक्ष्म ही मानी जाती है। इसका कारण यह है कि प्रभु का ज्ञान तथा विज्ञान अनन्त है। आत्मा-परमात्मा का विषय इतना गम्भीर है कि मुक्ति तक इसका अध्ययन करते रहो। अन्त में भिन्नता ही अभिन्नता के रूप में मानव को प्रतीत होने लगती है। किन्तु उस विषय को मानव वाणी से वर्णन नहीं कर सकता। इसका प्रतिपादन वेदों और दर्शनों ने नेति-नेति कह कर दिया है। ''ब्रह्म व्यापक है'' ऐसा प्रायः मानव स्वीकार करता है।

यह संसार दृष्टिपात आ ही रहा है। इस सम्बन्ध में भी मानव की भिन्न-भिन्न प्रकार की विचार-धाराएँ चलती रहती हैं। जब तक हम चेतना से अपनी चेतना का परिचय नहीं करा देते, तब तक संसार में

बने हुए पदार्थो तथा वस्तुओं से प्रमाण देते हैं। इसके आधार पर टिप्पणियाँ देकर तर्क करते रहते हैं, क्योंकि प्रत्येक वस्तु बनी हुई है तथा बनी हुई वस्तुओं से बने हुए पदार्थों पर प्रमाण दिये जाते हैं। परन्तु आत्मा और परमात्मा का विषय गम्भीर है। जब तक आत्मा का परमात्मा से परिचय नहीं हो जाता, तब तक मानव में नाना प्रकार की भ्रान्तियाँ बनी रहती हैं।

परब्रह्म के साक्षात्कार के लिये मन-प्राण का मिलान अनिवार्य है

गुरुवर ब्रह्मा जी महाराज विचार देते-देते मौन हो जाते हैं और कहते हैं। "इसको जानने के लिये मन और प्राण का मिलान करो। उस आनन्द को प्राप्त करो जिसे तुम्हें पाना है। उसको प्राप्त करने के पश्चात् वह आनन्द वाणी का विषय नहीं रह जाता। वह ब्रह्म इन्द्रियो का विषय नहीं है।"

इसलिये उस आनन्द को प्राप्त करने के लिये, हम अपने में अनुभव करते रहते हैं। चित्त, मन इत्यादियों का प्रमाण देना हमारे लिये सहज हो जाता है। क्योंकि हमारी वाणी का उद्गार अग्नि का सहयोग तथा सहकारिता से उत्पन्न होता है। अग्नि ही इसका वाहन रहता है। इसी कारण प्रायः इसका प्रतिबिम्ब चला करता है।

प्रभु चेतना से जीव चेतना का मिलान ही जीवन, महत्ता और यौगिकता है

आत्मा-परमात्मा का गहन विषय है। एकता अनेकता में इसको देखना, ऐसा विषय है कि इसको विचारते रहो, अध्ययन करते रहो और अपने जीवन को महत्ता पर ले जाते रहो परन्तु इसको प्रभु में

समर्पित करके उसकी चेतना में चेतना का मिलान करने का प्रयास करते रहो और प्रभु के आनन्द को प्राप्त करते रहो। वही हमारा जीवन है, वही हमारी महत्ता है तथा हमारी यौगिकता है।

जिन महापुरुषों और ब्रह्म वेत्ताओं का विचार तपा हुआ होता है, उनके विचारों में इतनी विद्युत् हो जाती है कि उसका प्रकाश अत्यधिक सूक्ष्मता वाला हो जाता है।

ज्ञान प्रत्येक प्राणी में रहता है। वह पक्षी गणों के अन्तर्हृदय में भी जो हृदय है, उसको भी चेतना देने वाला है। इसलिये हमें अनुपम प्रकाश में जाने के लिये प्रकाशित होना चाहिये। यही हमारा जीवन है। (अट्ठारहवाँ पुष्प, १२-४-७२ ई.)

मान-अपमान को त्यागकर प्रभु दर्शन कर

यह जो परमात्मा का जगत है, इसमें एक-एक कण में परमात्मा की सर्व सृष्टि का चित्रण हो रहा है। जब हम यह विचारते हैं कि प्रत्येक अणुमात्र में, परमाणुमात्र में मानव की निधि विराजमान रहती है, इसी प्रकार एक-एक अणु में सर्व ब्रह्माण्ड की आभा दृष्टिपात आने लगती है। (सत्ताईसवाँ पुष्प, २-३-७६ ई.)

ऋषि-मुनि उस परमात्मा की सृष्टि पर विचार करते करते अन्त में मौन होकर यही कहते हैं कि बहुत से शब्द मानव बुद्धि से दूर के हैं। आत्मा-परमात्मा प्रकृति-मानव में सब क्या है? इन पर विचार प्रकट करता हुआ जब मौलिकता पर पहुँचता है, तो उसका विराट रूप हमारे समक्ष आने पर मौन हो जाना पड़ता है। यदि माता को यह ज्ञान हो जाये कि तेरे गर्भस्थल में बालक का निर्माण किसने कर

दिया तो परमात्मा उसके कितने निकट हो जाता है।

यदि मानव मान-अपमान को त्याग कर प्रभु का दर्शन करता है तो परमात्मा उसके निकट हो जाता है। (आठवाँ पुष्प, ६-१२-६६ ई.)

सृष्टि का उपभोक्ता आत्मा

दैत्य कौन है?

जिनकी न दान में, न कर्म में, न योग में प्रवृत्ति और न आत्मा में निष्ठा होती है वे इस शरीर को ही आत्मा स्वीकार कर लेते हैं। वे केवल दैत्य प्रकृति के होते हैं।

यह आत्मा वह है, जिसके मानव शरीर से निकलने के पश्चात् वह शरीर शून्य हो जाता है। आत्मा ही इस शरीर का केन्द्र है। आत्मा से धाराएँ चलकर चित्त से सङ्घात करती हैं, और चित्त से मानव का शरीर क्रियाशील बनता चला जाता है। (नौवाँ पुष्प, १८-७-६७ ई.)

आत्मलोक

सोमकेतु भारद्वाज मुनि महाराज ने अपने आसन को त्याग दिया और कहा, "आओ, ब्रह्मवेत्ताओ ! विराजो।" ब्रह्मवेत्ता विद्यमान हो गये तो सोमकेतु भारद्वाज मुनि बोले, महाराज ! यह मेरा कैसा सौभाग्य है, आज मेरे यहाँ बह्मवेत्ताओं का समूह आ पहुँचा है। कोई सूचना नहीं, मुझे प्रतीत नहीं था कि ब्रह्मवेत्ताओं का आसन तेरे आश्रम पर आ पहुँचेगा, यह मेरा कैसा सौभाग्य है। मैं कितना सौभाग्यशाली हूँ, जिस आसन पर ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्म का चिन्तन करने वाले पुरुष रहते हों अथवा पुरुषों का आगमन होता है, वह कितना

सौभाग्यशाली है। जब यह वाक्य उन्होंने श्रवण किया तो ऋषि बोले कोई वाक्य नहीं ऋषिवर ! आप तो ब्रह्मवेत्ता हैं, आपने तो सोम का पान किया है, हम सोम की जिज्ञासा में हैं, हम जिज्ञासु हैं। आपने उस वस्तु को प्राप्त कर लिया है। उन्होंने कहा, प्रभु ! बिना कारण के आपका आगमन नहीं हो सकता। आपके कारण को मैं जानना चाहता हूँ। सब ऋषियों ने एक स्वर में कहा, हे ऋषिवर ! आज हम कुछ वेदों का अध्ययन कर रहे थे और उसमें आत्म-लोक की चर्चा आ रही थी। प्रभु! हम आत्म-लोक को जानना चाहते हैं कि आत्म-लोक क्या है? उन्होंने कहा, तुम आत्मा के सम्बन्ध में कितना जानते हो? सोमकेतु भारद्वाज ने जब यह कहा तो ऋषियों ने कहा कि महाराज ! हमने अब तक यही जाना है कि आत्म-तत्त्व हमारे शरीर में वास करता है। परन्तु हम यह नहीं जानते कि आत्म-लोक क्या है? हम आत्म-लोक को जानना चाहते हैं। तो भारद्वाज मुनि महाराज ने कहा, यह तो तुम जानते हो, ''लोक उसे कहते हैं जहाँ किसी का वास हो।'' लोक का अभिप्राय इतना ही है कि आत्म-लोक अर्थात् आत्मा एक लोक में रहता है और वह आत्मा का लोक क्या है? आत्मा का लोक यह एक शरीर कहलाता है। इस शरीर में आत्मा वास करता है तो यह शरीर आत्मा का लोक कहलाता है। अब तुम यह जानना चाहोगे कि आत्मा एक लोक है जो इस शरीर में वास करने वाला है। देखो, शरीर एक लोक कहलाता है। विचार यह आता है कि जैसे मानव एक दर्पण में अपने को दृष्टिपात करता है इसी प्रकार दर्पण की भाँति इस मानव शरीर में यह आत्मा वास करता है। इसीलिये

हमारे आचार्यों ने सबसे प्रथम आत्मा को जानने के लिये यह कहा है कि हे मानव ! यदि तू अग्रणी बनना चाहता है तो अपने को जानना ही तेरा कर्त्तव्य है। क्योंकि तेरी अन्तरात्मा में, तेरी अन्तर्हृदय रूपी गुफा में यह आत्मा, आत्म-चेतना वास करती है और आत्म-चेतना जिसके कारण यह मानव शरीर चेतनित बना रहता है, यह आत्मा का एक लोक है। इस आत्मा को जानना तेरा कर्त्तव्य है। (चौबीसवाँ पुष्प, २-७-७८ ई.)

आत्मलोक व याग

एक समय महर्षि सोमकेतु के द्वार ब्रह्मचारी कवन्धि पहुँचे और कहा कि महाराज ! क्या कर रहे हो? उस समय सोमकेतु को अनुसन्धान करते हुए बारह वर्ष हो गये थे और वह एक विषय पर अनुसन्धान कर रहे थे कि हमारे इस मानव शरीर में जो चित्त है, जिसमें बाल्य से युवा काल तक के यन्त्र रूप में संस्कार विद्यमान हैं जिन्हें हम संस्कार कहते हैं अथवा मानव को ध्यानावस्थित होते ही मानव के चित्र समीप आ जाते हैं वह मानव हो या न हो तो उन चित्रों का वह चित्रण कर रहे थे। सोमकेतु ने कहा हे, ब्रह्मचारी कवन्धि ! हम अपने जन्म-जन्मान्तरों के चित्रों पर अनुसन्धान कर रहे हैं। जैसे मानव के शरीर के चित्र होते रहते हैं हम स्वप्नावस्था को प्राप्त होते रहते हैं परन्तु उनमें चित्र आते रहते हैं उन चित्रों का मैं चित्रण करना चाहता हूँ अथवा उनको दृष्टिपात करना चाहता हूँ। जब उन्होंने ऐसा कहा तो ब्रह्मचारी कवन्धि भी उसी कार्य में रत हो गये और वह अनुसन्धान करने लगे। विचार करते-करते उन्हें बारह वर्ष

तक अनुसन्धान और याग करते हो गये। यागों के द्वारा वह चित्रों को अपने में धारणा और प्रवेश स्थित कर रहे थे। उसी के द्वारा वह अपनी आभी को प्राप्त हो रहे थे। विचार-विनिमय क्या? कि हमारे ऋषि-मुनि परम्परागतों से अनुसन्धान करते रहें हैं और यागों के ऊपर उनका विशेष आधिपत्य रहा है। याग मानव का जीवन है। महर्षि सोमकेतु ने तो यहाँ तक कहा है कि ऋषियों को योग में ले जाने वाला याग है। याग कहते हैं देवताओं को प्रसन्न करना। देवता प्रसन्न कैसे होते हैं? हमारे इस मानव के शरीर में पंचमहाभूत विद्यमान हैं और वह हमारे देवता कहलाते हैं परन्तु पंचमहाभूतों का शोधन करना केवल सुगन्ध के द्वारा हो सकता है। वह याग के द्वारा हो सकता है। वह देवता जब मानव से प्रसन्न हो जाते हैं तो मानव देवता बन जाता है। आत्मा का लोक पवित्र बन जाता है। जब आत्मा का लोक पवित्र बन जाता है तो मानव योग की अवस्था में प्राप्त होने लगता है। योग को प्राप्त करने लगता है। योग सिद्ध आत्मा हो जाती है। योग को अपने में सिद्ध कर लेता है। (चालीसवाँ पुष्प, २८-९-८१ ई.)

आत्मतत्त्व तथा याग

याज्ञवल्क्य मुनि महाराज ने आत्मा के सम्बन्ध में अपना वाक्य प्रकट किया, अपना मन्तव्य उन्होंने प्रकट किया है, वह उनका तथ्य है, उसको कोई भी मानव मिथ्या में ला नहीं सकता क्योंकि वह अपने में पूर्ण है। आत्मतत्त्व अपने में पूर्ण रहता है। उसको कोई मानव यह नही कह सकता, उसको मिथ्यावाद में ले जा नहीं सकता। मेरे प्यारे! वह अपने में पूर्ण है, इसलिये आत्मा को जानने

का मानव को प्रयास करना चाहिये, क्योंकि आत्मा को पूर्णत्व में वह प्राणी जानता है जो ज्ञानी है, वैज्ञानिक है, उसमें विवेक है। विवेकी बन करके, निरभिमानी बन करके परमात्मा की याद में यह मानव चला जाता है। विचार-विनिमय क्या? मेरे पुत्रे ! मैं विशेषता में तुम्हें ले जाना नहीं चाहता हूँ। आज का हमारा वेदमन्त्र क्या कह रहा था? वेद का आचार्य कहता है कि याज्ञिक बनना चाहिये क्योंकि यहाँ प्रत्येक स्वरूपों मे याग हो रहा है। मेरे प्यारे ! मुझे स्मरण है, एक समय दार्शनिक व्यक्तियों का समाज एकत्रित हुआ। उन दार्शनिकों ने यह विचारा कि संसार क्या है? इस संसार के सम्बन्ध में विचारक, दार्शनिक अपनी उड़ान उड़ने लगे। उन्हांने सबसे प्रथम यह प्रश्न किया कि संसार क्या है? तो वेद के आचार्यों ने कहा, दार्शनिकों ने कहा कि संसार एक कल्पवृक्ष है, यहाँ मानव जैसी कल्पना करता है वैसा ही बन जाता है। द्वितीय ने कहा कि यह संसार एक प्रकार की विचारशाला है, यहाँ प्रत्येक मानव विचार-विनिमय करने के लिये आता है। तीसरे दार्शनिक ने कहा नहीं, यह संसार एक प्रकार की विज्ञानशाला है, यहाँ प्रत्येक मानव वैज्ञानिक बनने के लिये आया है, विज्ञान की उड़ान उड़ता रहता है, परन्तु चतुर्थ ने कहा, नहीं, यह संसार एक मृतमण्डल है, यहाँ संसार में मृत्यु को विजय करने के लिये आता है परन्तु उसके पश्चात् दार्शनिक ने कहा कि यह जो संसार मुझे दृष्टिपात आ रहा है, नाना तरंगों वाला, नाना रूपों में यह जो दृष्टिपात आ रहा है, यह संसार ऐसा प्रतीत होता है जैसे एक प्रकार की यज्ञशाला है, यहाँ प्रत्येक मानव याज्ञिक बनने के लिये

आया है, याग कर्म करने के लिये आया है। प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य है कि वह याज्ञिक बने। वेद का मन्त्र कहता है ''यागाम् ब्रह्मः सूर्य प्रवेः'' वेद का आचार्य कहता है सूर्य कैसा प्रिय याग कर रहा है? चन्द्रमा कैसा सुन्दर याग कर रहा है? मेरी प्यारी माता कितना सुन्दर याग कर रही है? यह संसार सब यज्ञशाला में विद्यमान है और विद्यमान हो करके सर्वत्र याग हो रहा है। मेरे प्यारे ! जैसे मानव का सुगन्धि देना कर्त्तव्य है। मेरी प्यारी माता याग कर रही है। वह याज्ञिक बनी है। कैसा याग कर रही है? ऋषि-मुनि कहते हैं माता जब पुत्र याग करती है तो अपने में याज्ञिक बन जाती है। (चालीसवाँ पुष्प, २१-१०-८२ ई.)

प्रभु से मिलने का मार्ग

यह जो आत्मा है यह ज्ञान स्वरूप हैं। सुषुप्ति अवस्था में, स्वप्नावस्था में या जागृत अवस्था में जो बाह्य जगत की प्रवृत्तियाँ दृष्टिपात करते हो उनको समेटकर मन में स्थिर कर दो, मन को बुद्धि में स्थिर कर दो और बुद्धि को अन्तःकरण में स्थिर कर दो। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का नाम अन्तःकरण चतुष्टय है। इन सबकी एक धारा बन जाती है। जब सब प्रवृत्तियाँ चित्त में लय हो जाती हैं तो इस एकत्रित सामग्री को ज्ञान रूपी अग्नि में आहुति देना है, यह आहुति देकर प्रभु से मिलान करता है। (ग्यारहवाँ पुष्प, २०-१०-६८ ई.)

आत्मा अणु है या विभु?

महर्षि वायु महाराज ने इसे अणु रूप में माना है। महर्षि

आदित्य और महर्षि अंगिरा महाराज ने विभु माना है। महर्षि पिप्पलाद इसे सन्निधानमात्र से माना है तथा उसे और की कृति में स्वीकार किया है।

महर्षि भारद्वाज जी महाराज ने अणु-विज्ञान का वर्णन करते हुए कहा है कि आत्मा को अणु अथवा विभु माना जाये। महर्षि शाण्डिल्य जी महाराज तथा महर्षि मुद्गल जी महाराज के विचार महर्षि वायु जी महाराज के समान है। महर्षि आदित्य जी महाराज तथा महर्षि दधीचि जी महाराज ने आत्मा को विभु माना है।

महर्षि अंगिरा जी महाराज ने महर्षि आदित्य जी महाराज से आत्मा के स्वरूप के विषय में पूछा। महर्षि आदित्य जी महाराज ने महर्षि वायु जी महाराज से पूछा। दोनों महापुरुषों का विचार एक मास तक चलने के पश्चात् महर्षि आदित्य जी महाराज ने कहा ''आत्मा इतना सूक्ष्म है कि जिसको नेत्रों से नहीं देखा जा सकता। भौतिक विज्ञानवेत्ता कितना भी सूक्ष्मदर्शी यन्त्र बनाये किन्तु वह इसे नहीं देख सकता। वह इतना सूक्ष्म है कि केश के अगले गोल भाग के ६० भाग किये, फिर एक भाग के ९९ भाग हो, फिर ९९ भाग के ६० भाग किये जाये, तथा ६० वें भाग के ९९ भाग किये जायें तो उनमें से एक भाग के बराबर आत्मा होता है

योगी ही दृष्टिपात कर सकते हैं।

जो मानव आत्मा के रूपान्तर को दार्शनिक रूपों में स्वीकार नहीं करते उनका सिद्धान्त पंग्गु होता है, जैसे कपिल तथा गृहणी ऋषि के सिद्धान्त थे कि जो कुछ है वह प्रकृति ही है वे नास्तिक थे। किन्तु

जब उनसें विचार विनिमय किया गया तो उनको भी यह आत्मा का रूपान्तर स्वीकार करना पड़ा।

आत्मा कभी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता। यह नाना प्रकार की योनियों में कर्मों के तथा संस्कारों के अनुकूल भ्रमण करता रहता है। (चौदहवाँ पुष्प, २७-३-७० ई.)

आत्मा के लिये विभु तथा अणु दोनों ही होने का व्यापकता से वर्णन किया गया है। जैसे परमात्मा के सन्निधान मात्र से यह प्रकृति क्रियाशील हो रही है, प्रकृति का स्वभाव स्वयम् ही उमड़ आता है, इसी प्र्कार मानव-शरीर में चैतन्य ब्रह्म है। प्रकृति के समूह बने हुए हैं वे आत्मा के सन्निधान मात्र से ही क्रियाशील हो जाते हैं।

कहीं आत्मा को केवल अणु माना गया है, तथा कहीं अणु और विभु दोनों। जैसे परमात्मा विभु है, उसके सन्निधान मात्र से ही प्रकृति में क्रिया उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार आत्मा की क्रिया इस शरीर में ओत प्रोत हो जाती है। उसके बिना इसका स्वभाव उत्पन्न नहीं होता। इसलिये आत्मा को अणु और विभु दोनों माना गया है।

यदि हम आत्मा को अणु स्वीकार करते हैं, तो एक योगी का आत्मा सर्वलोकों की यात्रा नहीं कर पाता जबकि भौतिक वैज्ञानिक अपने यन्त्रों से ऐसा करने में सफल हो जाता है। किन्तु एक योगी जब हृदय और आकाश (मस्तिष्क) में एक चित्त हो जाता है तो आत्मा का हृदय तथा ब्रह्म का हृदय, जिसे प्रकृति का आन्तरिक हृदय भी कहते हैं दोनों एक समान हो जाते हैं तब यह आत्मा लोक-लोकान्तरों की यात्रा करने लगता है। उस समय प्रकृति के क्षेत्र को

जानते हुए इसकी गति महत्ता में परिणत हो जाती है।

अतः प्रश्न यह आ जाता है कि यदि आत्मा को अणु माना जाये तो उसमें यह गति कैसे आ सकती है? अतः यदि हम ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनों के समान होने की कल्पना करते हैं, तो आत्मा को विभु स्वीकार करना होगा। यह शरीर पंच महाभूतों का है। प्रकृति भी पंच महाभूतों से क्रियाशील हो रही है। अतः यदि परमात्मा को अणु मानें तो आत्मा को भी अणु मानना अनिवार्य है।

भौतिक क्षेत्र में जाने पर यह आता है कि यह आत्मा हृदय, स्वानाम, कण्ठ, घ्राण, त्रिवेणी आदि चक्रों को पार करता हुआ ब्रह्मरन्ध्र में चला जाता है, जिसे लघु मस्तिष्क भी कहते हैं। इस लघुमस्तिष्क में सूक्ष्म-सूक्ष्म तरंगें होती हैं, वाहक नाड़ियाँ होती हैं, जिनका सम्बन्ध लोक-लोकान्तरों से होता है।

इस मान्यता को लेकर चलने से फिर वही प्रश्न आता है कि आत्मा अणु है या विभु। अणु में जो अणुता रहती है। अणु की शक्ति को कितना स्वीकार किया जाये इसका भी माप नहीं हो सकता। इसी प्रकार आत्मा के कृत्य तथा प्रवाह का भी माप नहीं हो सकता। अतः आगे यह प्रश्न अनुभव का रह जाता है, वाणी का नहीं।

अतः आत्मा को अणु और विभु दोनों हीं स्वीकार करते है। शरीर में रहने के कारण इसको विभु माना गया है तथा जब यह अकेला रह जाता है तो अणु रूप में माना जाता है।

एक बार महर्षि कृतक मुनि जी महाराज के आश्रम में ऋषि, चाक्राणी गार्गी देवी जी, महर्षि भारद्वाज जी महाराज, महर्षि दिग्ध

जी महाराज आदि ऋषियों की सभा में यह प्रश्न आया था कि आत्मा विभु है या अणु। यदि इस संसार में विराट रूप से मानव शरीर की कल्पना करते हैं तो आत्मा को भी ब्रह्म की भाँति विभु मानना होगा। जब पंचभौतिक पिण्ड और ब्रह्माण्ड की कल्पना करते हैं तो दोनों आत्मा-परमात्मा की एकता मानना होगा। इसमें यह दोष माना जा सकता है कि आत्मा-परमात्मा की एकता मानी जा सकती है। यहाँ भी हमें आत्मा और परमात्मा को एक ही रूप में स्वीकार करने में सङ्कोच नहीं होना चाहिये क्योंकि शरीर में प्रकृति के क्षेत्र में दोनों का समावेश होता है, वहाँ दोनो ंमें सूक्ष्म-सूक्ष्म अन्तर्द्वन्द्व रहता है। जब यह आत्मा मोक्ष के द्वार पर जाता है तो यह प्रभु की चेतना से चेतनित हो जाता है तथा यह ब्रह्म बन जाता है किन्तु परब्रह्म नहीं बनता।

वास्तव में आत्मा विभु ही है। यदि आत्मा का विज्ञान बुद्धि से परे न होता तो इसे अणु स्वीकार कर लेते। आत्मा के विज्ञान को बुद्धि के परे माना गया है। जहाँ बुद्धि से परम अकृत माना गया है तथा ब्रह्म के क्षेत्र में चेतनवत् दोनों माना गया है, वहाँ अकृत होता रहता है।

यहाँ एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि आत्मा विभु है तो वह इस शरीर से जाने के पश्चात् परमात्मा की भाँति संसार को क्यों नहीं जानता?

इसका उत्तर यह है कि आत्मा विभु तो है किन्तु इसमें अल्पज्ञता है। यदि अल्पज्ञता न रहती तो यह परमात्मा के क्षेत्र में भी नहीं जा

सकता था। यह आत्मा अल्पज्ञ होने से प्रकृति के आवेशों में आता रहता है इसीलिये नहीं जानता।

आत्मा (जीवात्मा) एक शरीर में आने के पश्चात् दूसरे मानव के भावों को क्यों नहीं जानता?

इस प्रश्न कर उत्तर साङ्ख्य दर्शन का आचार्य इस प्रकार देता है कि आत्मा में मनोविज्ञान अपने संस्कारों के प्रारब्ध (विपाक) से जकड़ा हुआ है।

संस्कारों का ही यह जगत है, संस्कारों से ही आवागमन की प्रक्रिया होती है। जब तक आत्मा में आवागमन की प्रक्रिया होती है, तब तक वह एक-दूसरे के मन की प्रतिभा को नहीं जान पाता।

वास्तव में दूसरे के मनों को योगी जानता है। अन्तरिक्ष में रमण करने वाले शब्दों को भी योगी अपने में धारण कर लेता है।

साङ्ख्य दर्शन ने कही आत्मा को अणु स्वीकार किया है, कही विभु, हमें इसे विभु ही स्वीकार कर लेना चाहिये क्योंकि उसमें उतना ही ज्ञान विज्ञान है, किन्तु अल्पज्ञता अवश्य है। (सत्रहवाँ पुष्प, १७-१२-६९ ई.)

आत्मा का महत्त्व

मानव को सर्वप्रथम अपने आत्मा को जानने का प्रयास करना चाहिये, जो आत्मा हमारे शरीर में प्रकाश स्वरूप है, जिसके निकल जाने पर हमारा शरीर शून्य हो जाता है, निष्क्रिय बन जाता है। मानव शरीर का मूल्य उसी समय तक है जब तक इस शरीर में यह आत्मा है। (आठवाँ पुष्प, ७-१०-६४ ई.)

प्रकाश तभी तक मिलता रहेगा जब तक प्रकाश देने वाले पदार्थ के साथ प्रकाशदाता है। प्रकाशदाता आत्मा जब तक अन्तःकरण के साथ है, तभी तक अन्तःकरण में संस्कार हैं अर्थात् सि।ञ्चत होकर वर्तमान रहते हैं। आत्मा के सहयोग तक ही हमारे प्राण और चक्षु आदि भी कार्य कर रहे हैं। जब प्रकाश वाला आत्मा हमारे शरीर से अलग हो जायेगा, उस समय ये सब ही निकम्मे हो जायेंगे। (दूसरा पुष्प, ३-४-६२ ई.)

आत्मा के गुण

आत्मा के विशेष गुण हैं, ज्ञान और प्रयत्न। आत्मा में ये दोनों गुण 'ब्रह्म' बनने पर भी रहते हैं। ज्ञान से वह प्रभु को जान लेता है तथा प्रयत्न से प्रभु में रमण करता हुआ आनन्द ही आनन्द भोगता रहता है। (दूसरा पुष्प, ३-४-६२ ई.)

आत्मा की दो महान् सत्ताएँ स्वाभाविक हैं ज्ञान और प्रयत्न। इन सत्ताओं को हम इस प्रकार मान लें कि वे कहीं से आती हैं। हमें उस सत्ता को जगाने के लियें इस महान् स्थूल प्रकृति में आकर किसी से यह ज्ञान लेना पड़ता है, किसी से उसके लिये प्रार्थना करनी पड़ती है। जिससे इस आत्मा का ज्ञान होता है तथा यह अज्ञानान्धकार से पृथक होता है। (दूसरा पुष्प, ३-७-६२ ई.)

आत्मा के कर्म

जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है किन्तु भोगों में परतन्त्र है। स्वतन्त्र होकर ही वह नयी सृष्टि रचता है, जिसमें मिथ्या भी होता है। जैसे विभिन्न प्रकार के नाते रिश्ते स्थापित कर लेता है। वास्तव में ये रिश्ते

आत्मा के नहीं हैं। (दसवाँ पुष्प, २६-७-६३ ई.)

कहा जाता है कि आत्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है किन्तु यहाँ परतन्त्रता भी मानी जाती है। जब प्रश्न आता है कि कर्म कितना ही किया जा सकता है कितना ही स्थूल किया जा सकता है, महत्ता वाला किया जा सकता है। उसी से जीवन में महत्ता की अद्भुतता उत्पन्न होने लगती है। (बारहवाँ पुष्प, १६-१२-६९ ई.)

आत्मा का स्वभाव

इस आत्मा के पास जब प्रकृति के गुण अधिक आ जाते हैं तो उस समय उसमें नाना विकृतियाँ आ जाती हैं।

जब इसमें परमात्मा के गुण आ जाते हैं तो अग्नि (ज्ञान की) प्रचण्ड हो जाती है। उस समय शान्ति का प्रदर्शन बन जाता है। (आठवाँ पुष्प, ६-११-६२ ई.)

आत्माओं की गणना

आत्माओं की संसार में कोई गणना नहीं कर सकता। जैसे परमात्मा की सृष्टि अनन्त है, प्रकृति अनन्त है, पूर्ण है, ऐसे ही परमात्मा भी पूर्ण है। परमात्मा और प्रकृति के मध्य रहने वाली आत्माओं की गणना अनन्त है। (पाँचवाँ पुष्प, १८-८-६२ ई.)

आत्माएँ अनन्त हैं। योगी किसी भी लोक की गणना कर सकता है, किन्तु आत्माओं की गणना नहीं कर सकता क्योंकि वह अल्पज्ञ है। जब यह आत्मा प्रभु के गर्भ में पहुँचकर गणना को जान जाता है तो यह भी मौन हो जाता है और परमात्मा के आनन्द से उसके गर्भ में समाहित हो जाता है। इससे पूर्व उसे ज्ञान नहीं होता कि आत्माएँ

कितनी हैं।

यदि यह आत्मा अल्पज्ञ न होता तो यह सीमा में बद्ध नहीं हो सकता था। परमात्मा सब में रमण करता हुआ भी पृथक है। आत्मा शरीर में रहता है उसकी रूपरेखा बाहर नहीं, जहाँ तक उसके शरीर की ज्योति होती है वहीं तक है। (नौवाँ पुष्प, २७-७-६९ ई.)

महर्षि लोमश के प्रवचन से

प्रश्न है आत्माएँ कितने हैं?

गुरु जी तो इनको अनन्त बतला देते हैं। वास्तविकता भी यह है कि परमात्मा की अनन्त सृष्टि है, अनन्त लोक-लोकान्तर हैं। इनकी कौन कहाँ तक गणना कर सकता है? यह एक यौगिक विषय है। जो आत्मा परमात्मा के आँगन जा पहुँचा है, उनका विषय है। जैसे राष्ट्र में कर्मचारी अपने राष्ट्र की गणना को जान लेते हैं ऐसे ही हम भी परमात्मा के पूर्ण राष्ट्र में तो पहुँचे नहीं परन्तु प्रयत्न करेंगे कि कुछ लोकां की गणना कर दी जाये। (पाँचवां पुष्प, १९-८-६२ ई.)

गुण कर्म से स्वभाव के अनुसार आत्मा के विभिन्न नाम

१-गणपति : जब आत्मा इस शरीर में रहने वाले मल विक्षेपों के अन्धकार को समाप्त करके अपने प्रकाश में पहुँचता है, परमात्मा की सहायता से प्रकाशमान होता है तो उस समय आत्मा के परिवार के जो गुण हैं उनका महत्त्व समाप्त हो जाता है और आत्मा गुणों पर शासन करने लगता है। (पाँचवाँ पुष्प, १८-८-६२ ई.)

२-विष्णु : जब यह आत्मा ज्ञान के क्षेत्र में जाता है और सम्पूर्ण

ज्ञान विज्ञान उसमें आ जाते हैं तो इस आत्मा को आनन्द प्राप्त होता है। इस ज्ञान रूपी आनन्द का नाम ही ''अक्षय-क्षीर-सागर'' है। जब ज्ञान हो जाता है तो अमूल्यता प्राप्त हो जाती है और काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ रूपी शेषनाग की शय्या बनाकर आत्मा उस पर स्थिर हो जाता है। ये पाँचों सर्प के समान हैं। इनमें से कोई भी एक आकर ज्ञानी के ज्ञान को नष्ट-भ्रष्ट कर सकता है।

मन का नाम ''नारद'' है। जब ज्ञानी काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ को अपने वश में कर लेता है तो यह मन रूपी ''नारद'' अपनी चंचलता को त्यागने के लिये आ जाता है। बुद्धि का नाम गन्धर्व है। वह भी उस समय आत्मा के गुण गाने के लिये आ जाती है।

ज्ञानी ही लक्ष्मी का सदुपयोग कर सकता है तभी वह उसके चरण चूमने लगती है। जब ज्ञान द्वारा आत्मा इन सबको अपने अधीन कर लेता है तो उस आत्मा से तरंगें उत्पन्न होती हैं। इन तरंगों का मिलान परब्रह्म से हो जाता है। ये तरंगें ही नाभि से निकला कमल जानो।

इस प्रकार जो विष्णु का चित्र है अर्थात् जिस चित्र में, क्षीर सागर में शेषनाग की शैय्या पर विष्णु विश्राम करते तथा लक्ष्मी उनके चरण दबाती और अपनी वीणा लिये गन्धर्व गान गाते दिखाये जाते हैं वह आत्मा रूपी विष्णु का अलंकारिक चित्र है ।(चौथा पुष्प, १७-४-६४ ई.)

आत्मा के दो गुण हैं, वे दोनों उसके सहायक बने रहते हैं। एक को जय और दूसरे को विजय कहते हैं। ये दोनों ही इसके पुत्र

कहलाये गये और दोनों ही इसके समीप रहते हैं। जय और विजय इस संसार को, संसार की आभा को जानने वाले होते हैं।

जय और विजय ज्ञान और विवेक को कहा जाता है। जब मानव में ज्ञान और विवेक हो जाता है, मानव विवेकी बन जाता है तो वह उन गुणों का वाहन बना करके विष्णु बनता चला जाता है। इससे उस मानव की संसार मे विजय हो जाती है।

हमें इस संसार में विजय ही तो पाना है। कोई अपने शत्रु पर विजय पाना चाहता है, कोई अपने बृद्धपन पर विजय पाना चाहता है, कोई राष्ट्रवादी बन कर दूसरे राष्ट्रां पर विजय करना चाहता है, कोई वैज्ञानिक बन कर लोक-लोकान्तरों पर विजय पाना चाहता है, कोई साधक अपनी नाना प्रवृत्तियों पर विजय पाना चाहता है, मेरी प्यारी माता पुत्रों पर विजय चाहती है, पिता भी यही चाहता है। आचार्य कहता है कि मैं ब्रह्मचारी की प्रवृत्तियों पर विजय पाना चाहता हूँ, विद्या पर विजय पाना चाहता हूँ। प्रत्येक मानव विजय के आँगन में ही भ्रमण करता रहता है और चाहता रहता है कि मैं विजयी बनूँ।

जय और विजय को ज्ञान और विवेक इसलिये कहा जाता है कि जब ज्ञान से हम संसार पर विजय कर लेते हैं तथा विवेक से प्रवृत्तियों पर विजय कर लेते हैं, तो ज्ञान और विज्ञान से हम संसार पर छा जाते हैं।

ज्ञान कहते हैं व्यापकता को। आज जिस वस्तु को विजय करना चाहते हैं, वह विजय ज्ञान के द्वारा ही हो सकती है। ज्ञान से प्रयत्न

करता हुआ मानव लोक में लोकप्रिय बन जाता है, लोक पर छा जाता है। छा जाने के पश्चात् वह जय कर लेता है, संसार में उसकी जय हो जाती है।

इसके पश्चात विवेक उत्पन्न होता है अर्थात् ज्ञान के पश्चात् विवेक की मात्रआती है। तब इस संसार से मानव का मन उपराम हो जाता है, मान-अपमान की धारा नहीं रहती।

ज्ञान से ही संसार को विजय कर सकते हैं। ज्ञान ही हमारा एक ऐसा गम्भीर विचार है जिस विचार से हम ज्ञानी बन करके संसार के ऊपर हमारी एक महान् सफलता हो जाती है। हमारे विचार अमिट रूप से अङ्कित हो जाते हैं। जब हमारे द्वारा ज्ञान होगा तो संसार का कार्य शीघ्र ही कर सकते हैं तथा संसार को ऊँचा बना सकते हैं।

हम विष्णु बन कर संसार पर छाना चाहते हैं। यह तभी होगा जब हम अपनी इन्द्रियों पर छा जायेंगे और इन्द्रियों का ज्ञान हमारे समीप होगा, व्यापकवाद होगा। सर्व संसार हमारा कुटुम्ब बन जायेगा और कुटुम्ब में हम शिरोमणि बन जायेंगे, तब हम इस संसार को विजय कर सकते हैं और संसार में हमारी प्रतिष्ठा हो सकती है।

ज्ञान संसार में महान् है, उसी से संसार ऊँचा बना करता है। मानव के द्वारा जो आभाएँ उत्पन्न होती हैं वे ज्ञान के द्वारा होती हैं इसलिये मानव में ज्ञान होना चाहिये।

विवेक उसे कहा जाता है जो ज्ञान के पश्चात् मानव में मौनपन छा जाता है, अपनी प्रवृत्तियों से उस कुटुम्ब में हम सर्वत्र व्यापक अपनी प्रवृत्तियों को बना करके, ज्ञान के द्वारा उसमें छा जाते हैं।

अब जो इन्द्रियों के विषय हैं, वे मानव में सिमटने लगते हैं तथा हृदय में विवेक द्वारा समाहित हो जाते हैं।

वेद का विचार भी यही कहता है कि विवेक कहते हैं अपनी प्रवृत्तियों पर संयम करने को। अपनी इन्द्रियों के विषय से जो तरंगें उत्पन्न होती हैं, जब उन पर विजय हो जाती है। अन्तरात्मा में ही उनका दिग्दर्शन करते हैं, हृदयस्थल में ही उनको हम अपने में समाहित होता दृष्टिपात करते हैं तो संसार में मानव का आत्मा उपराम हो जाता है।

विवेकी पुरुष मन और प्राण दोनों का निरोध कर लेता है। निरोध करके दोनों का घृत बनाकर हृदय रूपी यज्ञ वेदी में उसकी आहुति देता है, आहुति देने पर विवेक की अग्नि ऐसे प्रदीप्त हो जाती है जैसे पूर्णिमा का चन्द्रमा सम्पूर्ण कलाओं से युक्त हो जाता है।

विवेक से ही देवता कहलाते हैं। विवेक न हो तो ऋषि नहीं बनेगा, मुंनि नहीं बनेगा क्योंकि मुनि में सबसे प्रथम ज्ञान आता है। ज्ञान के पश्चात् विवेक आता है, पाण्डित्य आ जाता है। पाण्डित्य के पश्चात् विवेक अपना हो जाने के पश्चात् बाल्य प्रवृत्ति बन जाती है और बाल्य प्रवृत्ति वाले ऋषि को ही मुनि कहते हैं। (तेईसवाँ पुष्प, २८-७-६४ ई.)

३-अहिल्या : आत्मा का नाम अहिल्या भी है। रात्रि में जब रेणुका और आत्मा का मिलाना होता है तो इसका मिलान परमात्मा से हो जाता है। उस समय आत्मा को आनन्द छा जाता है। (चौथा पुष्प, १७-४-६४ ई.)

४-शिव : जब मनुष्य शिव संकल्प धारण करता है। और शिव का पुजारी बनता है, तो उस समय यह आत्मा अपने प्यारे प्रभु शिव को पाकर शिव कहलाता है। एक शिव होता है, एक महाशिव होता है। यह आत्मा महाशिव कभी नहीं होता, केवल शिव कहलाता है। (चौथा पुष्प, २१-४-६४ ई.)

५-इन्द्र : यह आत्मा नाना प्रकार का रूप धारण करता है। इसमें ज्ञान भी है, विज्ञान भी है। जब यह आत्मा इन्द्र को जान जाता है तो यह इन्द्र बन जाता है। आत्मा ही साधना द्वारा एक समय इन्द्र बन जाता है। (पाँचवाँ पुष्प, ९-१०-६४ ई.)

६-गौतम : गौतम नाम भी आत्मा का है क्योंकि यह गौ नामक इन्द्रियों का स्वामी है। (पाँचवाँ पुष्प, २०-१०-६४ ई.)

७-प्रजापति : आत्मा को प्रजापति भी कहा गया है। हमें इसे प्रजापति की उपाधि देनी चाहिये। (सत्रहवाँ पुष्प, १७-१२-६० ई.)

आत्मा का भोजन

जिस प्रकार मानव प्रातःकाल से अपने आसन को त्यागने के पश्चात् नाना प्रकार की क्रियाओं में लगा रहता है और उसे शरीर रक्षा के लिये भोजन अनिवार्य है उसी प्रकार इस आत्मा को सुविधा देने के लिये, आत्मिक बल बढ़ाने के लिये हमें परमात्मा की याचना करना भी अनिवार्य है। जिस प्रकार प्रातः से अनेकों कार्यों में संलग्न होते हैं, ऐसे ही प्रातःकाल उस आनन्दमय स्वरूप में भी संलग्न हो जाना चाहिये, जिससे हमें अनुपम ज्योति प्राप्त होती है। (चौथा पुष्प, १०-७-६४ ई.)

आत्मा का भोजन ज्ञान-विज्ञान है, जो उसके साथ इस शरीर को त्यागने के पश्चात् भी जाता है। हमें आत्मा को भोजन देने का प्रयास करना चाहिये। (पाँचवाँ पुष्प, २०-४-६४ ई.)

अन्तरात्मा का भोजन है आत्मज्ञान, परमपिता परमात्मा की उपासना, परमात्मा का चिन्तन, वेदों का अध्ययन, ऋण से उऋण होना, यज्ञ करना या देवपूजा करना। एकान्त स्थल में विराजमान हो करके ब्रह्म के ऊपर चिन्तन करना और प्राण का आत्मा से मिलान करना आत्मा का सर्वोपरि भोजन माना गया है। ज्ञान और विज्ञान ही आत्मा का भोजन है। आत्मा उसके बिना भूखा रहता है। जो आत्मा को भोजन देने वाले होते हैं, उनके हृदय में विडम्बना (पीड़ा निराशा) नहीं रहती, उनका मन आवेशों में नहीं आता जिन आवेशों में मानव को दुःख होता है।

मन को शोधन करना है तो आत्मा का भोजन दो। क्यांकि आत्मा के प्रकाश में ही यह मन अपना कार्य कर रहा है। आत्मा जैसा प्रकाश देता है, उसी प्रकाश को देता है, उसी प्रकाश में मन कार्य करता है। मन तो जड़ पदार्थ है।

ऋषियों ने इसीलिये कहा है कि मन का शोधन होने से पूर्व आत्मा को भोजन देना चाहिये। आत्मा का भोजन सत्संग है, चिन्तन है, आर्ष पद्धति का ग्रहण है। वेदों का अध्ययन करना, यज्ञ करना यह सब आत्मा का भोजन है। जब आत्मा इन पदार्थों से तृप्त रहेगा, तो आत्मा से वही धारा उत्पन्न होगी जिससे मन पवित्रता को प्राप्त होता रहता है। जहाँ मन उसके प्रकाश में कार्य करता है, संसार का

निर्माण करता है, तो जो वस्तु होगी उसका निर्माण करेगा। (अट्ठाईसवाँ पुष्प, १७-११-७५ ई.)

स्थावर सृष्टि, वृक्ष वनस्पति आदि में आत्मा नहीं होता

परमात्मा ने सृष्टि के आरम्भ में चार सृष्टियाँ बनाई थीं। १-स्थावर, २-जंगम, ३-अण्डज और ४-उद्भिज। जंगम को जरायुज भी कहते हैं।

स्थावर सृष्टि में सामान्यता होती है। सामान्यता से तात्पर्य यह है कि जीव के लक्षण रूप ज्ञान और प्रयत्न का वहाँ अभाव हो। चाहे वहाँ परिवर्तन गति, परिवर्द्धन आदि कुछ भी हो रहा हो। उदाहरणार्थ जल में सामान्यता है, वह गति करने वाला है। सूर्य तीनों लोकों को तपा रहा हैं, प्रकाश एवम् ऊष्णता प्रदान करता है। जल को वाष्प बनाकर इस भूमण्डल पर सर्वत्र वृष्टि करा देता है। वनस्पतियों को जीवन दान करता है, अशुद्धियों को भस्म कर वायुमण्डल को शुद्ध करता चला जा रहा है। सूर्य में भी सविता -सत्ता है, वायु प्राण देने वाला है। शरीरधारियों का सूक्ष्म प्राण इसी से बनता है। इसमें भी सामान्यता है। मानव को उच्च दृष्टि से प्रमाण तथा युक्तियों के आधार पर यौगिकता की दृष्टि से विचार करना चाहिये। वृक्षों में ज्ञान और प्रयत्न के अभाव में आत्मा का होना सर्वथा असम्भव है, उनमें सामान्यता होती है। (तीसरा पुष्प, १२-७-६३ ई.)

त्रेता काल में महर्षि वषिश्ठ जी महाराज के आश्रम पर आदि गुरु ब्रह्मा जी महाराज, महर्षि विभाण्डक जी महाराज, महर्षि लोमश मुनि जी महाराज, महर्षि तत्वकेतु मुनि जी महाराज, महर्षि मार्कण्डेय

मुनि जी महाराज, महर्षि भृगु जी महाराज, महर्षि धुन्धु जी महाराज, महर्षि पारा मुनि जी महाराज, महर्षि शिव जी महाराज, महर्षि सनत् कुमार जी आचार्य महाराज, महर्षि याज्ञवल्क्य जी महाराज और महर्षि सन्तुति जी महाराज आदि दार्शनिकों का समाज जुड़ा।

उन्हांने यह निष्कर्ष निकाला कि :

पृथ्वी और जलादि के संयोग से उत्पन्न वनस्पतियों और वृक्षों में सामान्य प्राण होते हैं। सामान्य प्राणों से ही इनमें घटने-बढ़ने की क्रिया ओर सञ्ज्ञा विराजमान है।

आत्मा के दो स्वाभाविक गुण ज्ञान और प्रयत्न उनमें बिल्कुल नहीं पाये जाते। अतः इनमें आत्मा का निवास नहीं होता । महर्षि नारद मुनि जी महाराज के इस तर्क का कोई उदाहरण नहीं मिल सका कि कुछ आत्माएँ पीपल की योनियाँ भोग कर आयी हैं।

कीट चाहे कितना भी सूक्ष्म हो, यदि उसें अङ्गुली से दबाया जाये तो वह काल के मुख से बचकर भागने के नाना प्रयत्न करेगा। यदि अङ्गुली अलग कर दी जाये तो उसे छूटने का ज्ञान हो जाता है। तब वह तीव्र गति से भाग कर अपने को बचाने का यत्न करता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान और प्रयत्न आत्मा के या जीव के स्वाभाविक गुण हैं।

वृक्षों में ज्ञान और प्रयत्न का कोई भी लक्षण नहीं मिलता। इसलिये उनमें जीवात्मा नहीं माना जा सकता।

प्रश्न : यदि आत्मा के ज्ञान और प्रयत्न स्वाभाविक लक्षण हैं, तो वह माता के गर्भ में नौ महीने तक क्या करता है?

उत्तर : जब आत्मा माता के गर्भ में रहता है, तो इसका समबन्ध परमात्मा से रहता है। वह परमात्मा से प्रार्थना किया करता है।

प्रश्न : आत्मा की जो स्थिति गर्भ में रहती है, वैसी ही वृक्षों में क्यों न मान ली जाये?

उत्तर : माता के गर्भ तथा वृक्ष योनियों में महान् अन्तर है। वृक्ष की गर्भावस्था तो वह है, जब बीज पृथ्वी रूपी माता के गर्भ में रहता है। बाहर आने के पश्चात् उसकी सामान्य स्थिति हो जाती है। उसकी तुलना गर्भावस्था से नहीं की जा सकती। वृक्षों में जीवों के समान ज्ञान और प्रयत्न का अभाव है। उनमें तो वायु का विश्लेषण बहुत बड़ी मात्रमें होता रहता है। इनमें यदि आत्मा होता तो विचार भी होता और ज्ञान भी होता। इनका उनमें सर्वथा अभाव है।

यदि कोई यह कहे कि मानव अपने कर्मफल भोगने के लिये ऐसी योनियों को प्राप्त होता है, जहाँ ज्ञान का अङ्कुर नहीं होता तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह वृक्ष हो जाता है

दार्शनिकों का निष्कर्ष यही है कि जहाँ ज्ञान और प्रयत्न दोनों लक्षण न हों वहाँ आत्मा कदापि नहीं हो सकता।

महर्षि नारद मुनि जी महराज ने दार्शनिकों से कहा था कि वृक्षों को भी ८४ लाख योनि में क्यों न मान लिया जाये?

इस पर ऋषियों का निर्णय यही था कि सामान्य-प्राण और अमृत आत्मा में बड़ी भिन्नता है। जितनी भी कर्मयोनियाँ तथा भोग योनियाँ हैं, उन सबमें ज्ञान और प्रयत्न हैं। परमात्मा ने वृक्षों में उनको नहीं दिया।

वृक्षों के आहार के लिये मुख, रसना आदि इन्द्रियाँ भी नहीं बनायी। ये तो सामान्य प्राण की सहायता से पृथ्वी से रस खींचते हैं।

आज तक किसी आत्मा ने युक्ति-युक्त विधि से वैदिक प्रमाण के आधार पर यह निर्णय नहीं दिया कि वृक्षों में मनुष्यों की आत्मा पहुँच जाती है अर्थात् वृक्ष योनि धारण करती है।

प्रश्न : श्रीकृष्ण की ठोकर से वृक्ष गिर कर दो बालक उसमें से उत्पन्न हो गये?

उत्तर : यह घटना परमात्मा के नियम और सिद्धान्त के विरुद्ध होने से अमान्य है। (तीसरा पुष्प, १७-७-६३ ई.)

२ द्वितीय अध्याय-सृष्टि-पालन-प्रलय-कर्त्ता और आत्मा को कर्म-फल प्रदाता परमात्मा

परमात्मा संसार में सबसे ऊपर है। वह सब से महान् निरभिमानी है, रचयिता है, विभु है। कण-कण में ओत-प्रोत होने के कारण गम्भीर है। इसलिये उस प्रभु को जानने के लिये आचार्यों ने बल दिया है। क्योंकि उसको जानने से मान-अपमान नहीं होगा तथा मृत्यु भी नहीं होगी। परमात्मा सदैव रहने वाला है तथा मानव की प्रतिभा भी सदैव रहने वाली है। (सातवाँ पुष्प, १७-१२-६९ ई.)

परमात्मा महान् है, वह न कदापि जन्मता है, न नष्ट होता है। वह निर्द्वन्द्व एवम् पूर्ण है। परमात्मा विद्या में पूर्ण, सृष्टि रचना में पूर्ण, हमारे कर्मों के फल देने में पूर्ण अर्थात् हर प्रकार से पूर्ण है। वह महान् बुद्धिमान् है, उसकी विद्या असीमित है। (प्रथम पुष्प, १-४-६२ ई.)

वह प्रभु वाणियों की भी वाणी है। हमारी वाणी में माधुर्य उसी का दिया हुआ है। वह इस संसार को चला रहा है, हमारे जीवन की योजनाएँ बना रहा है। (प्रथम पुष्प, १-४-६२ ई.)

परमात्मा सब में ओत-प्रोत है किन्तु फिर भी सबसे पृथक् है। उसकी विचित्रता को बारम्बार मनन करना तथा विचार करना हमारा कर्त्तव्य है। वह विधाता अमूल्य ज्ञान का देने वाला है, पवित्र है, संसार का, लोक-लोकान्तरों का सबका राजा है, न्यायाधीश है, वह महान् से महान् है। नाना प्रकार की सुविधा देने वाला परमात्मा यदि

अपने कर्मों को शान्त कर दे, अपनी न्यायप्रियता को शान्त कर दें तो यह संसार उसी काल में न होने के तुल्य हो जायेगा। (तीसरा पुष्प, ९-१२-६२ ई.)

परमात्मा का विराट् रूप

परमात्मा विचारकों का विचारक है, सदैव अखण्ड है। वह इतना महान् तथा विभु है कि सर्वत्र ओत-प्रोत है। हम प्रभु की वन्दना करते हैं। यह अन्तरिक्ष प्रभु का मस्तिष्क है। दिशायें उसकी भुजाएँ हैं। पृथ्वी उसका तालू है। नदियाँ उसके नाना स्रोत हैं। पर्वत अस्थियाँ है। इस प्रकार यह जगत ब्रह्म का रूप है। (तेरहवाँ पुष्प, १८-१-७० ई.)

परमात्मा ज्ञान-विज्ञान में रमण करने वाला है तथा यह जगत उसकी विज्ञानशाला है। अतः प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य है कि वह इस विज्ञानशाला मे विराजमान होकर विज्ञानवेत्ता बनने के लिये तत्पर हो जाये।(अट्ठारहवाँ पुष्प, १७-३-७२ ई.)

परमात्मा को ब्रह्म कहते हैं। वह इस संसार का नियन्ता और निर्माण वेत्ता है। कोई सांसारिक निर्माणवेत्ता निर्णय नहीं कर सकता कि मैंने इस वस्तु को निर्मित किया है। मानव तो परमाणुओं को सङ्घात कर सकता है, परमाणुओं को एकत्रित कर सकता है। परन्तु यदि उनके मूल में दृष्टिपात करते हैं तो मूल में वह चेतना ही दृष्टिपात होने लगती है। (पच्चीसवाँ पुष्प, २७-१-७३ ई.)

जितना भी जीवनवाद है वह सर्वत्र व्यापकवाद में रहता है। इसलिये जब तक हम परमात्मा को व्यापकवाद में दृष्टिपाद नहीं

करते तब तक न तो जीवन में ही महत्ता का दिग्दर्शन होता है और न परमात्मा की चेतना ही दृष्टिपात कर पाते हैं। यह सब जगत उस महान् ज्योति में समाहित हो रहा है। ये सब लोक-लोकान्तर उस ज्योति में इस प्रकार पिरोये हुए हैं, जैसे धागे में मनके पिरोये रहते हैं और वह माला कहलाती है। इसी प्रकार यह सब जगत माला के समान है। जब प्रभु की महत्ता पर विचार विनिमय करने लगते हैं और उसके आनन्दमय तथा विज्ञानमय जगत पर विचारते हैं, तो हमारा हृदय आनन्दयुक्त हो जाता है और हम अपने में उस ज्योति को धारण करने लगते हैं। जब वह ज्योति हममें भर जाती है तो हमारे जीवन में अन्धकार नहीं आता क्योंकि परमात्मा के राष्ट्र में रात्रि नहीं होती, सदैव प्रकाश रहता है। परमात्मा सम्वत्सरों का स्वामी है, इसीलिये उसके राष्ट्र में सम्वत्सर भी नहीं होते। (बारहवाँ पुष्प, ३-८-७१ ई.)

परमात्मा सर्वगुण सम्पन्न है। उसी की प्रकृति के द्वारा हमारा विकास होता है। यह इससे सिद्ध है कि जब सृष्टि का आरम्भ होता है, तो इसी प्रकृति में कम्पनता आ जाती है। कम्पनता आ जाने से यह अन्तरिक्ष तथा लोक-लोकान्तर रचे जाते हैं।(आठवाँ पुष्प, ३-४-६४ ई.)

परमात्मा वह बिन्दु है, जो बिन्दुओं को चला रहा है तथा सब लोक-लोकान्तर को चला रहा है। वह एक महान् चैतन्य ज्ञान स्वरूप है, जो संसार को कम्पन दे रहा है। वह कम्पन प्राणों के द्वारा है, या अपनी आलौकिक क्रियाओं के द्वारा। प्रत्येक लोक-लोकान्तर तथा

पृथ्वी मण्डल और मानव में कम्पन है। उसी कम्पन से लोक-लोकान्तर और संसार चल रहे हैं। यदि किसी कारणवश ग्रह-मण्डलों का मिलान हो जाये तो ''त्राहिमाम्, त्राहिमाम्'' मच जाये। तब यह संसार रुद्र-रूप धारण कर लेता है और मानव भयभीत हो जाता है। (चौथा पुष्प, १९-४-६४ ई.)

परमात्मा इन्द्रियातीत है

यदि कोई मानव भौतिक वैज्ञानिक बनकर भौतिक विज्ञान के द्वारा ही परमात्मा को जानना तथा उसे प्राप्त करना चाहता है, तो यह असम्भव है। क्योंकि यह नेत्रों का विषय नहीं, आध्यात्मिकता का विषय है। हमें भौतिक वैज्ञानिक बनने के साथ-साथ आत्मिक वैज्ञानिक भी बनना चाहिये। जब हम परमात्मा को जान कर इस सृष्टि के रहस्यों को भी सरलता से जान जायेंगे। (तीसरा पुष्प, १६-७-६३ ई.)

चेतना का मूल परमात्मा

जितना भी चैतन्यवाद हमें प्रतीत होता है, वह किसी चेतना के आधार पर स्थित है। ब्रह्म की चेतना ही मानव को चेतनित करती रहती है अन्यथा यह शून्यवत् रहता है। (चौदहवाँ पुष्प, ६-३-७० ई.़)

जितना भी हमारा भौतिक तत्त्व है उसकी कोई धारा है। उसी धारा में ब्रह्म की चेतना दृष्टिपात आती रहती है। (चौदहवाँ पुष्प, २२-३-७० ई.)

भौतिक वैज्ञानिक कहता है कि यदि इसी प्रकार विज्ञान की

उन्नति होती रही तो परमात्मा की मान्यता समाप्त हो जायेगी। मानव को यह विचार त्याग देना चाहिये। मानव यह तो कह सकता है कि संसार प्राकृतिक है परन्तु प्रकृति का मूल भी कोई न कोई स्वीकार करना होगा। प्रकृति में ज्ञान की कोई प्रतिभा नहीं है, ज्ञान का कोई न कोई प्रतीक स्वीकार करना ही होगा, उसी को परमात्मा कहते हैं।

वैज्ञानिक मूल-तत्वों का निर्माण नहीं कर सकता

परमात्मा को समाप्त करने का प्रश्न तभी आ सकता है जब मानव यन्त्रों से ज्ञान की प्रतिभा का समावेश कर देगा, यह असम्भव है। ज्ञान की प्रतिभा को मानव बना ही नहीं सकता। पृथ्वी में स्वर्ण कण हैं, वे अनादि हैं। उनको मानव नहीं बना सकता, इसका मिलान कर सकता है। जब हम कणों को अनादि स्वीकार करते हैं तो उनको बनाने वाला अवश्य है। (तेरहवाँ पुष्प, २२-८-६९ ई.)

पूर्ण शक्तियों का मूल परमात्मा

एक समय देवाताओं को अभिमान हो गया कि संसार में वे जो भी करते हैं, स्वतन्त्र रूप से करते हैं। उन्होनें इन्द्र से भी यह कहा कि हम बड़े बलवान हैं। जब इस विचार को प्रभु ने जान लिया कि देवताओं को अभिमान हो गया है तो एक आनन्दमयी ज्योति जिसको 'यक्ष' कहा जाता है, उत्पन्न हो गयी। देवताओं ने इन्द्र से पूछा कि भगवन् ! यह क्या है? तब उसकी जानकारी करने का कार्य अग्नि को सौंपा गया। अग्नि देवता ने यक्ष के समीप जाकर पूछा कि महाराज ! आप कौन हैं? यक्ष ने कहा कि आप कौन हैं? अग्नि ने कहा, मैं अग्नि हूँ।

यक्ष ने पूछा : आप क्या कार्य करते हैं?

अग्नि : यदि मेरी इच्छा हो जाये तो मैं इस संसार को एक क्षण में भस्मीभूत कर सकता हूँ।

यक्ष ने एक तिनका उसके समक्ष रखकर कहा, इसे भस्म करो।

उस समय अग्नि की सत्ता चेतन में रमण कर गयी थी और अग्नि शक्तिहीन हो गया था।

अग्नि ने कहा यह तो मेरी शक्ति से बाहर है।

तब अग्नि लज्जित होकर देवताओं के समीप गया और कहा कि यह अद्भुत रचना है, मैं इसको नहीं जान पाया।

अब इन्द्र ने वायु देवता को भेजा। वायु ने यक्ष के समीप जाकर कहा कि आप कौन हैं?यक्ष ने कहा ''मैं यक्ष हूँ, क्या आप वायु देवता हैं?

वायु ने कहा, हाँ महाराज ! मैं यह कार्य करता हूँ कि यदि मेरी इच्छा हो जाये, तो मैं इस पृथ्वी को अन्तरिक्ष में अर्पित कर सकता हूँ। यह संसार मेरे ही आश्रित रहता है।

यक्ष ने कहा, ''आप इस तिनके को यहाँ से दूर कर दो।''

वायु ने अपना बल लगाया किन्तु वायु का अस्तित्व नहीं था, वह तो मूल अस्तित्व में रमण कर गया था। वायु में इतनी सत्ता न रही। वह लज्जित होकर देवताओं के समाज में पहुँचा, और कहा कि मैं नहीं जान पाया कि वह कौन है?

इसी प्रकार सभी देवता उसका परिचय लेने में असफल रहे। तब इन्द्र स्वयम् उस यक्ष के पास आये। तब वह (यक्ष) अन्तर्ध्यान हो

गया। इन्द्र को लज्जा आयी। वह देवताओं की सभा में पहुँचा और कहा कि यक्ष तो बड़ा अद्भुत है।

निष्कर्ष यह है कि मानव शरीर में अग्नि, विद्युत अपना कार्य करती है, तथा वायु अपना कार्य करती है। यदि मानव को अभिमान हो जाये कि यह सब कुछ मैं ही कर रहा हूँ। वह उस कम्पन के स्रोत को नहीं पहचानता तो यह उचित नहीं, प्राण वायु से कम्पन होता है। परन्तु वायु का अपना कोई अस्तित्व नहीं, उसके अस्तित्व का स्रोत तो महान् चैतन्य ही है।

गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार परमात्मा के विभिन्न नाम।

परमात्मा का मुख्य नाम 'ओ३म्'

भिन्न-भिन्न आचार्यों ने परमात्मा को भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा है। (तीसरा पुष्प, १६-७-६३ ई.ः)

जिस प्रकार मनुष्य का एक नाम मुख्य होता, शेष नाम उसके गुण व कर्मों के अनुसार होते हैं, इसी प्रकार प्रभु का मुख्य नाम 'ओ३म्' है। शेष अन्य नामों में उसके गुण और कर्त्तव्य के पर्यायवाची आ जाते हैं। (दूसरा पुष्प, २१-८-६२ ई.ः)

रसना की रचना इस प्रकार की है कि इससे 'ओउम्' का उच्चारण होना स्वाभाविक है। इसलिये कोई मानव कितना भी रूढ़िवादी हो, वह 'ओ३म्' का उच्चारण अनिवार्य रूप से करता है। (पाँचवाँ पुष्प, २-६-६७ ई.)

'ओ३म्' एक ऐसा शब्द है, ऐसी ध्वनि है जो मानव से किसी भी

समय दूर नहीं हो सकती, चाहे वह किसी भी सम्प्रदाय या रूढ़िवाद में क्यों न चला जाये। यह इतना व्यापक शब्द है कि उसकी व्यापकता प्रकृति के कण-कण में ओत-प्रोत रहती है, यह व्यापकता शब्दों में रहती है, प्रभु ने मानव शरीर का निर्माण करते समय इसकी वाणी का निर्माण इस प्रकार किया है तथा उससे इस प्रकार के उच्चारण कराये हैं कि सर्वप्रथम 'ओ३म्' शब्द का उच्चारण हो। मानव चाहे किसी भी राष्ट्र में हो, लोक-लोकान्तरों में रहने वाला हो, परन्तु यह 'ओ३म्' शब्द उससे उच्चारण होता है। (दसवाँ पुष्प, ७-११-६८ ई.)

'ओउम्' में अउम् सार्वभौम शब्द हैं। 'अ'त्रब्रह्मवाची है। 'उ'। आत्मा (जीवात्मा) वाची हैं तथा 'म्' प्रकृति का वाची है। ये प्रकृतिवादी ही 'म्' शब्द का उच्चारण करते है और संसार के भौतिक पदार्थों से अपना सम्बन्ध जोड़ते है। (ग्यारहवाँ पुष्प, १३-४-६९ ई.)

'ओ३म्' शब्द वाणी का पर्यायवाची है और वाणी से उच्चारण करने का स्वभाव है। चाहे मानव नास्तिक हो, किसी भी लोक-लोकान्तर में हो किन्तु 'ओ३म्' का उच्चारण उसकी वाणी से स्वभाविक है। बच्चा गर्भस्थल से पृथक् होते ही 'ओ३म्' की वाणी ही बोलता है। यह ओ३म्' शब्द ही हमें ज्ञान देता है। (तेरहवाँ पुष्प, २२-८-६९ ई.)

ऋषियों ने महर्षि पिप्पलाद से पूछा, यह 'ओ३म्' क्या है? महर्षि पिप्पलाद ने कहा कि 'ओ३म्' की तीन प्रकार की प्रतिभा होती है। तीन प्रकार से इसका चिन्तन होता है। जो व्यक्ति उस परमात्मा का

'ओ३म्' (नाम से) चिन्तन करता है, वह एक मात्र का चिन्तन करता है। वह मानवता में रमण करने लगता है।

(२) दूसरी मात्र वह होती है जो मानव देववत् होने के लिये तत्पर होने लगता है।

(३) तीसरी मात्र वाला प्राणी उस मानव को कहा जाता है, जो पृथ्वी के कण-कण में, दूसरे में, सभी में उस 'ओ३म्' की प्रतिभा का दृष्टिपात करने लगता है। वह मानव अपनी चेतना में चेतना को प्रतिष्ठित कर लेता है। हमें 'ओ३म्' रूपी धागे को मनकों में पिरोने वाला होना चाहिये।

जो मानव 'ओ३म्' को कुछ अपनाता है, वह लोक में प्रतिष्ठित होता है। उसको कहते हैं कि यह बड़ा ही प्रभु का चिन्तन करने वाला है।

जो मानव देवता बनने की प्रतिष्ठा करता है वह परमात्मा में ही अपने को दृष्टिपात् करने लगता है। वह देवलोक में जाने को तत्पर हो जाता है, देवताओ में उसकी गणना होने लगती है। वह कण-कण में प्रभु को दृष्टिपात करने लगता है और अपनेपन में जितना 'मैं' पन है, वह उस अग्नि में ओत-प्रोत करा देता है तो वह प्रभु की तीसरी मात्र का ज्ञाता बन जाता है।

जब प्रभु में और अपने में एक चेतना और द्वितीय चेतना का मिलान करने की क्षमता हो जाती है, वह जनता में जनार्दन को दृष्टिपात करने लगता है, जनता-जनार्दन में ही नहीं, प्रकृति के एक-एक कण में दृष्टिपात करने लगता है, आगे चलकर वह एक महान्

तपस्वी और उज्ज्वलता को प्राप्त कर जाता है। (पन्द्रहवाँ पुष्प, २०-६-६३ ई.)

१-इन्द्र : यह परमात्मा इन्द्र है, जो वृष्टि करने वाला है। वह इस संसार को नियन्त्रण में कर रहा है। इतने बड़े राष्ट्र का स्वामी है, महान् है, पवित्र है, निर्द्वन्द्व है। निद्रावस्था में वह मानव को सवितासत्ता प्रदान करता है। (पाँचवाँ पुष्प, १९-८-६६ ई.)

२-यमराज : परमात्मा का नाम यमराज भी है। वेदों ने उसे न्यायाधीश भी कहा है। आत्मा के अन्तःकरण में अंकित उसके समक्ष प्रकट होते हैं। (पाँचवाँ पुष्प, २०-१०-६४ ई.)

परमात्मा इतना महान् और अलौकिक है कि मानव उसका पार नहीं पाता। वह मानव के हृदय में बैठा हुआ अपनी यमपुरी रचा रहा है। जो भी हम कर्म करते हैं, जैसा हमारा कर्म हैं, उसका वह फल देने वाला है। जो परमात्मा हमारे कर्मों का फल देने वाला हो, न्याय करने वाला हो, उसको यम नाम से पुकारा जाता है। परमात्मा हमारे आत्मा के समक्ष बैठा है। मानव जो भी कर्म करता है, वह उसे देखता है। (तीसरा पुष्प, २-३-६२ ई.)

३-गौतम : परमात्मा का नाम गौतम है। 'गौ' नाम प्रकृति का है, 'ता' नाम आत्मा का है। इन दोनों का स्वामी होने से उसका नाम गौतम है। (पाँचवाँ पुष्प, २०-१-६४ ई.)

४-शिव : संसार की रचना करके हर पदार्थ को जीव के लिये देता है। वह संसार की रचना और प्रलय करता है। वह विधाता सबका कल्याणकारी है, वह परमात्मा मनोहर तथा अलौकिक है।

इस सृष्टि में उसी की ज्योति व्यापक है, उसी की ज्योति से यह संसार प्रकाशित हो रहा है। (दूसरा पुष्प, ३-४-६२ ई.)

५-महादेव : वह देवों का देव है, हमें सामग्री देता है, जो कहीं भी प्राप्त नहीं होती। अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी, वृक्ष ये सब उसी के दिये हुए हैं, जो (सामग्री) मानव के हृदय में ओत-प्रोत हो रही है इनसे मनुष्य के जीवन का संचार होता है। खान-पान की सामग्री आती है। पृथ्वी के विज्ञान को पा करके अपने जीवन का विकास होता है।

महादेव ने ज्ञान और सब सामग्री हमें जीवन में धारण करके श्रेष्ठ बनने को दी है। वह सामग्री वेद है, जो प्रकाश (रूप) से जाने जाते हैं। (चौथा पुष्प, २८-७-६३ ई.)

६-विश्वकर्मा : परमात्मा का नाम विश्वकर्मा भी है। उसने अपनी कारीगरी से संसार को बनाया है। बहत्तर करोड़, बहत्तर लाख, दश हजार दो सौ, दो (७२,७२,१०,२०२) नाड़ियां वाले इस मानव शरीर को माता के गर्भस्थल में निर्मित किया है। प्रत्येक मानव व देवकन्या का रूप पृथक्-पृथक् है। ऐसा कहते हैं कि यह सब अपने कर्मों के अनुसार हो रहा है। परन्तु स्वयम् कोई दुःखों को भोगने क्यों जायेगा? उसको फल देने वाला परमात्मा है। राजा केवल भौतिक अपराधों का ही फल दे सकता है परन्तु मानव जो पाप, मन और बुद्धि से करता है, उसको वह गणपति देखता है, उसका फल वही देगा, राजा नहीं दे सकता। (पाँचवाँ पुष्प, १८-८-६२ ई.)

७-मित्र : वेदों ने परमात्मा को मित्र कहा है। जो प्रभु से मित्रता

कर लेता है उसे संसार में किसी मानव को मित्र बनाने की आवश्यकता नहीं है। वह ऐसा मित्र है कि हमारे हृदय की सब इच्छाएँ पूर्ण होती रहती हैं। परमात्मा अनन्त है, तो आत्मा भी उसके प्रवाह में आकर अनन्त बन जाता है। जब वह प्रभु को मित्र बना लेता है तो उसके गुण उसमें आ जाते हैं। तब जैसा मित्र अनन्त है, वैसे ही मित्र-भाव भी अनन्त हो जाते हैं।

आत्मा का परममित्र परमात्मा है

प्रभु को मित्र वही बना सकता है जो इस प्रकृति के आवेशों को, अपने स्वार्थों को तथा अपनी क्लिष्टताओं को त्याग देता है और उसकी प्रभु में श्रद्धा हो जाती है। प्रभु ऐसा मित्र है कि उसको मित्र विचारने से मानव की कान्ति, मानव विश्वास ऐसा विचित्र बन जाता है कि यह संसार उसके लिये तुच्छ बन जाता है। यह आत्मा मधुर बन कर उस प्रभु के आँगन में गायत्री माता की गोद में चला जाता है, जहाँ जाकर कोई अवगुण नहीं रहता। वह ऐसा पवित्र आत्मा बन जाता है कि वह प्रभु आपसे आप अपने आँगन में धारण कर लेता है।(सातवाँ पुष्प, १२-७-६२ ई.)

वास्तव में संसार भर में मनुष्य का साथी वह केवल प्रभु है, अन्य कोई नहीं। यह आत्मा जब भी प्रशंसा करेगा, आत्मानुकूल जो भी वाक्य होगा वह माता प्रभु के सम्बन्ध में होगा, जिसकी गोद में बैठकर उसने जीवन पाया है और संसार की महत्ता को जाना है। (तीसरा पुष्प, ७-४-६२ ई.)

८-राम : 'राम' शब्द रमय (रम्) धातु से बनता है। प्रत्येक

मानव, प्रत्येक देवकन्या के हृदय में जिसका रमण है, उसको 'राम' शब्द से पुकारा जाता है। 'राम' परमात्मा का नाम है जो प्रत्येक प्राणी के, योगी के हृदय में रमण कर रहा है तथा जिसने संसार का निर्माण किया है। (तीसरा पुष्प, ७-४-६२ ई.)

परमात्मा का अवतार नहीं

९-कृष्ण : अन्धकार का स्वामी होने से परमात्मा का नाम कृष्ण भी है। वह हमारे अन्तःकरण में विराजमान है। परमात्मा के विषय में यह उच्चारण करना उचित नहीं है कि वह योगी बनकर आ गया। अर्थात् राम, कृष्ण को परमात्मा मानें यह सर्वथा असंगत है। परमात्मा को संसार में जन्म धारण करने की क्या आवश्यकता है? (तीसरा पुष्प, १८-७-६३ ई.)

१०-गणपति : गणपति परमात्मा का नाम है जो सर्वगणों का पति है, संसार में गणना के तुल्य है। उस परमात्मा को गणेश भी कहते हैं। परमात्मा संसार की मन्द सुगन्ध को अपने में धारण करने के कारण भी गणपति कहलाता है। क्योंकि गणेश उसको कहते हैं, जिसकी घ्राण शक्ति प्रबल हो। (सातवाँ पुष्प, ७-३-६२ ई.)

११-माता-पिता : परमात्मा को माता-पिता दोनों कहा जाता है। माता इसलिये कि वह शून्य प्रकृति को सत्ता देकर हमें जनने वाली है। उसकी वाणी हमें पवित्र बना देती है तथा दुर्गुणों का नाश कर देती है।

पिता इस प्रकार कि वह हमारा पालन करता है और हमारे लिये सृष्टि को प्रारम्भ करता है।

हम परमात्मा के गर्भ में रहते हैं इसलिये वह हमारा माता-पिता दोनों है। (छठा पुष्प, प्रथम प्रवचन)

१२-ब्राह्मण : परमात्मा का नाम ब्राह्मण भी है। ब्राह्मण उसी को कहते हैं जो प्रकाश देने वाला हो। प्रकाश भी कई प्रकार के होते हैं। एक 'अनुमन्तृ' प्रकाश होता है जो परमात्मा की महामाया से पृथक् होता है।

प्राकृतिक ज्ञान मधु गान होता है, यह ज्ञान वेदों के व्याख्यानों से प्राप्त होता है। आत्मा का प्रकाश भी परमात्मा का दिया हुआ है। परमात्मा हमारी आत्मा में बैठा हुआ हमें प्रकाशित कर रहा है। उसी को ब्राह्मणों का ब्राह्मण कहा जाता है। ब्राह्मण उसी को कहा जाता है जो प्रकाशमान होता है। (दूसरा पुष्प, ३-४-६२ ई.)

१३-दुर्गा (दुर्गे) : परमात्मा का नाम दुर्गा भी है क्योंकि वह दुर्गेवेति है, हमारे दुर्गुणों को समाप्त करने वाला है। आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध बालक और माता जैसा है। परमात्मा माता दुर्गा है तथा आत्मा उसका बालक है। दुर्गा नाम इसलिये भी है कि वह संसार का उत्पन्न करने वाला है इस शून्य प्रकृति को प्राणरूप सञ्ज्ञा देने वाली है जिससे यह अपना कार्य करने लगती है। जो परमात्मा आनन्द का देने वाला है, सुख की वृष्टि करने वाला है, उस परमपिता परमात्मा को दुर्गेवेत्ति नामों से उच्चारण किया जाता हैं। दुर्गे मानव के दुर्गुणों को दूर करती है। (छठा पुष्प-प्रथम प्रवचन)

१४-सरस्वती : प्रभु का नाम सरस्वती भी है जो हमारे कण्ठ में विराजमान होकर माधुर्य प्रदान करे और हम अपने जीवन को ऊँचा

बना सकें। (छठा पुष्प,प्रथम प्रवचन)

१५-वसुन्धरा : परमात्मा का नाम वसुन्धरा भी है क्योंकि यह ब्रह्माण्ड उसी के आश्रित होकर भ्रमण करता है। (बारहवाँ पुष्प, ८-४-६१ ई.)

उस परमात्मा, विश्वकर्मा, विष्णु, ब्रह्मा, शिव ने नाना प्रकार से सृष्टि को चला रखा है। (पाँचवाँ पुष्प, १९-८-६२ ई.)

परमात्मा किसी स्थान में निर्गुण माना है क्योंकि उसमें आकृति नहीं होती। कहीं सगुण भी स्वीकार किया जाता है क्योंकि सन्निधानमात्र से ही उसको पृथक् स्वीकार किया जाता है। वास्तव में परमात्मा को निर्गुण रूपों में ही स्वीकार करना बहुत सुन्दर होगा क्योंकि आत्मा का अपना अस्तित्व होता है और प्रकृति का अपना अलग। अस्तित्व होता है (ग्यारहवाँ पुष्प, १२-४-६४ ई.)

परमात्मा के विशेष कार्य

परमात्मा के विशेष गुण हैं। १-सृष्टि को उत्पन्न करना। २-सृष्टि का प्रलय करना। ३-जीवात्माओं को पाप-पुण्य का फल देना। ४-संसार का पालन करना। (प्रथम पुष्प, २-४-६२ ई.)

परमात्मा सर्वव्यापक है तथा विशेष वैज्ञानिक है। उसकी प्रेरणा से यह आत्मा इस शरीर में रमण कर रहा है। प्रकृति का सम्बन्ध परमात्मा से होने के नाते इसमें गति आ जाती है। इसी प्रकार चैतन्य का सम्बन्ध महाचैतन्य परमात्मा से होकर इस शरीर में कार्य कर रहा है।(सातवाँ पुष्प, ३-४-६४ ई.)

परमात्मा कर्त्ता या अकर्त्ता

इस सम्बन्ध में ऋषियों का एक पक्ष कहता है कि परमात्मा ने सृष्टि को नहीं रचाया, वह अकर्त्ता है।

दूसरा पक्ष कहता है कि वह कर्त्ता है, उसने सृष्टि को रचा है। दूसरे पक्ष का तर्क यह है कि प्रभु सर्वगुण सम्पन्न कहलाता है। कोई व्यक्ति जब किसी आकार को रचता है, तो उसमें बुद्धि भी होनी चाहिये तथा मन का सङ्कल्प भी, किन्तु परमात्मा में यह विशेषता है कि वह मन तथा बुद्धि के न रहते हुए भी सब कुछ कर देता है वह सृष्टि रचता है तथा प्रलय करता है।

जब प्रलय-काल आता है तो प्रकृति का रूपान्तर होकर उसकी सत्ता, चैतन्य सत्ता परमात्मा में रमण कर जाती है और प्रकृति में बहुत सूक्ष्म कम्पन रह जाता है। इस सूक्ष्म कम्पन का सम्बन्ध परमात्मा से हो जाता है, मिलान होकर प्रकृति का रूपान्तर हो जाता है।

इसके विपरीत प्रथम पक्ष का तर्क यह है कि प्रकृति तथा परमात्मा के मध्य जो स्थिति है, उसे पंच-तन्मात्राएँ कहते हैं। जिन तन्मात्राओं का सम्बन्ध अन्तःकरण से होता है, उन्हीं का प्रकृति से भी है तथा परमात्मा से भी है। पंच-तन्मात्राओं का प्रकृति, अन्तःकरण, आत्मा और परमात्मा से मिलान होता है तो उसे बुद्धिमय विज्ञान कहते हैं। बुद्धि का सम्बन्ध अपने मनोमय स्वरूप में पहुँच जाता है जिसको मनोमय विज्ञान कहते हैं, बुद्धि विस्तारवादी बन करके उसका सम्बन्ध आत्मा से होता है। आत्मा का सम्बन्ध परमात्मा से होता है। यह आत्मा परमात्मा से सहायता प्राप्त करता है। आत्मा-

परमात्मा के मध्य जो वस्तु है उसे तन्मात्रा-विधारिणी या अन्ततः पंच-तन्मात्राएँ कहते हैं। इन पंच-तन्मात्राओं के सम्बन्ध से आत्मा को कार्यों का फल प्राप्त होता है। जिस प्रकार गुरु और शिष्य के मध्य मिलान करने वाला पदार्थ ज्ञान है, उसी प्रकार आत्मा और परमात्मा के मध्य पंच-तन्मात्राएँ हैं।

इन दोनों पक्षों में अधिक अन्तर नहीं। अन्त में इस निर्णय तक पहुँचते हैं कि परमात्मा कर्त्ता है। उसके बुद्धि नहीं, मन नहीं, घ्राण नहीं, हस्त, पग, उदर भी नहीं परन्तु उसने सब कुछ रच दिया। उसने चक्षु बना दिये, जिनसे देख सकते हैं, प्रकृति में सुगन्ध को उत्पन्न कर दिया, जब कि स्वयम् असुगन्धित है। उसे अकर्त्ता नहीं माना जा सकता क्योंकि वह कार्य करता है।

प्रभु को अकर्त्ता इसलिये कहा जाता है कि उसने सब कुछ दिया, परन्तु (स्वयम्) उससे भिन्न है। इसके द्वारा सबका सम्बन्ध है। प्रकृति और आत्मा से उनका सम्बन्ध होने से ही सब कार्य हो रहा है किन्तु वह शुद्ध चैतन्य अकर्त्ता ही माना जाता है।

निष्कर्ष यह है कि प्रभु न तो किसी के आश्रय में हैं और न बन्धन में वह कर्त्ता, अकर्त्ता दोनों है। (आठवाँ पुष्प, ३-४-६४ ई.)

हम ब्रह्म की चेतना को स्वीकार करते हुए ब्रह्म में परिणत होते चले जायें, ब्रह्म में ही लीन होते चले जायें, जो सर्वत्र ओत-प्रोत है। प्रकृति उसी के सन्निधान से अपना कार्य कर रही है। परमात्मा अकर्त्ता रहता है, उसी में हमारा परिणत हो जाना, उसी में समाधि हो जाना, वह मुक्ति का सबसे प्रबल साधन उन्नत प्रदीप माना गया

है। (ग्यारहवाँ पुष्प, १३-४-६९ ई.)

अखण्ड ज्योति

प्रभु की चेतना को अखण्ड ज्योति कहा जाता है क्यांकि ज्योति के रूप में परिणत रहने वाला वह प्रभु है। माता के गर्भ स्थल में वह जरायुज भी अखण्डमयी माँ-ज्योति के आधार पर ही स्थित रहता है। मानव के उदर की जो जठराग्नि है, वह पान किये पदार्थों को नाना रूपों में परिणत कर देती है। यह वही अखण्ड ज्योति है। जब वह अखण्ड रूपों में मानव के शरीर में परिणत रहती है तो उस ज्योति को पान करने वाला तथा अपने में धारण करने वाला मानव विज्ञान की रूपरेखा को बनाने लगता है एवम् उस अखण्ड ज्योति को अपने में स्वयम् धारण करता है।

मानव के शरीर में अखण्ड ज्योति जागरूक रहती है। जब वह अपने विशेषाधिकारों को त्यागकर लोक में प्रचलित हो जाती है, तो उस समय मानव का शरीर ज्योतिषमान न रहकर शव बन जाता है तथा उस मानव का कोई अस्तित्व नहीं रहता।

हमें उस ज्योति पर विचार करना चाहिये जो हृदय में, चन्द्रमा में, पृथ्वी में, आपो में, वायु में, अन्तरिक्ष में प्रदीप्त हो रही है तथा द्यु-लोक को चेतनित बनाने वाली है। वह ज्योति एक चेतना है।

जिसको अखण्ड ज्योति का प्रकाश प्राप्त हो जाता है, वह अखण्ड ज्यातिर्मय बन जाता है। यह ज्योति मानव के ब्रह्मरन्ध्र में प्रदीप्त रहने वाली है तथा हृदय में हृदय लिङ्गमय ज्योति कहलाती है।

जिसका स्वरूप सर्व-ब्रह्माण्ड में पिण्डाकार प्रतीत होता है। जब

मानव समाधिस्थ होते समय ब्रह्मचर्य में चरने लगता है तो उसी ज्योति के प्रकाश में चलता है। जैसे सर्प अपनी मणि के प्रकाश में चर-चर कर अपने उदर की पूर्ति करता है, इसी प्रकार योगीजन ज्योति के प्रकाश को जानते हैं तथा ब्रह्मचारी होते हैं। वे उस ज्योति के प्रकाश में ब्रह्म को चरते हैं।

जब वे ज्योति को जागरूक करते हैं तो ब्रह्मचर्य की ऊर्ध्वगति बन जाती है। जैसे ज्योति की ऊर्ध्वगति होती है। जो अखण्ड ज्योति सर्वत्र जागरूक हो रही है उसी का नाम ब्रह्म है। उसको जानने का प्रयास करें। (अट्ठारहवाँ पुष्प,पृष्ठ-८३)

३ तृतीय अध्याय-आत्मा-परमात्मा-सम्बन्ध

आत्मा-परमात्मा का सम्बन्ध ऐसा ही है जैसे माता व पुत्र का तथा पिता और पुत्र का। परमात्मा को प्रत्यक्ष तथा साक्षात्कार करने से पहले अपनी आत्मा को अच्छी प्रकार से जानें, समझें, आत्मा में उस परब्रह्म को पावें। तब यह आत्मा भी परब्रह्म को पाकर 'ब्रह्म' बन जायेगा। परब्रह्म कदापि नहीं बनेगा।

ऐसा न होने पर यह आत्मा कर्मों के चक्रों में फिरता रहेगा। आत्मा में अपूर्णता है, सीमितता है, हम इस काल-कोठरी में, अजिर (आँगन,चौक) में, शरीर में आये हुए हैं। हमारे ज्ञान-विज्ञान, कार्य और नियम आदि सभी सीमित हैं। सृष्टि के आरम्भ में यह आत्मा परमात्मा से कहता है कि हे परमात्मन् ! हमारे लिये पूर्व की भाँति सृष्टि का प्रारम्भ करो। हम इस संसार में आना चाहते हैं। अपने शेष

कर्मों को किसी न किसी प्रकार पूरा करना चाहते हैं। (प्रथम पुष्प, १-४-६२ ई.)

जीव की प्रार्थना

जब जीवात्मा मन के साथ माता के गर्भ में निवास करता है, उस समय यह न तो व्याकुल होता है और न श्वास लेता है, न अपने मुख से परमात्मा की स्तुति आदि ही कर पाता है, तो भी इसका सम्बन्ध मन के द्वारा परमात्मा से रहता है। उस समय परमात्मा की सेवा में कहता है कि हे प्रभु ! मैं इस अन्धकार से पृथक् होना चाहता हूँ। यहाँ मुझे कर्म करने का अवसर नहीं मिल रहा है। मुझे उस तेज को दो, उस प्रकाश को दो, जिससे संसार क्षेत्र में आकर कर्म करने के लिये उद्यत हो जाऊँ।

यह आत्मा जिस प्रकार गर्भ में रहता हुआ याचना करता है उसी प्रकार प्रलयकाल में भी जीवात्माएँ अन्धकार से निकलने की याचना करते हैं, उस समय परमात्मा नियम के अनुसार संसार को उत्पन्न कर देते हैं। (प्रथम पुष्प, २-४-६२ ई.)

जैसे शीत से पीड़ित मानव अग्नि के समीप चला जाये तो ज्यों-ज्यों उसमें अग्नि के परमाणु प्रवेश करते जायेंगे, त्यों-त्यों उसका शीत दूर होता जायेगा।

इसी प्रकार जो मानव परमात्मा के गुणों को जान लेता है और ज्यों-ज्यों, शनैः शनैः परमात्मा के गुण उसमें प्रविष्ट होतें जाते हैं, त्यों-त्यों वह परमात्मा के नियमों में घिर-घिर कर कार्य करने लगता है।

आत्म-समर्पण

संसार में उसी का जीवन उच्च है जो किसी का हो जाता है, जो किसी का नहीं होता वह संसार में अधूरा बना बैठा रहता है। जब तक ज्ञानरूपी अग्नि में आत्मा ने स्नान नहीं किया, अपने दोषों को भस्म नहीं किया, तब तक आत्मा, परमात्मा से विमुख ही रहता है। (दूसरा पुष्प, ३-४-६२ ई.)

आत्मिक विज्ञान पर विचार करने से हम पाते हैं कि इस आत्मा का सम्बन्ध उस शुद्ध चैतन्य से है, जो ज्ञान का भण्डार है जिसमें अन्धकार का चिन्ह भी नहीं। जब आत्मा अन्धकार को शान्त करके आत्मिक विज्ञान का जिज्ञासु बन करके परमात्मा के ऊँचे स्थल में पहुँच जाता है तो वहाँ आत्मा का विकास हो जाता है। विकास होकर उसका सम्बन्ध शुद्ध चैतन्य से हो जाता है, उस समय आत्मा की मुक्ति हो जाती है। (आठवाँ पुष्प, ३-४-६४ ई.)

आत्मा-परमात्मा दोनों प्रकाशक हैं

हमारा आत्मा भी प्रकाशक है और ब्रह्म भी प्रकाशक है। आत्मा के प्रकाश से यह शरीर प्रकाशित होता है। तथा परमात्मा के प्रकाश से यह विश्व प्रकाशित होता है। (बारहवाँ पुष्प, ८-३-६९ ई.)

प्रभु की अनुपम प्रतिभा मानव को चेतनित करती रहती है। इसके अन्तःकरण में क्या, हृदय रूपी गुफा में एक अनुपम धारा मानव के समीप नित्यप्रति उस चेतना से प्राप्त होती रहती है, जैसे जब दिवस आता है, रात्रि सूर्य के गर्भ में लय हो जाती है तो मानव को एक नवीन चेतना प्राप्त होती है। वह चेतना मानवीय चेतना है।

उस चेतना का जो स्रोत है, उसी को परमपिता परमात्मा की चेतना कहा जाता है। जैसे जल अपने आसन पर दीर्घ गति से रमण रहा है। इसी प्रकार मानव के जीवन में भी एक महत्ता की प्रतिभा, महान् चेतना उस मानव के हृदय में ओत-प्रोत हो जाती है, जिसको आत्मिक चेतना कहते हैं, ब्रह्म चेतना भी कहते हैं। (बारहवाँ पुष्प, २-८-७० ई.)

परमात्मा हमारे आत्मा के सामने बैठा है। मानव जो भी कर्म करता है, उसके संस्कार उनके अन्तःकरण में नियुक्त हो जाते हैं। जब आत्मा तुच्छ कर्म करने को चलता है, तो उसे सङ्केत मिलता है कि अरे मानव ! यह कुमार्ग है। इस पर न जा। कर्म कर देने पर परमात्मा उसे अन्तःकरण में नियुक्त कर देता है। उसका भोगना हमें अनिवार्य है। बिना भोगे काम न चलेगा। यह कहना मिथ्या है कि तपस्या से उन्हें समाप्त किया जा सकता है। जब तक अन्तःकरण में संस्कार हैं, तब तक भोगते रहेंगे। जिज्ञासु इन्हें भोगने के पश्चात् नये संस्कार नहीं बनने देता, इसीलिये उसे भोगने के लिये भी कुछ नहीं रहता। (तीसरा पुष्प, १९-३-६२ ई.)

नास्तिकता का मूल

मानव का हृदय तथा आत्मा नास्तिक नहीं होते। प्रकृति के आवेशों में आकर बुद्धि नास्तिक बन जाती है। मन का संकल्प इतना सूक्ष्म बन जाता है कि वह संसार के ऐसे तत्त्व बटोर कर उसके समक्ष प्रस्तुत कर देता है कि वह भौतिकता में आकर परलोक का विचार ही छोड़ देता है। वह अपने जीवन और सृष्टि को यही तक

सीमित कर लेता है। इसी से हृदय में नास्तिकता आ जाती है। यह नास्तिकता तब तक रहती है, जब तक मन के आवेशों में रहता है।

यहाँ प्रश्न है कि मन जड़ है, यह आत्मा से प्रकाश पाता है। अतः वह नास्तिकता का प्रदाता क्यों है?

इसका उत्तर यह है कि हमारे अन्तःकरण में ऐसे संस्कार जमे हुए हैं, जिससे इस आत्मा के प्रकाश का दुरुपयोग करते हैं। अपने इन तुच्छ संस्कारों के वशीभूत होकर हमारा आत्मा कष्ट को प्राप्त हो जाता है। हमें इससे छुटकारा पाने का प्रयत्न करना चाहिये। एक नास्तिक भँवर में फँसी नाव के समान है। वह न तो दुराचारी है, न क्लिष्ट है परन्तु भौतिकवाद में पहुँच जाता है। और न इतना उच्च है कि आत्मा की रश्मियों को अपने में धारण करने वाला हो। उसकी नौका डूब ही जाती है और वह ऐसी योनियों में पहुँच जाता है कि जहाँ परमात्मा का नाम लेने से तो गया, आत्मा का प्रकाश भी उसके समक्ष नहीं आयेगा।

नास्तिक उसको ही नहीं कहते, जो परमात्मा का चिन्तन नहीं करता बल्कि सबसे बड़ा नास्तिक वह है, जो कण्ठ के ऊपर-ऊपर परमात्मा का चिन्तन कर रहा है, परन्तु हृदय में महान् क्लिष्टता है। वह परमात्मा की अमृतमयी आड़ में महान् पाप करता हैं। इनसे तो ईश्वर को न मानने वाला ही अच्छा है।

ईश्वर की सत्ता को न मानने वाला भी नास्तिक सुन्दर नहीं कहा जा सकता। उसका यह कहना यथार्थ नहीं कि सृष्टि आप ही आप बन गयी है। अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी आदि जड़ पदार्थों को मिलाने

के लिये कोई न कोई चेतन सत्ता अवश्य होती है, उसको जानना ही आस्तिकता है। (सातवाँ पुष्प, १२-७-६२ ई.)

आत्मा का परमात्मा से सम्बन्ध हो जाने पर वाणी उस स्थिति का उच्चारण कर सकती है या नही?

इसके दो पक्ष हैं। १. प्रथम पक्ष यह है कि जब इस शरीर से ऋतम्भरा बुद्धि प्राप्त हुई, ऋतम्भरा बुद्धि का सम्बन्ध परमात्मा से हुआ, और आत्मा का विकास हो गया। इन्द्रियाँ आत्मा और मन से सम्बन्धित हैं, मन बुद्धि से सम्बन्धित है, बुद्धि आत्मा से सम्बन्धित है और आत्मा परमात्मा से सम्बन्धित है। परमात्मा का सम्बन्ध प्रत्येक पदार्थ से रहता है। सभी प्रकृति तथा आत्माओं से रहता है।

जिस प्रकार आत्माएँ एक दूसरे से सम्बन्धित हैं, इसी प्रकार परमात्मा हम सबसे सम्बन्धित है। इन्द्रियों का सम्बन्ध मन से है, मन का बुद्धि से है, बुद्धि का विकास हो जाता है। आत्मा का सम्बन्ध बुद्धि से है, बुद्धि का मन से हुआ, मन के द्वारा इन्द्रियाँ काम करने लगीं। मन प्रतिबिम्ब है। मन के द्वारा शुद्ध प्रतिबिम्ब आया और इन्द्रियों ने जैसे का तैसा उच्चारण कर दिया। इस प्रकार से उस आत्मा का सम्बन्ध वाणी से हो गया।

२-द्वितीय पक्ष : द्वितीय पक्ष कहता है कि आत्मा परमात्मा के मिलान होने पर इन्द्रियों से सम्बन्ध नहीं रहता। उनका तर्क यह है कि जब आत्मा परमात्मा से आनन्दित हो जाता है तो जो आनन्द प्राप्त होता है, वह बुद्धिमय कोष में होता है। जब आत्मीय कोष प्राप्त हो जाता है, तो बुद्धिमय कोष से उसका सम्बन्ध त्याग दिया जाता है।

बुद्धि का मन से, मन का इन्द्रियों से सम्बन्ध बिच्छेद हो जाता है। इस प्रकार आत्मा का परमात्मा से मिलान होने पर उसका सम्बन्ध इन्द्रियों से नहीं रहता।

निष्कर्ष यह है कि जितना विस्तार आत्मा का परमात्मा से मिलान होने पर हुआ और जितना बुद्धि का हुआ, उतना मन का विस्तार हुआ। जितना मन का विस्तार हुआ उतना इन्द्रियों का विस्तार हो गया। जब इन्द्रियों का विस्तार हो गया तो सब इन्द्रियाँ शुद्ध और पवित्र बन गयीं।

जो वे कर्म करेंगी वे सुन्दर ही करती चली जायेंगी। जहाँ वह आत्मिक विज्ञान वाला, तत्त्व विज्ञान वाला जाता है, उसें जो सुगन्धि आती है, वह सत्य ही सत्य प्रतीत होता है। उसका इतना विस्तार हो जाता है। (आठवाँ पुष्प, ३-४-६४ ई.)

आत्मा-परमात्मा का अन्तिम विषय अनिर्वचनीय है। इसका कारण यह है कि जब प्राण मन दोनों की सहकारिता करके मिलान कर देते हैं तो आत्मा प्रकाश को प्राप्त हो जाता है। जब तक चित्त रहता है तब तक आत्मा का रूप बना रहता है और भिन्नता में यह संसार दृष्टिपात आता है। आत्मा और ब्रह्म को एकता में लाने का विषय वाणी का नहीं। (अट्ठारहवाँ पुष्प, १३-४-७२ ई.)

बन्धन और मोक्ष

मानव को दूरदर्शी बन कर यह विचारना चाहिये कि जब समय आने पर इस सृष्टि तथा उसके जीवन का रूपान्तर हो जायेगा, उस समय हम क्या करेंगे? इसलिये उस रूपान्तर होने से पहले हम उस

ज्ञान तथा महत्वदायक पदार्थ को प्राप्त करलें जिससे वह भावी परिवर्तन हमारे लिये महत्वहीन हो जायेगा।

मोक्ष प्राप्ति कैसे?

जब यह आत्मा इस शरीर रूपी क्षेत्र में आकर उच्च कर्म करता हुआ तथा प्रकाश का संचय करता हुआ, कर्मों का फल भोग कर समाप्त कर लेता है तब यह परमानन्द को प्राप्त हो जाता है, उस समय आत्मा भौतिक पदार्थो से अलग होकर परमपिता की गोद में पहुँच कर परमानन्द प्राप्त करने वाले रूप में रूपान्तर हो जाता है। यह रूपान्तर हमारी स्थूल भौतिक दृष्टि से हमें प्रतीत नहीं हो पाता। जब यह आत्मा यत्न करके परमात्मा को जान करके उस स्वर्गीय सृष्टि का जानने वाला बन जाता है, उस समय जीव परमात्मा को जानने वाला बनकर परमात्मा को पा लेता है। उस परमात्मा को जाने बिना यह कुछ भी नहीं जान पाता। (दूसरा पुष्प, ३-४-६२ ई.)

बिना मोक्ष के यह आत्मा प्रकृति के आँगन में रमण करता है। प्रकृति के आँगन में रमण करने का अर्थ यह है कि यह आत्मा संस्कारों के जगत में रमण करता रहता है। संस्कार मन की आभा है। अतः यह मन की आभा में रमण करता रहता है।

मन प्रकृति का सबसे सूक्ष्म तत्त्व है। यह मन संसार में भी है तथा मानव शरीर में भी है। 'विश्वभानमन' (समष्टि मन) प्रकृति के पृथ्वी, चन्द्रमा, सूर्य आदि नाना लोक-लोकान्तरों के गर्भ में भी है और अपना कार्य कर रहा है। अतः मन जितना पवित्र होगा, शोधित किया हुआ होगा, मानव को उतनी मानवता का यौगिक दर्शन होता

है तथा वह महत्ता को प्राप्त होता रहता है। अतः हमें मनुष्यत्व को जानने की आवश्यकता है।

यह मन प्रकृति का सबसे सूक्ष्म तत्त्व है तथा प्राण की जो अनुपम चेतना है, यही ब्रह्म की, महत्ता की चेतना है। इस चेतना के आधार पर ही प्रकृति का तथा उसके तत्त्वों का विभाजन होता रहता है। तत्त्वों का विभाजन हो जाने के पश्चात् उसकी विभाजनता अप्रेत (नियत) रहती है।

इस प्रकार यह आत्मा जब तक मन अर्थात् प्रकृति और मनुष्यत्व के आँगन में रहता है, तब तक इस आत्मा के साथ संस्कारों का जगत रहता है। अतः यह संस्कारों का जगत प्रकृति का जगत माना जाता है। योगसिद्ध आत्माओं ने ऐसा बताया है कि इस आत्मा को जानने के लिये प्रकृति के १३६ जगत हैं, स्थूल शरीर के ४०, सूक्ष्म शरीर के ६० तथा कारण शरीर के भी उसी प्रकार ३६ जगत हैं। यह जीवन जगत के, प्रकृति के आँगन में रमण करता रहता है। इस आत्मा को इतने जगतां में रमण करने के पश्चात् मोक्ष की प्राप्ति होती है। यहाँ केवल एक जगत रहता है, जिसको आनन्दमय लोक कहते हैं।

यहाँ मानव ब्रह्म में प्रवेश करके उसकी आभा में रमण करने लगता है। जब प्रकृति के आँगन में यह आत्मा रहता है तो यह मन के ही आँगन में रमण करता रहता है तथा उसी को अपना सहमन्त्री स्वीकार करता रहता है। इस प्रकार यह प्रकृति के क्षेत्रें में, संस्कारों के क्षेत्रें में रमण करता रहता है।

संस्कारों का अभाव मोक्ष है

जब मोक्ष होता है तो संस्कार नहीं रहते। संस्कारों के न रहने का नाम ही मोक्ष है। उस समय प्रकाशमय स्वरूप आत्मा परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। जैसे काष्ठ की समिधाओं में अग्नि होती है। जब उसको यज्ञशाला की अग्नि में प्रविष्ट किया जाता है तो उस अग्नि में जो प्रकाश तथा तरंगें उत्पन्न होती हैं, उनकी ऊर्ध्वगति होती है।

इसी प्रकार यह आत्मा इस शरीर में रहता हुआ भी संसार से उदासीन रहना चाहता है। यह किसी काल में स्वर्ग की प्राप्ति में चला जाता है, तो किसी काल में मोक्ष की कल्पना करने लगता है। यह संसार से ऊब जाता है क्योंकि इसकी गति ऊर्ध्वा होनी चाहिये।

आत्मा की जो तरंगें हैं वे ऊर्ध्वा हैं, इसी प्रकार यह आत्मा परब्रह्म परमात्मा की आभा को जानने के पश्चात् संसार की आभा में आभासित हो जाता है तथा उसी में रमण करने लगता है।

परमात्मा आत्मा का सखा है

इसलिये वह परमात्मा आत्मा का सखा है। यह सखा को प्राप्त होने के पश्चात् आनन्दित रहता है। जैसे क्षुधा से पीड़ित बालक माता की लोरियों को प्राप्त करने के पश्चात् आनन्द प्राप्त करता है, क्योंकि परमात्मा आत्मा का सखा है। अतः मोक्ष की विचारधारा इसमें स्वाभाविक आती रहती है और यह उसी में रमण करता हैं। (अट्ठारहवाँ पुष्प, ११-४-७२ ई.)

मोक्ष की अवधि

एक सृष्टिकाल में यह आत्मा श्रेष्ठ कर्म करता हुआ परब्रह्म को पाकर ब्रह्म बन जाता है। इसीलिये इसे ब्रह्म का दिन कहते हैं। उस अवधि का माप इस प्रकार से है कि

(१) सतयुग १७,२८,००० मानव वर्ष ।

(२) त्रेतायुग १२,९६,००० '' ।

(३) द्वापरयुग ८,६४,००० '' ।

(४) कलियुग ४,३२,००० '' ।

अतः एक चतुर्युगी ४३,२०,००० '' की हुई।

७१ चतुर्युगियों का एक मन्वन्तर, १४ मन्वन्तरों का एक सृष्टि काल या ब्रह्म का दिन। इसके पश्चात् प्रलयकाल इतने ही वर्षों का, यह ब्रह्म की रात्रि है। दो हजार चतुर्युगी का एक ब्रह्म दिन, एक ब्रह्म रात्रि होते हैं अर्थात् ब्रह्म का एक अहोरात्र होता है।

३६० अहोरात्रों का एक ब्रह्म वर्ष होता हैं। एक सौ वर्षों की ब्रह्म की शतायु या महाकल्प होता है अर्थात् आत्मा ब्रह्म बनकर शतायु होने तक मोक्ष में रहता है। (अर्थात् ३६०'१०० =३६००० बार सृष्टि की रचना तथा प्रलय-काल को महाकल्प-काल कहा जाता है)।

इसके पश्चात पुनः संसार में जन्म लेता है। मानव जीवन का उद्देश्य यह है कि वह परमानन्द को पाता रहे, तथा उसमें ब्रह्म की पूर्णायु होने तब रमण करता रहे।

इस संसार का सुख क्षणभङ्गुर है। उसकी तुलना में मोक्ष का सुख बहुत महान्, विशाल और विस्तृत है। यही मोक्ष-प्राप्ति का महत्व है।(प्रथम पुष्प, ९-२-६२ ई.)

मोक्ष का परमानन्द अनिवर्चनीय है

जब आत्मा उस प्रभु की गोद में चला जाता है, तो उस समय उसको परमानन्द प्राप्त हो जाता है। उस आनन्द को आज तक कोई योगी लेखनीबद्ध नहीं कर सका है और न कर सकता है। उस समय वाणी और बुद्धि परमात्मा में लय हो जाती हैं। इसलिये इसका वर्णन कौन करे? वह आनन्द तथा आत्माओं का विषय, बुद्धि व वाणी का विषय नहीं है,अनुभव का है। (पाँचवाँ पुष्प, १८-८-६२ ई.)

परमात्मा का आनन्द

मेरे पूज्यपाद गुरुदेव एक वाक्य ऐसा कहा करते थे कि आन्तरिक जगत से जब बाह्य जगत में प्रवृत्तियों को प्रवेश कर देते हैं और जो परमात्मा का अमूल्य हृदय रूपी चित्त है उस चित्त में जब हमारे चित्त का समन्वय होता है तो कोई लोक ऐसा नहीं रह पाता जिसको यह समाधि के द्वारा दृष्टिपात न कर ले और जितना भी मण्डलवाद है, जितना भी तरंगवाद है, जितना भी रथवाद है, जितना भी मानव के चित्र बन करके शब्द, वह इसके द्वारा प्रवेश करके अपने में अनुभव करने लगता है। अब विचार आता है, चिन्तन करने से प्रतीत होता है कि वह जो अनुभव कर रहा है, उस मानव शरीर में जो अनुभव कर रहा है वह एक चेतना है। यह चेतना देखो मन के द्वारा दृष्टिपात करता रहता है। वह अनुभव में लगा हुआ है, वह अपने ऐसे सूक्ष्म जगत में चला जाता है जिस जगत में नाना प्रकार के जो मोक्ष के निकट आत्माएं होती हैं वह भी कहीं-कहीं उनके लोको में गति करने लगता है। उन गतियों में जब प्रवेश हो

जाता है तो वास्तव में दृष्टिपात करने लगता है।

महर्षि वैशम्पायन ऋषि महाराज ने अपना वाक्य ऐसा निर्णय देते हुए कहा है कि आत्मतत्त्व जो है यह अणु रूप माना है, हृदय रूपी गुफा में इसका वास रहता है और हृदय रूपी गुफा में जब वास रहता है तो वह जो लघु-मस्तिष्क है, ब्रह्मरन्ध्र अवरेत मस्तिष्क है, शम्भूत मस्तिष्क है, ग्रीतीपात मस्तिष्क है, नाना प्रकार के जो मस्तिष्क हैं, उनसे उसका सम्बन्ध रहता है। क्योंकि वह 'कोन्द्राणी व्री क्रिता' वह इस आभा में रमण करता हुआ, मस्तिष्क में एक विचार विनिमय, चिन्तन करने की एक धारा है। क्योंकि जब तक मानव समाधि के द्वारा अपने प्राण और मनस्तत्व दोनों का समन्वय करके जब योगाभ्यास के लिये गति करने लगता है, मन और प्राण दोनों का ही मिलान होता है और दोनों का मिलान करके जब ऊर्ध्वगति बनने लगती है मानों त्रिवेणी के स्थान में जाते ही इसे त्रि-विद्या का भान हो जाता है। यह त्रि-विद्या से अपना संस्कार कर लेता है, उससे अपना मिलान करता है और जब मन और प्राण दोनों की वितकृति बन करके ब्रह्मरन्ध्र को चेताती हैं और वह ऐसा चक्र बन जाता है, गति करने लगता है और उसमें से ऐसी तरंगें उत्पन्न होती हैं जिससे यह ब्रह्माण्ड उसके लिये एक खिलवाड़ बन जाता है। यह अपने अन्तरात्मा में, अन्तर्हृदय में वाक्यों को जानने लगता है। अपने अन्तरात्मा में जो ध्वनि हो रही है, यह जो अन्तरात्मा में नाना प्रकार के यन्त्र मेरे देव ने नियन्त्रित किये हैं, निर्धारित किये हैं । उनके शब्द या शब्दावलियों को श्रवण करने लगता है और वह श्रवण करता

हुआ उसी से अपने कण्ठ के द्वार से, जहाँ शब्दों की रचना होती है, शब्दों की ऐसी रचना होती है, व्याकरण वाले शब्दों से ही व्याकरण उत्पन्न होने लगता है। वह जो स्वर ध्वनि उत्पन्न होती है, स्वर ध्वनि उत्पन्न होते ही शब्दों की रचना प्रारम्भ हो जाती है। कैसा शब्द विज्ञान है कि शब्द आता है, रचना हो रही है, कण्ठ में रचना हो करके बाह्य-जगत हो रहा है। वही तरंगें हैं परन्तु शब्द ले करके पुनः बाह्य जगत में प्रवेश कर जाती हैं। परिणाम क्या होता है कि वही शब्द है जो पृथ्वी की परिक्रमा कर रहा है, वही शब्द है जो सूर्य की किरणों के साथ में गति करने लगता है।

आज मैं इस सम्बन्ध में विशेष चर्चा प्रकट करना नहीं चाहता हूँ। केवल तुम्हें परिचय देने के लिये आया हूँ और वह परिचय क्या है? देखो, कण्ठ में ही वह ध्वनि उत्पन्न होने लगती है, आन्तरिक जगत की ध्वनि है जो कण्ठ से उत्पन्न होने लगती है और कण्ठ से जब ऊर्ध्वभाग में गति करती है, त्रिवेणी के स्थान पर वहाँ मैंने बहुत पुरातन काल में तुम्हें निर्णय कराते हुए कहा था कि वहाँ दो कृतिकाएँ होती हैं, उन दो कृतिकाओं में जब मन और प्राण की वृत्त होती हैं, मानों दो कृतिकाओं की गति होने लगती है, नृत्य करने लगती हैं और उससे ऊर्ध्वगति एक 'मूलाधार अव्रेहा' जिसे हम ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं, जिसका सम्बन्ध मूलाधार से भी है, नाना चक्रों से कहलाया जाता है।

मेरे प्यारे ! आज मैं योगाभ्यास में नहीं ले जा रहा हूँ। केवल विचार यह देने के लिये आया हूँ कि वह जो चित्त का मण्डल है,

जिस चित्त के मण्डल में नाना प्रकार के संस्कार विद्यमान रहते हैं, मन और प्राण के साथ में जब उसकी ब्रह्मरन्ध्र में उसकी उद्बोधता होती है। वह चित्त स्थान से वह सूक्ष्म परमाणु, शब्द विज्ञान की आभा में देखो वह मन और प्राण की आभा का, उनका तारतम्य वह जो चित्रात्मक है, वह जो प्राण रूपी सूत्र है जो सर्वत्र ब्रह्माण्ड में पिरोया हुआ है। मनस्तत्व उस प्राणत्व की गतियो का अनुभव कर रहा है और अनुभव करता हुआ ब्रह्मरन्ध्र जो ज्ञान रूपी चेतना है जिसमें सर्वत्र ब्रह्माण्ड की चेतना है जिसमें ज्ञान और विज्ञान विद्यमान है, वह एक अणु रूप में सन्निधानमात्र से गति कर रहा है।

आज मैं तुम्हें यह उच्चारण करने के लिये आया हूँ कि ऋषि मुनियों का जो मन्तव्य है, उनकी जो विचारधारा है, उनका इस सम्बन्ध में क्या सम्बन्ध रहा है? जब अणु रूपों में परिणत रहती है तो इसका बाह्य-जगत क्या शून्य रहता है? बाह्य-जगत या आन्तरिक-जगत दोनों में किसी प्रकार का अन्तर्द्वन्द्व इस महाकृत (योगी-आत्मा) के लिये नहीं रहता।

आओ मेरे पुत्रो ! आज मैं तुम्हें कहाँ ले गया हूँ। मैं कोई विशेष चर्चा तुम्हें प्रकट करने के लिये नहीं आया हूँ। क्योंकि हमारे यहाँ ऐसा माना है, इस प्रिय मार्ग में हम आत्मा को क्या स्वीकार करें? परन्तु वैदिक आचार्यों ने नाना रूपों में इस आत्मा को अणु रूपों में माना है और यह अणु ऐसा है कि सन्निधानमात्र से इस मानव शरीर की प्रतिक्रियाएँ या गति कर रही हैं और गति करती हुई, इसका केवल सन्निधानमात्र प्रकृति से मण्डल का व्यापार प्रारम्भ हो जाता है

और जब वह प्रारम्भ हो जाता है इससे ज्ञान की तरंगें आती हैं परन्तु यह सन्निधानमात्र से आना कार्य क्रम प्रारम्भ हो रहा है। ऐसा मन्तव्य महर्षि वैशम्पायन का रहा है। ऐसा ही मन्तव्य हमारे यहाँ महर्षि विभाण्डक मुनि महाराज का रहा है।

आगे रहा यह वाक्य कि आत्मा निर्भय, निर्वैर है या कृतिकदा है। परन्तु यह अनुभव का विषय रह जाता है। यह केवल अनुभव ही कर सकता है। यह आनन्द ले रहा है, यह आनन्द केवल एक अनुभव का विषय रह जाता है क्योंकि आनन्द का जो विषय है वह कारण शरीर में ही इस मानव का आत्मा होता है यहीं आनन्दत्व माना जाता है क्योंकि हमारे यहाँ स्थूल से सूक्ष्म शरीर है और सूक्ष्म से कारण शरीर कहलाता है। यह जो कारणमय शरीर है, यह जो एक पुष्प बना हुआ है उस कारण शरीर में जो अनुभव होता है, वह जो चेतना का अनुभव होता है वह अनुभव का विषय रहता है। उस आनन्द से, सृष्टि से, प्रारम्भ से क्या मध्यमकाल में भी नाना ऋषिवर आनन्दित होते चले आये हैं परन्तु आनन्द का जो स्वरूप है उसको कोई वर्णन नहीं कर सका है। वह केवल एक अनुभव का विषय रह गया है। (इकतीसवाँ पुष्प, १२-४-७८)

मोक्ष के पश्चात् पुनः जन्म लेना

महर्षि आत्रेय, महर्षि कपिल, महर्षि कोपात्री, महर्षि नारद, महर्षि वशिष्ठ, महर्षि विश्वामित्र आदि का मत है कि जिस प्रकार एक मिष्टान्न प्रिय व्यक्ति अत्यधिक मिष्टान्न पा जाने पर इससे घृणा करने लगता है, उसी प्रकार यह आत्मा अत्यधिक लम्बे समय तक के

आनन्द से ऊब कर पुनः संसार में आने की इच्छा करता है और परमात्मा की कृपा से पुनः जन्म धारण करता है। (प्रथम पुष्प, ७-४-६२ ई.)

४ चतुर्थ अध्याय-प्रकृति का आत्मा एवम् परमात्मा से सम्बन्ध

सृष्टि-रचना का अलंकारिक तथा वैज्ञानिक विवरण

प्रकृति के नाम देवी, धेनु, रेणुका, कालिमाँ, दुर्गेवेति (दुर्गा) सोमधामकेतु, वैष्णवी आदि हैं। (उन्नीसवाँ पुष्प, १८-३-७२ ई.)

प्रकृति और महत् दोनों पृथक् वस्तु हैं। इनके मिश्रण से तीसरी वस्तु बनती है जिसे सृष्टि कहते हैं। (पाँचवाँ पुष्प, २०-१०-६४ ई.)

शिव नाम परमात्मा का है तथा लिंग नाम प्राण का है। जब यह प्राण संसार में बिना प्रकृति के आता है तो त्राहिमाम-त्राहिमाम कर देता है। देवता उस समय प्रकृति से याचना करते हैं कि हे पार्वती ! तू आ, और इस प्राण-रूपी लिंग को अपने में धारण कर। प्रकृति आती है, भग नाम प्रकृति का ही है। वह अपने में इस प्राण को धारण करके शान्त कर देती है। प्रकृति द्वारा प्राण को धारण करने से सृष्टि प्रारम्भ हो जाती है। जो इस प्रकार सृष्टि को आरम्भ करता है, उसका नाम शिव है। (चौथा पुष्प, २१-४-६४ ई.)

परमात्मा को ही ब्रह्मा कहते हैं। वह स्वयम् ही सृष्टि की स्थापना करता है। प्रलयकाल में यह प्रकृति अव्यक्त रूप रहती है। उस सूक्ष्म प्रकृति को महतत्त्व रूप में परिवर्तित करके, उसमें प्राण प्रदान करके, क्रिया पैदा करके, तन्मात्राओं को पैदा करता है। तन्मात्राओं से पंचमहाभूत, पंचमहाभूतों से यह संसार बन जाता है। प्रलयकाल में यह सारी सृष्टि तथा सारे जीव परमात्मा के गर्भ में सो जाते हैं। (दूसरा पुष्प, ३-४-६२ ई.)

परमात्मा ने इस संसार को यौगिकता से रचाया है। प्राण और मन दोनों का मिलान किया। मिलान होने पर प्रकृति उनके मध्य में आ गयी। प्रकृति के तत्त्वों में क्रान्ति आकर इनका एक स्थूल रूप बन गया और मन एवम् प्राण दोनों का विभाजन हो गया, विभाजन होते ही प्रकृति में नाना प्रकार के खनिज पदार्थ, वनस्पति, अन्न, फल आदि नाना प्रकार के प्राणी व मानव जाति, फलों की अनेकों प्रकार की जातियों का जन्म हो गया। ये सब मन और प्राण के माध्यम से ही बने हैं। इनके मध्य में प्रकृति है। कहीं-कहीं तो मन को प्रकृति का स्वरूप माना गया है।

परमात्मा ने अपने संकल्प द्वारा मन और प्राण को शून्य प्रकृति से मिलान कराया। ज्यों ही एकाग्रता हुई, उसमें कम्पनता हुई, इन परमाणुओं में महान् गति होने लगी। जब इनमें प्रबल गति हुई तो इसी में से जल, वायु, अग्नि का विकास हो गया और यह सब कुछ उत्पन्न होकर स्थूल रूप में परिणत हो गये। इसी पिण्ड में से सूर्य बन गया, चन्द्रमा बन गया तथा नाना आकाश गंगाएँ रच गयीं, जिनमें नाना प्रकार के ग्रह होते हैं। इसी में से ध्रुव बन गया है। यह सब परमात्मा का योग कहलाता है। (नौवाँ पुष्प, २९-७-६६ ई.)

सृष्टि रचना के सम्बन्ध में महर्षि अंगरि और महर्षि वायु में विचार विनिमय

महर्षि अंगिरा : रचना का मूल कारण क्या है? अर्थात् रचना क्यों होती है? यदि रचना को ही स्वीकार न किया जाये तो फिर यह रचना है ही क्या?

यदि प्रकृति की रचना को स्वीकार करते हैं तो इसका तो रूपान्तर होने वाला है।

प्रकृति उसी को कहते हैं जो विकृति में आने वाली है। जब रूपान्तर होता है तो ब्रह्म को इसकी रचना की आवश्यकता ही क्या है? जब प्रकृति के ही चित्त बनते हैं, उन्हीं चित्तों में प्रभु का प्रतिबिम्ब आता है और उसी प्रतिबिम्ब के कारण प्रत्येक मानव का शरीर बनता है। अपने-अपने कारणों में अपनी-अपनी व्यवस्था के साथ उसी से प्रकृति के आवेशों से संस्कार बनते हैं तथा वे ही संस्कार अपने-अपने आसन पर नृत्य करने लगते हैं। उसी से भोगवाद बनता है। उसी से सृष्टि का चक्र चलता है तो इस ब्रह्म को यह सब करने की आवश्यकता क्या है?

महर्षि अंगिरा जी महाराज के इन प्रश्नों को सुनकर महर्षि वायु मुनि जी महाराज ने मौन होकर तय किया तथा अन्त में कहा कि यह तो ब्रह्म का एक नृत्य प्रतीत होता है। वही ब्रह्म अनेकों रूपों में परिणत होता रहता है।

महर्षि अंगिरा जी महाराज ने कहा कि यह सिद्ध नहीं होता। इससे विवाद बना ही रहता है। अतः हम इस पर और अनुसन्धान करें। (अट्ठारहवाँ पुष्प, १३-४-७२ ई.)

सृष्टि का उद्देश्य

जैसे राजा शासन करता है प्रजा के लिये, शिल्पकार चित्रकारी करता है कला के लिये, इसी प्रकार यह गणपति परमात्मा अपनी पूर्णमहत्ता से संसार को उत्पन्न करता है आत्मा के लिये। (पाँचवाँ

पुष्प, १८-८-६२ ई.)

परमात्मा की यह सृष्टि प्राणीमात्र के लिये है। वायु वेग से विचरण करता है। अग्नि अपने कणों को लिये भ्रमण करती है, जल अपने कणों का लिये वायु से सम्बन्धित भ्रमण करता है। वायु में विष भी होता है। उसमें भिन्न-भिन्न प्रकार के कण भी होते हैं। ये सब मानव के लिये ही हैं। (छठा पुष्प, १९-१०-६५ ई.)

परमात्मा ने हमारे लिये सृष्टि को उत्पन्न किया है। हम उसमें कार्य करने के लिये उद्यत हो रहे हैं। (दूसरा पुष्प, ३-४-६२ ई.)

विधाता ने अपनी रचना से प्रकृति को प्राण सत्ता दी जिसे सामान्य कहते हैं। मानव के कल्याणार्थ शून्य प्रकृति को प्राण सत्ता देकर, इसको गतिशील बनाकर आत्मा को कर्म करने का अवसर दिया। (दूसरा पुष्प, ३-४-६२ ई.)

आदि महर्षि शृंगी जी महाराज का यह मत रहा कि यह अद्भुत संसार परमात्मा का खेल सिद्ध नहीं होता। खेल तो अज्ञानी रचाता है,या वह मानव रचाता है जिसका मन चंचल होता है। परमात्मा पूर्ण है, सर्वत्र है, पूर्ण काम है, निर्द्वन्द्व है, वह इतना अपार है कि उसका पार पाना असम्भव है। परमात्मा विशेष नियम के अनुसार जीवन के कल्याण के लिये संसार को बनाता है।

यह सृष्टि उस ब्रह्म-पद प्राप्त जीव के कारण ब्रह्म का दिवस कहलाती है। जैसे मानव की शत वर्ष की आयु होती है, वैसे ही इस ब्रह्म-दिवस तथा ब्रह्म-रात्रि की गणना करके एक महाकल्प ब्रह्म की शत-वर्ष की आयु निर्धारित की गयी है।

हमें परमात्मा की सत्ता को आधार मानकर चलना चाहिये जिससे समाज में अज्ञान न फैलें। अतः हमें जीवन की ऊँची योजना बनाने की आवश्यकता है। (प्रथम पुष्प, २-४-६२ ई.)

परमात्मा अनन्त है, उसकी सृष्टि भी अनन्त है। इस सृष्टि का पार न तो वैज्ञानिक ही पा सके और न मनोवैज्ञानिक योगीजन ही। (तीसरा पुष्प, १६-७-६३ ई.)

सृष्टि की अवधि निश्चित है

आदि ब्रह्मा तथा मनु इत्यादि का यह निर्णय है कि संसार की रचना गणित विद्या के अनुसार नियमानुसार है तथा विलक्षण है। (प्रथम पुष्प, २-४-६२ ई.)

परमात्मा ने अवधि बनायी कि इतने समय तक दिन रहेगा तथा इतने समय तक रात्रि रहेगी। अब जिस समय संसार को उत्पन्न किया जाता है, वह दिवस है। क्योंकि इस संसार में सदैव परिवर्तन होता रहता हैः जो सूर्य करोड़ों वर्ष पूर्व था, वह अब नहीं और जो अब है वह करोड़ों वर्ष पश्चात् न रहेगा। एक समय ऐसा आयेगा जब इसकी ज्योति समाप्त हो जायेगी। वायु में प्राणसत्ता तथा पृथ्वी में गन्ध नहीं रहेगी, उसको प्रलय कहा जाता है। संसार के इन दिवस और रात्रि, सृष्टि और प्रलय की अवधि निश्चित है। सूर्य को सविता सत्ता, चन्द्रमा को कान्ति, वायु को प्राण रूपी सत्ता, अग्नि को अवधारणा वैश्वानरत्व (पाचकत्व शक्ति), वरूण को प्राण सत्ता एक निश्चित अवधि के लिये दी है। इस समय के व्यतीत हो जाने पर यह सब चराचर जगत परमात्मा के गर्भ में चला जाता है। उस समय

यह जड़ प्रकृति शून्य होकर अन्तरिक्ष में रमण कर जायेगी। ये प्राण परमात्मा के गर्भ में चले जायेंगे। यही प्रलयकाल होगा। जैसे माता अपने पुत्र को गर्भ में धारण करती है, वैसे ही प्रलय के समय वह माताओं की माता दुर्गा-परमात्मा सारी प्रकृति तथा सारे जीवों को अपने गर्भ में धारण करके प्रकृति को आश्रय तथा विश्राम देकर शिथिलता तथा निर्बलता का हरण कर लेती है और उसमें कार्य करने की शक्ति को फिर से स्थापित कर देती है। (प्रथम पुष्प, १-४-६२ ई.)

जैसे मानव के जीवन की अवधि है, ऐसे ही ब्रह्माण्ड की अवधि है। जैसे माता के गर्भ की अवधि है, ऐसे ही परमात्मा दुर्गा के गर्भ की अवधि है।

परमात्मा के नियम के अनुसार यह संसार बनता है। सृष्टि की उत्पत्ति होती है और आत्मा जैसे कर्म की इच्छा करता है वैसे ही जन्म लेता रहता हैं और शुभ-अशुभ कर्मों के फल भोगता रहता है। उसी परमात्मा के नियम के अनुसार प्रलय काल में ये सारे जीव और प्रकृति परमात्मा-दुर्गा के गर्भ में समा जाते है। (प्रथम पुष्प, २-४-६२ ई.)

आज हमें जो प्रकाश मिल रहा है, वह उस समय तक रहेगा, जब तक प्रकाश करने वाले पदार्थ प्रकाशक वस्तु में रहेंगे। जैसे सूर्य में प्रकाश देने वाली सविता सत्ता है। जब वह सविता सत्ता परमात्मा में रमण कर जायेगी तब सूर्य का प्रकाश समाप्त हो जायेगा। इसी प्रकार अन्य प्रकाश देने वाले जड़ पदार्थों के विषय में जानो। (दूसरा

पुष्प, ३-४-६२ ई.)

सृष्टि के स्वरूप पर आदि ऋषियों की गोष्ठी

प्रश्न : जब यह ब्रह्माण्ड तथा सर्वजगत परमात्मा रूपी धागे में पिरोया हुआ है, तो मानव में तथा प्रकृति में नाना अवगुण आ जाते हैं। क्या वे भी परमात्मा से सुगठित हैं।

उत्तर : परमात्मा नाना प्रकार के अवगुणों से पृथक् है।

प्रश्न : सृष्टि का प्रादुर्भाव मनकों के रूप में होता है या किसी अन्य प्रकार से?

उत्तर : इसमें भिन्न-भिन्न ऋषियों के भिन्न-भिन्न विचार हैं।

महर्षि आदित्य के विचार

यह सब जगत परमात्मा में पिरोया हुआ है। यह प्रकृति परमात्मा के गर्भ में विराजमान रहती है, उसका ब्रह्म से सन्निधान रहता है। अतः परमात्मा के द्वारा महत्तत्व के उत्पन्न होते ही यह सृष्टि प्रकृति से रच जाती है, इसका व्यापक रूप बन जाता है। व्याप्य और व्यापक दोनों में सुगन्धित रहने के नाते उसमें एक विकृत उत्थान धारा मिश्रित होने लगती है।

महर्षि अंगिरा के विचार

संसार में एक ही ब्रह्म है उसी का यह सर्वजगत है, उसी में यह व्याप्त है, उसी में सब कुछ हो रहा है। यह जो अज्ञान छाया हुआ है वह जीव रूप में परिणत हो जाता है। परन्तु जब जीव का अज्ञान दूर हो जाता है तो वह एक ब्रह्म हो जाता है, पर परब्रह्म नहीं बनता। जैसे गऊ के दुग्ध में घृत ओत-प्रोत है और वायु में विद्युत् है,

इसी प्रकार परब्रह्म है, प्रकृति भी उसी का स्वरूप माना जाता है, उसी के गर्भ में रहती है और यह सर्वस्व जगत उसी के गर्भ में ओत-प्रोत रहता है।

महर्षि वायु मुनि के विचार

उन्होंने संसार में १-कारण, २-उपादान कारण और ३-निमित्त कारण तीन प्रकार के पदार्थ स्वीकार किये। उन्होंने १-जीवात्मा, २-ब्रह्म और ३-प्रकृति, ये तीनों स्वीकार किये। १-जीवात्मा मानव शरीर में व्यापता रहता है। जीवात्माएँ अनन्त हैं, उनकी गणना नहीं हो सकती।

१-जीवात्मा, २-परब्रह्म और ३-प्रकृति तीनों नित्य हैं। ये कभी नष्ट नहीं होते। प्रलय काल में भी अपने-अपने स्वरूप में रमण करते रहते हैं।

प्रकृति और परमात्मा दोनों के सन्निधान से आकृति होने के नाते यह प्रकृति से जगत रूप में रचा जाता है, जो हमें दिखाई देता है। वह परब्रह्म महान्, सूक्ष्म और अणु है। परब्रह्म और प्रकृति दोनों का व्याप्य, व्यापक स्वरूप माना जाता है।

परन्तु प्रकृति का अपना भी कोई अस्तित्व होता है। परब्रह्म और प्रकृति के सूक्ष्म से सन्निधान से ही प्रकृति में व्यापकता आ जाती है, एक स्वभाव आ जाता है।

प्रकृति का स्वाभाविक गुण रचना है तथा परब्रह्म का स्वाभाविक गुण चेतना है। परमात्मा की चेतना का प्रकृति में सूक्ष्म सन्निधान होने से ही प्रकृति का स्वाभाविक गुण उमड़ आता है। इसके उमड़ने से

संसार की रचना हो जाती है। इस प्रकार महर्षि वायु जी ने परब्रह्म को कर्त्ता स्वीकार नहीं किया।

यह जीवात्मा प्रकृति के आँगन में आकर अपना कार्य करता है। इसी में चित्त का आभास जीव के अभ्रम (निस्सन्देह) में होता है। परमात्मा में चित्त नहीं होता तो उसकी रचना में यह अकृत परिणाम भी परब्रह्म में अनिवार्य रूप से होता। क्योंकि कोई भी चेतन या अचेतन कोई भी रचना रचता है तो उसके परिणाम की जिज्ञासा उसे अवश्य होती है, क्योंकि यह उसका स्वभाव रहता है। इसीलिये यह स्वीकार किया जाये कि परब्रह्म ही सृष्टि का कर्ता-धर्ता है। तो परब्रह्म में सदैव परिणाम की जिज्ञासा होना स्वाभाविक हो जाता है।

परब्रह्म के सन्निधान से जो प्रकृति का स्वभाव उमड़ता है, इसी स्वभाव में पंचमहाभूत में क्रिया आ जाती है। जितना यह प्रकृतिवाद है, यह पंचमहाभूतां में विरजमान है। इन पंचमहाभूतों के एक-एक कण के गर्भ में उनका गुण तथा स्वभाव शान्त रूप में विराजमान है, परब्रह्म के सन्निधान से यह स्वभाव उमड़ आते हैं और यह ब्रह्माण्ड रच जाता है। स्वाभाविक रूप से किसी लोक में कोई तत्त्व प्रधान हो जाता है, किसी में अन्य। जैसे पृथ्वी पर पार्थिव तत्त्व प्रधान है, सूर्यमण्डल में अग्नि तत्त्व प्रधान है, बृहस्पति में वायु तथा ध्रुव में जल प्रधान है।

जैसे परब्रह्म की चेतना अनन्त है, इसी प्रकार प्रकृति भी अनन्त है तथा जीवात्माएँ भी अनन्त हैं। किसी भी लोक-लोकान्तर में रचना इन पंचमहाभूतों से पृथक् किसी अन्य से नहीं हो सकती।

महर्षि वायु का निष्कर्ष यह रहा कि परब्रह्म अकर्त्ता है। उसका सूक्ष्म सा सन्निधान प्रकृति से अवश्य होता है। इस सूक्ष्म से सन्निधान से, मिलान से यह नहीं माना जा सकता कि वह प्रकृति का रचयिता हो गया। यदि यह माना जाये कि प्रकृति का कोई अस्तित्व नहीं है तो उसका नित्य मानना असफल हो जायेगा। यदि प्रकृति को परब्रह्म का ही स्वरूप माना जाये तो यहाँ नाना प्रकार के दोषारोपण हैं। उनको भी परब्रह्म में स्वीकार करना होगा। इससे परब्रह्म परिणामी होता चला जायेगा।

महर्षि तत्त्वमुनि के विचार

महर्षि तत्त्वमुनि ने कहा कि भाई ! प्रकृति तो जड़ है। परब्रह्म की चेतना से ही यह अपना कार्य करती है तो स्वीकार कर लेते हैं कि प्रकृति परब्रह्म का ही स्वरूप है।

ऋषियों ने कहा कि वायु जी के विचार को स्वीकार करने से आगे चलकर परतन्त्रता आ जायेगी।

इस पर वायु जी ने कहा कि परमात्मा का सदा न्याय होता है। उस न्याय के गर्भ में ही दया होती है। इसीलिये यह कभी नहीं होगा कि परमात्मा की दया को स्वीकार न किया जाये।

विवाद होने पर आदित्य जी ने कहा कि जब न्याय और दया प्रभु को स्वीकार करते हो तो वह परब्रह्म तुम्हारे विचारों से परिणामी हो गया।

इस पर वायु जी ने समाधिस्थ होकर, विचार करके उत्तर दिया, "मैं परब्रह्म की न्याय और दया को इस रूप में स्वीकार नहीं करता।

परब्रह्म की न्याय और दया वहीं तक सीमित रहती है, जहाँ तक उसका प्रकृति में सूक्ष्म सा सन्निधान होता है। इसके पश्चात् प्रकृति का स्वाभाविक गुण होता रहता है। प्रकृति और जीवात्मा के सन्निधान से न्याय और दया स्वाभाविक रूप से होती रहती है, की नहीं जाती।

परन्तु इसके स्वीकार करने से नास्तिकवाद आ गया

इसके पश्चात् महर्षि मंगलकेतु के आश्रम पर एक सभा हुई जिसमें वायु मुनि, तत्त्व मुनि, सोमकेतु, भृंगी, आकृति आदि एकत्रित हुए, अंगिरा और आदित्य भी आ गये।

वायु ने कहा कि परब्रह्म सूक्ष्म से भी सूक्ष्म अणु माना गया है।

आत्मा की सूक्ष्मता यह है कि एक केश की सिरे की गोलाई के ६० भाग किये, फिर एक भाग के ९९ भाग किये, फिर ९९ वें भाग के ६० भाग किये तथा ६० वें भाग के ९९ भाग किये तो उसमें से एक भाग के बराबर होता है। अर्थात् ६० ´ ९९ ´ ६० ´ ९९ त्र ३,५२,८३,६,००वाँ भाग होता है।

आदित्य के द्वारा ब्रह्म की सूक्ष्मता जानने का प्रश्न करने पर वायु जी ने कहा ''जीवात्मा के अणु के ९९ भाग किये जायें, फिर उस अणु के ६० भाग किये जायें तो इस भाग के बराबर ब्रह्म का अणु हुआ।

आदित्य ने कहा कि तुम ब्रह्म को अकर्ता स्वीकार करते हो। परन्तु जब प्रकृति और ब्रह्म में व्याप्य और व्यापकता को सूक्ष्मसा भी स्वीकार कर लोगे तो ब्रह्म संसार का रचयिता हो जायेगा।

दोनों में विचार होने के पश्चात् आदित्य ने कहा कि भाई !

परब्रह्म का जो विषय है, वह बुद्धि का विषय नहीं, अनुभव का है।

इस पर वायु ने कहा मैं परब्रह्म को नेति-नेति स्वीकार करता हूँ। परन्तु जहाँ तक बुद्धि की सीमा है, वहाँ तक परब्रह्म को अकर्त्ता ही स्वीकार करता हूँ।

आत्मा-परमात्मा तथा प्रकृति मूल तत्त्व हैं

इस पर आदित्य ने कहा कि भाई ! ऐसा मानने पर यौगिक विषय के आने पर तुम्हारा सिर नीचा हो जायेगा और ऋषि का सिर नीचा होना ही उसकी मृत्यु है। उन्होंने कहा कि केवल एक परब्रह्म को स्वीकार न करके तीन वाक्यों १-आत्मा, २-परमात्मा और ३-प्रकृति को लेकर चलो। ज्यों ही सूक्ष्म सा भाव व्याप्य और व्यापक आ जायेगा उसी समय उसकी चेतना स्वीकार की जायेगी। वहाँ यह स्वीकार न करो कि इस चेतना का परिणामी परब्रह्म होगा बल्कि इसका परिणामी जीवात्मा अथवा प्रकृति होगी। वैसे चाहे अकर्त्ता स्वीकार कर लो परन्तु दोनों में व्याप्य और व्यापक का विचार आते ही इसमें कुछ न कुछ स्वीकार करना पड़ेगा अर्थात् परब्रह्म की चेतना परब्रह्म में स्वीकार करनी होगी। फिर प्रकृति की रचना को स्वाभाविक स्वीकार कर लो। यह सार्वभौम सिद्धान्त हो सकता है।

आगे प्रश्न है कि परमात्मा न्याय करता है या न्याय और दया दोनों करता है। आदित्य जी कहते हैं कि ब्रह्म भी सूक्ष्म अणु है। उसके अणु की सूक्ष्मता में ही महान् तथा प्रबल चेतना है, उस चेतना के प्रभाव से ही जहाँ-जहाँ उसका चेतना भाव जाता है वहीं एक सुन्दर रचना होती है। जैसे कहीं चित्त, कहीं प्राण, कहीं मन, कहीं

इन्द्रियों की रचना है। यह रचना उसके प्रतिबिम्ब से ही स्वीकार की जा सकती है परन्तु पंचमहाभूतों में तो प्रकृति के स्वाभाविकत्व और परब्रह्म परमात्मा की सुन्दर व्याप्य और व्यापकता का भाव आ ही जाता है। ब्रह्म और आत्मा का जहाँ तक सम्बन्ध है, आत्मा का मानव शरीर में जहाँ-जहाँ प्रतिबिम्ब जाता है वही सुन्दर रचना होती चली जाती है।

कहीं चित्त, कहीं अहंकार बन गया, कहीं बुद्धि का निर्माण हो गया, कहीं मन की रचना हो गयी, कहीं ज्ञानेन्द्रियां-कर्मेन्द्रियों की रचना हो गयी, इसी का व्यापक रूप बनता चला जाता है। इसी को सङ्कुचित भी किया जा सकता है। प्रकृति के पाँच गुण हैं-१-ध्रुवा, २-ऊर्ध्वा, ३-व्यापकता, ४-प्रसारण तथा ५-आकुंचन। ये पाँच गुण मानव शरीर में विद्यमान है। से गुण चित्त, अहंकार, बुद्धि, मन तथा प्राणों में भी स्वीकार किये जा सकते हैं। इनको व्यापक तथा सूक्ष्म दोनों ही प्रकार के बनाये जा सकते हैं।

योगी मन और प्राणों को सङ्कुचित बनाकर सूक्ष्म शरीर में चले जाते हैं तथा व्यापक बनाकर स्थूल शरीर में आ जाते हैं।

इससे सिद्ध होता है कि आत्मा को माता के गर्भ की आवश्यकता नहीं रहती। परमात्मा की न्याय और दया के सम्बन्ध में यह स्वीकार किया जाता है कि जो प्रकृति का निदान है, व्याप्य और व्यापक का जो स्वरूप आता है, उसी के गर्भ में, उसी के व्याप्य होने में, उसके आश्रित होने में न्याय और दया होती है। (ग्यारहवाँ पुष्प, १२-४-६९ ई.)

आदि ऋषियों की द्वितीय सभा मंगलेत्व ऋषि के आश्रम में मंगलेत्व ऋषि के सभापतित्व में हुई। इसमें अन्य ऋषियों के अतिरिक्त कुरकाजी ऋषि के पौत्र महर्षि सन्धुत भी आये।

भृगु जी ने वायु जी से प्रश्न किया कि

जैसे चेतना के सूक्ष्म से सम्बन्ध से प्रकृति का स्वभाव उत्पन्न हो जाता है तो क्या आत्मा का स्वभाव भी इसी प्रकार उत्पन्न हो जाता है?

वायु जी ने उत्तर दिया कि जैसे ब्रह्माण्ड में परब्रह्म की सूक्ष्म चेतना होने पर प्रकृति का स्वभाव उत्पन्न हो जाता है, इसी प्रकार मानव शरीर में भी इसका और आत्मा का व्याप्य और व्यापक रूप से सन्निधान होने पर चित्त इत्यादियों का स्वभाव स्वतः उत्पन्न हो जाता है। जैसे परब्रह्म को स्वीकार किया है, उसी प्रकार आत्मा को भी स्वीकार किया जाता है।

प्रश्न : क्या आत्मा की और परमात्मा की चेतना भिन्न-भिन्न है?

उत्तर : ब्रह्म की चेतना महान् सूक्ष्म है तथा आत्मा की चेतना उससे कुछ स्थूल है। किन्तु यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि परब्रह्म ही इस आत्मा के गर्भ में है।

प्रश्न : जब परब्रह्म अति सूक्ष्म है और आत्मा उससे स्थूल तो परब्रह्म का आत्मा में प्रविष्ट होना स्वीकार क्यों नहीं करते ?

उत्तर : जब आत्मा का स्वभाव भिन्न है तो उसमें परमात्मा का प्रविष्ट होना क्यों स्वीकार करें?

भृंगी : ऋषि ने कहा, क्योंकि परमात्मा एक है जो आत्मा और

प्रकृति सबमें ओत-प्रोत हो रहा है।१

वायु : यह तो सही है परन्तु यह स्वीकार करने पर कि आत्मा में परब्रह्म प्रविष्ट होता है, आत्मा के गर्भ में परब्रह्म विराजमान है, जब परब्रह्म की चेतना प्रकृति के स्वभाव को उत्पन्न कर देती है तो क्या वह इस आत्मा के स्वभाव को उत्पन्न नहीं कर सकती?

भृंगी : परब्रह्म की भी चेतना है और इसी प्रकार आत्मा की भी चेतना है, तो आत्मा की चेतना का स्वभाव क्या है?

वायु : प्रकृति का स्वभाव है जड़ता। किन्तु व्याप्य और व्यापक होते ही उसका स्वभाव रचना हो जाता है। ब्रह्म की चेतना से यह बाह्य जगत हो जाता है। इसका प्रसारण हो जाता है, इसमें व्यापकवाद की उत्पत्ति हो जाती है। उसका स्वभाव उत्पन्न हो जाता है। उसी प्रकार आत्मा की चेतना का आभास चित्त पर आते ही चित्त अपना कार्य करने लगता है।

भृंगी : क्या आत्मा चित्तवत् है?

वायु : आत्मा के व्यापार में चित्त स्वीकार करते हैं परन्तु कभी आत्मा चित्त से भिन्न स्वीकार किया जाता है। आत्मा चित्त में स्वीकार करने से वह संलिप्त हो जाता है। किन्तु वास्तविकता यह है कि चित्त के ऊपर आत्मा का आभास आता है, उसका प्रतिबिम्ब आता है। अतः वह चित्त में लिपायमान नहीं हो सकता। जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब जल में आता है।

आदित्य : हमें आत्मा में कैसे विश्वास हो?

वायु : आत्मा के ऊपर तभी विश्वास होगा, जब तुम इसके ऊपर

तपस्वी बन जाओगे। अन्त में आदित्य ने भी स्वीकार किया कि परब्रह्म का तथा आत्मा का विषय केवल अनुभव के हैं। अतः उनका अनुभव किया जाये।

निष्कर्ष : शृंगी जी ने परमात्मा को कभी कर्त्ता भी स्वीकारा, कभी अकर्त्ता भी, किन्तु वायु के सिद्धान्त को ही सर्वोपरि माना है। क्योंकि जो तर्कवाद में बुद्धिसंगत होता है, उस वाक्य को अन्तिम परामर्श कहते हैं और उसको बुद्धिमानों को स्वीकार करना कर्त्तव्य होता है। (ग्यारहवाँ पुष्प, १३-४-६९ ई.)

पृथ्वी पर मानव जाति की उत्पत्ति

परमात्मा द्वारा उत्पन्न आकर्षण-शक्ति तथा उसकी महान् विद्युत् के आधार पर यह पृथ्वी स्थित है। (दूसरा पुष्प, ३-४-६२ ई.)

इस सृष्टि को बने एक अरब, सत्तानवें करोड़, उनत्तीस लाख, उनचास हजार, उनासी वर्ष **(१,९७,२९,४९,०७९)** हो चुके हैं।

शिव रूपी प्रभु ने पार्वती रूपी प्रकृति को महत् दिया, सत्ता दी, नाना तन्मात्राओं के द्वारा इस संसार को उत्पन्न किया। सबसे पूर्व जब यह पृथ्वी शीतल बनने लगी, समता आने लगी, विश्वकर्मा ने तन्मात्राओं और पंच-महाभूत इन सबका संगठन बनाकर सृष्टि का कार्य प्रारम्भ किया।

सबसे पूर्व वनस्पतियों को उत्पन्न किया जिसे स्थावर सृष्टि कहते हैं। वृक्ष योनि में नाना प्रकार की जातियाँ हैं, जिनमें नाना औषधियाँ भी हैं। नाना ऐसे पौष्टिक पदार्थ भी हैं, जिन पर मानव के जीवन का निर्वाह होता हैं। प्रभु ने हमारे खान-पान का प्रबन्ध पहले ही कर

दिया।

इसके पश्चात् अण्डज और उद्भिज सृष्टि को उत्पन्न किया। इसमें जल तथा वृक्षों पर रहने वाले प्राणी हैं। ये जल के उन दुर्गुणों को आहार कर लेते हैं जो मानव के लिये हानिकारक हैं। वे जल को शुद्ध कर देते हैं, जिससे मानव की कोई हानि न हो।

इसके पश्चात् जरायुज सृष्टि का निर्माण किया जिसे जंगम सृष्टि भी कहते हैं। इसमें पशु हैं तथा मानव जाति है।

इस प्रकृति में स्वतः ही पूर्व की भाँति सब बीज रूप अंक घर में रहता है। प्रभु ने अपनी महत्ता से तथा चेतना सत्ता से इस संसार को रचाया। उस विधाता शिव ने प्रकृति रूपी पार्वती को साथ लेकर अपना कर्त्तव्य मानते हुए इस संसार को उत्पन्न किया जो आज नियमबद्ध हो रहा है। जिस प्रकार बेल के ऊपर फल लगता है तथा परिपक्व होने पर स्वतः ही बेल से पृथक् हो जाता है, इसी प्रकार इस पृथ्वी से मानव जाति का अङ्कुर उत्पन्न होता है। अङ्कुर उत्पन्न होने के पश्चात् इसका सम्बन्ध नाभि से होता है। यह माता पृथ्वी से इसी प्रकार रस लेता रहा जिस प्रकार वृक्ष योनियाँ उत्पन्न हुईं, इनमें पुरुष, देवकन्याएँ सभी उत्पन्न हुए। जिस प्रकार बेल का, वृक्ष योनि का बीजाङ्कुर इस सृष्टि में विराजमान रहता है, इसी प्रकार पुरूष का तथा महत् का पूर्व की भाँति अङ्कुर रहता है। वह उत्पन्न हो जाता है। जब माता पृथ्वी तथा पिता प्रभु दोनों की समता हो जाती है तो सृष्टि का निर्माण हो जाता है, उस समय यह सृष्टिक्रम नियमबद्ध चला करता है।

मानव जाति को इसी प्रकार उत्पन्न किया। यह मानव जाति युवा उत्पन्न हुई। यदि बाल्यावस्था में उत्पन्न होती तो इसका पालन-पोषण कौन करता? युवा होने के पश्चात् यह सृष्टि-क्रम चलने लगा।

ऋषियों ने इस सृष्टि में आकर के अपना कर्त्तव्य पूर्ण करने के लिये इस संसार के मानवों को पूर्व की भाँति ज्ञान कराया, आदि सृष्टि में अनेक आत्माएँ ऐसी होती हैं जिन्हें पूर्व सृष्टि का ज्ञान होता है, उसी पूर्व सृष्टि के नियम से परमात्मा की नवीन सृष्टि को निमयबद्ध कर देते हैं। (दूसरा पुष्प, २४-८-६२ ई.)

प्रश्न है कि सष्टि के आरम्भ में जब माता-पिता नहीं थे तो यह मनुष्य कैसे उत्पन्न हो गया?

उत्तर : अनेकों रूपों में शृंगी जी (कृष्णदत्त जी) का मत यह है कि जिस प्रकार से भौतिक वैज्ञानिक उन तत्वों को जान लेता है जिनसे परमाणु, त्रसरेणु और महात्रसरेणु होते हैं और उन्हें एकत्रित करके यन्त्रों का आविष्कार कर लेता है उसी प्रकार सृष्टि के आरम्भ में उन ऋषि-आत्माओं ने जो पूर्व रची हुई सृष्टि थी और उनके पास वे विद्याएँ थीं, जिन परमाणुओं से विभिन्न शरीरों का निर्माण होता है, पूर्व रचित सृष्टि के आधार पर उन्हीं परमाणुओं को एकत्रित किया और मनुष्य जाति उत्पन्न हो गयी। (चौथा पुष्प, २४-४-६४ ई.)

वेद कहता है कि जिस समय सृष्टि का आरम्भ होता है उस समय वे विमुक्त आत्माएँ होती हैं जिन्हें पूर्वकाल का ज्ञान रहता है, आकर परमात्मा के नियम के अनुसार शरीर धारण कर लेते हैं और यह संसार बन जाता है। (तीसरा पुष्प, ९-३-७३ ई.)

सृष्टि के आरम्भ के विषय में नाना मत हैं।

कुछ कहते हैं कि शिव और भगवती ने ब्रह्मा इत्यादि को उत्पन्न किया और शिव ने ब्रह्मा और विष्णु को सृष्टि रचना के लिये उत्पन्न किया।

कुछ कहते हैं कि आरम्भ में ब्रह्मा उत्पन्न हुए। उनके पुत्र मरीचि हुए, उनसे सृष्टि चलने लगी ।

कुछ ऐसा मानते हैं कि जैसे बेल पर फल पकने पर स्वयम् पृथक् हो जाता है, उसी प्रकार माता की स्वांग नाम की नाड़ी का सम्बन्ध बालक की नाभि से होता है, गर्भाशय परिपक्व होने पर वह सम्बन्ध छूट जाता है।

कुछ ऐसा मानते हैं कि प्रारम्भ में मानव तथा देवकन्याओं का सम्बन्ध प्रकृति रूपी नाभि से रहा और युवावस्था में सब उत्पन्न हुए। जैसे वृष्टि होने पर नाना प्रकार के जीव-प्राणी उत्पन्न हो जाते हैं, इसी प्रकार सृष्टि होने पर नाना प्रकार के परमाणुओं की रूपरेखा परिवर्तित हुई, उनका कुछ सूक्ष्म रूप बना। प्रकृति से उनका मिलान हुआ। अग्नि उसमें विद्युत् नाम से रमण करती है। इन सबका मिलान होने पर नाना प्रकार के प्राणी पृथ्वी पर उत्पन्न हो जाते हैं। (बाहरवाँ पुष्प, ३-१०-६४ ई.)

संसार यज्ञशाला है

आज मैं तुम्हें ऐसे युग में ले जाना चाहता हूँ ऐसी विज्ञानशाला में ले जाना चाहता हूँ, जहाँ नाना ऋषिवर विद्यमान हो करके नाना प्रकार का विचार-विनिमय करते रहे हैं। मेरे पुत्रों! मुझे वह काल

स्मरण आने लगता है जिस काल में ब्रह्मवेत्ता विद्यमान हो करके अपना विचार-विनिमय करते रहे हैं संसार के सम्बन्ध में। नाना ऋषि विद्यमान हैं, नाना दार्शनिक यही विचारते रहे हैं कि यह संसार क्या है ? नाना ऋषियों ने इस संसार के सम्बन्ध में नाना प्रकार की कल्पनाएँ की हैं क्योंकि जो ऋषि होते हैं, वे मन्त्र दृष्टा होते हैं। मन्त्र को साक्षात्कार करने वाले होते हैं। इसमें महर्षि स्वेतकेतु ने एक समय यह कहा था कि यह संसार क्या है? इसके उत्तर में नाना ऋषियों ने अपनी भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ की, नाना प्रकार की उड़ान उड़ने का प्रयास किया। (१) उन्होंने कहा कि यह जो संसार है, यह धर्म क्षेत्र है। यहाँ प्रत्येक मानव धर्म और मानवता को जानने के लिये आया है। (२) द्वितीय दार्शनिक कहता है, नहीं यह संसार तो विज्ञानशाला है, यहाँ प्रत्येक मानव वैज्ञानिक बनने के लिये आया है। (३) आदि ऋषियों ने कहा है कि नहीं, यह संसार तो मृतलोक है। यहाँ प्रत्येक मानव मृत्यु को प्राप्त होता है और मृत्यु के सम्बन्ध में विचारता रहता है और भयभीत रहता है कि मेरी मृत्यु नहीं होनी चाहिये। (४) परन्तु दार्शनिक यह नहीं कहता कि मृत्यु है। वेद का ऋषि यह कहता है ''विशश्चम् ब्रह्म व्यापकम् देवतम् मृत्यु हनतम् देवाः।'' वेद का आचार्य कहता है, नहीं यह संसार तो मृत्यु को विजय करने का क्षेत्र है। यहाँ प्रत्येक मानव, प्रत्येक देवकन्या, प्रत्येक मेरा प्यारा ऋषि जो आया है वह मृत्यु को विजय करने के लिये आया है। मृत्यु के अभाव में लगा हुआ है कि मृत्यु का अभाव है, मृत्यु कोई वस्तु नहीं है।

मेरे पुत्रों ! तो आदि ऋषियों ने कहा कि नहीं यह संसार जहाँ मृत्यु को विजय करने का क्षेत्र है वहाँ एक प्रकार की यज्ञशाला है। (५) यहाँ प्रत्येक मानव यज्ञ कर्म करने के लिये आया है वह याज्ञिक बनने के लिये आया है। वह कर्म करने के लिये आया है। प्रत्येक मानव को यज्ञ करना है। अपने जीवन को यज्ञमय परिणत कर देना है। आदि ऋषियों ने नाना प्रकार की कल्पना करके बहुत ऊँची उड़ान उड़ी है। आज मैं तुम्हें एक उड़ान उड़ने के लिये आया हूँ। आज मैं तुम्हें विशेष चर्चा में ले जाना नहीं चाहता हूँ केवल एक उड़ान उड़ने के लिये आया हूँ। एक-एक वेदमन्त्र के ऊपर उड़ान उड़ी जाये तो एक महत्ता का कार्य हो जाता है। परन्तु जब हम ऊँची उड़ान उड़ने का प्रयास करते हैं तो प्रायः ऐसा दृष्टिपात होता है कि हम परमपिता परमात्मा की विज्ञानशाला में विद्यमान हैं, परमात्मा के क्षेत्र में विद्यमान हैं। तो इसीलिये हमें परमात्मा की प्रतिभा अथवा उसके विज्ञान की महत्ता को जानना है। (बत्तीसवाँ पुष्प, २५-३-७७ ई.)

प्रश्न : सृष्टि के आरम्भ में ज्ञान कहाँ से आया, जब सृष्टि को चलाने की जानकारी कराने वाला कोई न था?

उत्तर : वे महान् आत्माएँ जिन्हें मोक्ष तो प्राप्त नहीं हुआ परन्तु जिन्होंने उच्चकर्म किये और मोक्ष के निकट पहुँचे, उन्होंने अपने पूर्व जन्मों के पुण्य से उस प्रभु की सृष्टि में जन्म धारण किया और जन्म धारण करके उस विधान को दिया जो आज चल रहा है।

माता-पिता का, आहार-व्यवहार का सभी कुछ विधान हमारे लिये महर्षियों ने निर्णय किया जो हमारे यहाँ ब्रह्मा, अंगिरा, आदित्य

आदिऋषि कहे जाते हैं। उन्होंने पुरुषों को, देवकन्याओं को, सबको विशेष ज्ञान कराया। इस ज्ञान को पाते हुए यह संसार अभी तक इस प्रकार चला आ रहा है।

आत्मा में ज्ञान व प्रयत्न स्वाभाविक हैं। अतः पूर्व की भाँति ज्ञान होने के कारण ऋषियों ने इस सृष्टि को, पृथ्वी तथा लोक-लोकान्तरों को भी क्रमबद्ध कर दिया।

प्रलयकाल में जो वेदज्ञान भी परमात्मा के आँगन में चला जाता है, सृष्टि के आरम्भ में अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा इन चारों ऋषियों को पूर्व की भाँति वेदों का ज्ञान था। ज्ञान होने के कारण प्रभु की महत्ता पाकर उस प्रभु की सृष्टि में आकर पूर्व की भाँति वेदों का प्रसार किया। (दूसरा पुष्प, २१-८-६२ ई.)

प्रलय

त्रेताकाल में एक सभा में वशिष्ठ, विश्वामित्र, धुन्ध, कपिल, कुण्डल, गौतम, शमीक, विभाण्डक, लोमश, आत्रेय तथा उनकी पत्नी अनुसूया उपस्थित थे। इस सभा में यह निर्णय किया था ''जब यह प्रकृति शून्य और अव्यक्त रूप होकर माता-पिता रूपी परमात्मा के गर्भ में रमण कर जाती है तब व्यापक परमात्मा उसको गर्भ मे धारण करके पूर्ववत् ही रमण करता रहता है। (प्रथम पुष्प, २-४-६२ ई.)

प्रलय-काल में वे लोक लोकान्तर एक पिण्डाकार के रूप में परिणत हो जाते हैं। वह पिण्डाकार महत् तत्त्व में परिणत होते हुए ये प्रकृति, आत्मा, परमात्मा तीनों मिश्रित हो जाते हैं। (चौबीसवाँ पुष्प, १७-८-७२ ई.)

एक समय वह आयेगा कि प्रकाश नहीं रहेगा और यह हमारी दृष्टि से दूर का विषय बन जायेगा। किन्तु इस प्रकाश की इस प्रकार के अन्त से सदा के लिये समाप्ति नहीं होती। परन्तु यह तो प्रलय का रूपान्तर हुआ करता है। इसी प्रकार वेदवाणी के भी विभिन्न रूपान्तर होते हैं। एक समय आयेगा कि वह वेदपाठ का रूपान्तर और सूक्ष्म होकर अन्त में रूपान्तर ही रूपान्तर रह जायेगा। प्रलय-काल में सब विद्याएँ, वेद-ज्ञान, परमात्मा के पूर्व नियम के अनुकूल परमात्मा के गर्भ में चली आती हैं तथा वहीं निवास करती हैं। आत्मा भी परमात्मा के गर्भ में निवास करता है। (दूसरा पुष्प, ३-४-६२ ई.)

जिस समय प्रलय-काल आता है तो यह चार प्रकार की सृष्टि पृथ्वी में लय हो जाती है, पृथ्वी जल में लय हो जाती है। जल को हिरण्याक्ष रूप से पुकारा जाता है। जल अग्नि में, अग्नि वायु में, वायु अन्तरिक्ष में रमण कर जाता है। अन्तरिक्ष तन्मात्राएँ बन कर अम्बर में लय हो जाता है। वे लोक-लोकान्तर जो जड़ पदार्थ हैं, अपना प्रकाश देते हैं।

इसी प्रकार यह पृथ्वी शून्य रूप बन कर, सूक्ष्म से सूक्ष्म परमाणु बन कर अन्तरिक्ष में रमण करने लगती है।

आत्मा परमात्मा के गर्भ में चला जाता है। जिस प्रकार मानव शरीर में बाल्यावस्था, युवावस्था, मध्यमावस्था तथा वृद्धावस्था है, उसी प्रकार सृष्टि के काल आते हैं। प्रलय-काल में यह सृष्टि समाप्त होकर परमात्मा के गर्भ में चली जाती है। अंगिरा आदि आचार्यों ने कहा है कि प्रलय-काल में सूर्य में प्रकाश नहीं रहता, चन्द्रमा में

कान्ति नहीं रहती, अग्नि में उज्ज्वलता करने की शक्ति नहीं रहती। परमात्मा के गर्भ में होने के नाते जब आत्मा की वाणी परमात्मा के समक्ष जाती है तो उस समय परमात्मा तन्मात्राओं से पुनः इस संसार को उत्पन्न कर देते हैं और हम कार्य करने के लिये उद्यत् हो जाते हैं। इस ज्ञान का अनुभव करने के लिये आध्यात्मिक परिश्रम की आवश्यकता है तभी आत्मा के स्वाभाविक गुण, ज्ञान और प्रयत्न प्रकट हो जायेंगे। (छठा पुष्प, प्रथम प्रवचन)

५ पंचम अध्याय-प्रकृति आत्मा के सम्बन्ध का प्रतीक

१-बुद्धि, २-मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच प्राण आत्मा का परिवार कहलाता है। यदि यह परिवार न होता तो आत्मा को इस शरीर में आने की आवश्यकता नहीं थी। जैसे कोई गृहस्थी विदेश में सुख और लाभ होने पर भी अपने परिवार में अवश्य आता है। उसी प्रकार हृदय-स्थल में विराजमान आत्मा का इस परिवार के कारण शरीर में आना अनिवार्य है।

मन में स्मरण शक्ति तथा विचारों की सत्ता होती है। प्राणों में वैश्वानर अग्नि को लेकर उत्थान की सत्ता होती है। बुद्धि इन सबकी अधिपति मानी जाती है क्योंकि इसमें सबको ग्रहण करने की शक्ति दी है तथा यह सत्यासत्य का निर्णय करती है।

संस्कारों का स्थान

आत्मा के निकट जो स्थान है उसे अन्तःकरण कहते हैं, जो वाक्य बुद्धि में अंकित होता है बुद्धि उसे अन्तःकरण में अंकित कर देती है। अन्तःकरण वह स्थान है जहाँ जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार अंकित रहते हैं।(दूसरा पुष्प, २७-९-६४ ई.)

सूक्ष्म शरीर

जब यह आत्मा सूक्ष्म रूपों में सूक्ष्म शरीर के साथ अन्तरिक्ष में रमण करता है तो यह सूक्ष्म शरीर सत्रह तत्त्वों का माना जाता है। पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेद्रियाँ, पाँच सूक्ष्म महाभूत, मन और बुद्धि।

कारण शरीर

इसके पश्चात् कारण शरीर होता है। जिसमें केवल ज्ञान और प्रयत्न रह जाते हैं और मन, बुद्धि तथा ज्ञानेन्द्रियाँ शान्त हो जाते हैं। ज्ञान और प्रयत्न आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं। यह स्थिति ही मुक्ति कहलाती है।(दूसरा पुष्प, २७-९-६४ ई.)

ब्रह्मचारी कृष्णदत्त जी का किसी जन्म में अपनी सप्तवर्षीया शिष्या बालिका से सम्वाद हुआ जिसमें सूक्ष्म शरीर को समझाया गया।

बालिका का प्रश्न : सूक्ष्म शरीर जो उज्ज्वल गति है तथा स्थिरता है उसका क्या स्वरूप है?

उत्तर : सूक्ष्म शरीर इन बाह्म नेत्रें से दृष्टिपात नहीं आता। वह केवल मानव के अनुभव का विषय होता है। अनुभव के विषय में ही उसकी प्रतिष्ठा एक उज्ज्वलता को प्राप्त होने लगती है।

प्रश्न : सूक्ष्म शरीर की कितनी प्रबल गति है?

उत्तर : इसकी गति वायु की गति से कई गुणा प्रबल होती है जिससे वह सर्वत्र ब्रह्माण्ड का भ्रमण कर लेता है। जिस प्रकार भौतिक विज्ञानवेत्ता यन्त्रें के द्वारा एक लोक से दूसरे लोक का यातायात कर लेता है अर्थात् नाना अप्रेतों, परमाणुओं के द्वारा भ्रमण करने लगता है इसी प्रकार यह सूक्ष्म शरीर वाला अवगत तथा अद्भुत आत्मा में भ्रमण करने लगता है।

प्रकृति की पंचतन्मात्रएँ मानी गयी हैं। उन्ही पंचतन्मात्रओं के आधार पर स्थूल अणु सूक्ष्म को अपने गर्भ में धारण करने लगता है।

इसका स्पष्टीकरण यह है कि जितना भी विज्ञान है वह सूक्ष्मवाद

में है। चाहे वह आध्यात्मिक विज्ञान हो या भौतिक विज्ञान उसकी जितनी भी सूक्ष्म धाराएँ हैं वे सब सूक्ष्मतम होती हैं।

एक मानव जो मंगल ग्रह में जाने का प्रयास करता है उसको कितने सूक्ष्म परमाणुओं की आवश्यकता होगी। इसी प्रकार जो महापुरुष सूक्ष्म शरीर को जानने के पश्चात् लोक लोकान्तरों का भ्रमण करता है, उसका अन्तरात्मा परमाणु से भी सूक्ष्म होता है।

परमाणुओं की भी प्रवृत्तियाँ तथा गतियाँ ९९ हजार प्रकार की होती हैं। अणु की भी उतनी सूक्ष्म और अबाध गति कहलायी जाती है। जैसे सूर्य का प्रकाश योजनों की दूरी से आकर पृथ्वी पर अपना कार्य करता है तथा मानव को प्रकाश देकर उज्ज्वल बनाता है, इसी प्रकार वह अबाध तथा सूक्ष्म शरीर अपना कार्य करता रहता है। उसकी गति इतनी महान् हो जाती है कि वह एक क्षण समय में लोक-लोकन्तरों में सर्वत्र भ्रमण करने लगता है। इस सूक्ष्म शरीर की गति हमारी महत्ता में परिणत हो जाती है।

प्रश्न : इसको कैसे स्वीकार किया जा सकता है? क्योंकि हृदय तो यह नहीं कह रहा है।

प्रतिष्ठा का क्रम :

उत्तर : पहले यह जानें कि हृदय की प्रतिष्ठा क्या है? जैसे ब्रह्माण्ड में पृथ्वीमण्डल जल में प्रतिष्ठित रहता है, जल अग्नि में, अग्नि वायु में, वायु अन्तरिक्ष में, अन्तरिक्ष चन्द्रलोकों में, चन्द्रलोक गन्धर्व लोकों में, गन्धर्व लोक इन्द्र लोकों में, इन्द्रलोक प्रजापति में, प्रजापति यज्ञ में तथा यज्ञ मानव की दक्षिणा में प्रतिष्ठित हो जाता है।

यह दक्षिणा मानव के हृदय में प्रतिष्ठित हो जाती है। इस प्रकार यह सारा जगत हृदय में समाहित हो रहा है।

हम सबसे प्रथम हृदय को जानें। योगी हृदय में ध्यानावस्थित होते हैं तथा अपनी प्रवृत्तियों को जानने में सँलग्न हो जाते हैं। जब बाह्य तथा आन्तरिक हृदय में परस्पर मिलने की क्षमता आ जायेगी तो यह प्रश्न ही नहीं होगा।

प्रश्न : मानव सूक्ष्म शरीर के द्वारा क्या-क्या कार्य कर लेता है?

उत्तर : जब मानव का सूक्ष्म शरीर के विज्ञान एवम् संचालन पर अधिकार हो जाता है, तो प्रकृति की पंवतन्मात्रओं में इतनी संकल्प शक्ति का प्रवाह हो जाता है, अर्थात् उसके इतने प्रवाह का संचार हो जाता है कि वह अपने स्थूल परमाणुओं को ग्रहण करके स्थूलता को प्राप्त करने लगता है। उनको त्यागने तथा धारण में उसे कुछ क्षणों का ही समय लगता है। परन्तु वह केवल स्वयम् के अनुसन्धान से ही आता है।

प्रश्न : इसको किस प्रकार अनुभव किया जाये?

उत्तर : इसके लिये औषधियाँ हैं। १.सैलाधृत, २. स्वामिनी, ३. सोमकेतु, ४. सेलखण्डा, ५. मामकित औषधियों को लेकर सोमरस बनाया। उस सोमरस को १२ वर्ष तक पान करना चाहिये। उसी का आसन तथा शैय्या होनी चाहिये। उसी के आसन पर विचार-विनिमय तथा विश्राम करना चाहिये। 'ओउम्' का चिन्तन करते हुए सोमरस पान करने से मानव की बाह्य प्रवृत्ति शान्त हो जाती है, उसमें चंचलता नहीं रहती। उसके अन्तरात्मा में मन की प्रतिभा तथा मन

की विभाजनवाद की प्रक्रिया चलती रहती है। किन्तु उससे ध्यान में और हृदय में प्रतिष्ठा होने के लिये मानव को सुगमता हो जाती है। इस सुगमता में परिणत हो जाने पर इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्णा तीन प्रकार की नाड़ियाँ जो मूलाधार से चल कर नाभि-चक्र, हृदय-चक्र, कण्ठ-चक्र,घ्राण'चक्र होती हुई त्रिवेणी स्थान पर मिलती हैं, जिसे ब्रह्मरन्ध्र कहा जाता है, मिलान होने पर मन की प्रवृत्ति मिलान के साथ-साथ चलती रहती है।

प्राण की प्रक्रिया ब्रह्मरन्ध्र में आ जाने के पश्चात् अन्तरात्मा की जो अप्रेत है, वह ब्रह्मरन्ध्र की दश सहस्र के लगभग सूक्ष्म नाड़ियों, जिनका सम्बन्ध लोक-लोकान्तरों से होता है, कि प्रतिभा के साथ-साथ एक अक्राँत नतमस्तक होकर लघु-मस्तिष्क में चला जाता है।

एक मस्तिष्क होता है, एक लघु-मस्तिष्क। एक ब्रह्मरन्ध्र होता है, एक महा-ब्रह्मरन्ध्र। एक त्रिकाट, त्रिकाट उसे कहते हैं जहाँ सब नाड़ियों का मुख ऊपर को होकर लोक-लोकान्तरों में, अपनी प्रवृत्तियों में अनायास ही भ्रमण करने लगता है। इसका अनुभव तभी किया जा सकता है जब योग की प्रतिभा हो जाये।

जिस प्रकार भौतिक वैज्ञानिक अणु, परमाणु, महापरमाणु, त्रसरेणु,महात्रसरेणु आदि २४ प्रकार के परमाणुओं से अवगत होने लगते हैं तथा उन परमाणुओं में नाना आवान्तर और नाना गति होने लगती है, इसी प्रकार योगी के द्वारा इतनी सूक्ष्म प्रवृत्ति प्रत्यक्ष होने लगती है कि वह स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण तीनों की प्रवृत्तियों में पहुँच जाने के पश्चात् उसके जीवन में एक महत्ता का दिग्दर्शन होने

लगता है।

जब उस महापुरुष की आत्मा को ब्रह्मरन्ध्र से बाह्य प्रगति में लाने का प्रयास किया जाता है जो (१) वट-वृक्ष, (२) पीपल-वृक्ष, (३) सोमपात तथा (४) कृकति नाम के वृक्षों का पंचांग बनाकर सोमरस बनाया जाता है। पहले पंचांग बनाकर सोमरस बनाना चाहिये जिसमें १-सेलखण्डा, २-ब्रह्मस्थी प्राणकति, ३-अणुवात नाम की औषधियों का मिलान होना चाहिये। इनका पान करने से प्राण-शक्ति में गति आ जाती है। (इक्कीसवाँ पुष्प, १७-२-७० ई.)

स्थूल शरीर

सृष्टि के आरम्भ में परमपिता परमात्मा ने यह मानव शरीर को आत्मा का घर बनाया। निर्माणवेत्ता ने निर्माण किया परन्तु मानव इस शरीर को नहीं जानता। मानव के नेत्रों में कितनी आभाओं का जन्म होता है? कितनी तरंगें उत्पन्न होती हैं? हम इनको नहीं जानते। क्योंकि हमारे समीप रहने पर भी हमसे दूर रहती हैं। इसलिये इनका नाम अन्धकार कहलाया गया है। इसी को जानने के लिये सदैव मानवता की आवश्यकता रहती है। इस गृह को जानने के पश्चात् मानव योगी बन जाता है और ऋषित्व को प्राप्त हो जाता है। (बाईसवाँ पुष्प, २४-३-७४ ई.)

अनेको यन्त्रों तथा यन्त्रालयों को जानने के साथ-साथ मानव शरीर रूपी यन्त्रालय को भी जानना आवश्यक है। इसमें कहीं सूचना केन्द्र है, कहीं आज्ञाचक्र है, कहीं श्रवण करने की शक्ति है, कहीं दृष्टिपात करने में भी भेद है। जैसे नारी को कहीं माता रूप में देखा

जाता है, कहीं पत्नी रूप में, कहीं पुत्री रूप में और उसी प्रकार की क्रिया नेत्रों में आ जाती है, मानव में अनेकों प्रकार की प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती रहती हैं। उनके सम्बन्ध में अनुसन्धान करना चाहिये।

मानव जब अपने जीवन का अनुसन्धान कर लेता है कि इस शरीर में कितने अंग हैं, उनसे किस प्रकार की ध्वनि होती है, किस प्रकार का कर्म होता है। जितने यन्त्र मानव शरीर में हैं उनसे भौतिकवाद का निर्माण होता है। भौतिक विज्ञान में परमाणुओं को जाना जाता है, उनसे यन्त्रों को बनाया जाता है। वे सब यन्त्र मानव शरीर में हैं। उन यन्त्रें का शरीर में यन्त्रालय विराजमान है। (दशवाँ पुष्प, ७-११-६८ ई.)

हमारे शरीर में कुछ सूक्ष्म अग्नि के परमाणु, कुछ जल के, कुछ वायु के तथा कुछ अन्तरिक्ष के हैं। इन्हीं से यह शरीर बना है। पार्थिव तत्त्वों की प्रधानता होने के कारण हम पार्थिव प्राणी कहलाते हैं। सूर्य मण्डल में अग्नि प्रधान है वहाँ आग्नेय शरीर कहलाते हैं। पार्थिव तत्त्व प्रधानता वाले शरीर में काम, क्रोध की मात्रा अधिक होती है परन्तु आग्नेय शरीर में ये सूक्ष्म मात्रा में होते हैं। ज्यों-ज्यों हम अग्नि के समीप चले जायेँगे त्यों-त्यों हमारी ऊर्ध्वगति होकर तमोगुणी भाव कुछ सूक्ष्म हो जाते हैं। (सातवाँ पुष्प, २७-७-६६ ई.)

जन्म से पूर्व परमाणु के स्थानान्तरण का क्रम

महर्षि रेवक ने महर्षि श्वेतकेतु से पूछा कि जब हमारा यह मानव शरीर नहीं था तो रचना से पूर्व ये परमाणु जिनसे जीवन की रचना हुई, कहाँ थे।

महर्षि भृगु ने उत्तर दिया कि रज, तम, सत् इन तीन प्रकार के परमाणुओं से इस भौतिक शरीर की रचना होती है।

प्रश्न : रचना से पूर्व ये तीन प्रकार के परमाणु कहाँ थे?

उत्तर : माता के गर्भस्थल में थे। जब माता के गर्भस्थल में बालक पनप रहा था तो सूक्ष्म परमाणु उसी में सुगठित हो रहे थे।

प्रश्न : माता के गर्भ से पूर्व कहाँ थे?

उत्तर : उससे पूर्व माता-पति के रज-वीर्य में थे। उन्हीं के बिन्दु से मानव शरीर की रचना होती है।

प्रश्न : इस रूप से पूर्व कहाँ थे?

उत्तर : इससे पूर्व वे अन्न और वनस्पति में थे।

प्रश्न : अन्न और वनस्पति से पूर्व कहा थे?

उत्तर : कृषक भी भूमि में लहलहायित हो रहे थे।

प्रश्न : कृषक की भूमि से पूर्व कहाँ थे?

उत्तर : कुछ चन्द्रमा की कान्ति में, कुछ सूर्य की किरणों में थे, कुछ वायु में, कुछ अग्नि में, कुछ पृथ्वी में, कुछ जल में थे। उनका सुगठित होना ही तो प्रभु की महान् देन है। अर्थात् ये परमाणु जिन-जिन तत्त्वों के थे उन्हीं में रमण करते रहते हैं। जैसे अग्नि के परमाणु अग्नि में, वायु के परमाणु वायु में, जल के जल में, पृथ्वी के पृथ्वी में, अन्तरिक्ष के अन्तरिक्ष में रमण करते रहते हैं। (ग्यारहवाँ पुष्प, १-८-६८ ई.)

पंचमहाभूतों का रस पृथ्वी है, पृथ्वी का रस वनस्पतियाँ हैं, वनस्पतियों का रस नाना प्रकार के पुष्प हैं, पुष्पों का रस फल हैं,

फलों का रस पुरुष है, पुरुष का रस वीर्य है।

प्रभु ने माता की अग्रतियों में सुन्दर वेदी बनायी है। जैसे यज्ञवेदी में नाना प्रकार के सुगन्धिदायक पदार्थों का अग्निपान करने के पश्चात् सूक्ष्म बना देती है और अणु-मण्डल में परिणत कर देती है। इसी प्रकार इस यज्ञवेदी में जितना माता-पिता रूपी यजमानों के सुन्दर विचार होंगे उतना ही वेदी का भाव पवित्र होगा। (बारहवाँ पुष्प, १६-४-६९ ई.)

शरीर निर्माण का क्रम

मानव संयमी हो

मानव शरीर का निर्माण रज, तम, सत इन तीन प्रकार के परमाणुओं से होता है। ये परमाणु वायु, अग्नि, जल पृथ्वी, अन्तरिक्ष, चन्द्रमा की कांति तथा सूर्य की किरणों में समाहित रहते हैं। इनसे सङ्गठित होकर कृषक की भूमि में आते हैं। रज और वीर्य के एक बिन्दु से मानव शरीर की रचना होती है। मानव का हृदय और मस्तिष्क भी उन्हीं परमाणुओं से बनता है। यह आत्मा के रहने का सुन्दर गृह है। यदि आत्मा इस शरीर में न रहे तो इसका निर्माण ही व्यर्थ हो जाता है। यह आत्मा अपने मन, बुद्धि द्वारा विचारशीलता में इतना मग्न हो जाता है कि इन दशों इन्द्रियों के ऊपर सँयमी बन जाता है। सँसार में यह गृह उसी समय सुरक्षित रहता है जब गृहवेत्ता सँयमी रहता है। यदि वह सँयमी नहीं रहता है तो गृह संचालन अशुद्ध होता चला जायेगा।

मानव के लिये विचार-यज्ञ अनिवार्य है

जिस मानव शरीर रूपी गृह में विचारों का यज्ञ नहीं होता वह व्यर्थ हो जाता है। हमें नित्य विचारों की सामग्री बनाकर आत्मा-रूपी यज्ञशाला में उनकी आहुति देनी चाहिये।

मानव शरीर में दश पात्र हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। इन सबके भिन्न-भिन्न विषय हैं किन्तु जब यह आत्मा सबको एकत्रित करके, सामग्री बनाकर यज्ञ में आहुति दे देता है तो यह आत्मा प्रभु के आँगन में चला जाता है, इसी को मोक्ष कहते हैं। (नौवाँ पुष्प, ३-३-६८ ई.)

माता के गर्भस्थल में यदि जीव नहीं होगा तो उन रज-वीर्य के परमाणुओं में स्थूलता किसी भी काल में नहीं आ सकेगी जिससे शरीर सुगठित होता है। (बारहवाँ पुष्प, ८-३-६९ ई.)

इस मानव शरीर में पंच-तत्त्वों से बनी इन्द्रियों का स्वभाव आत्मा के सन्निधान मात्र से ही जागरूक हो जाता है। वह स्वभाव अन्तःकरण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के आधार पर होता है। प्रकृति का सबसे सूक्ष्म तत्त्व मन है। वह वायु, अग्नि, जल आदि में रमण करता है। आत्मा के सन्निधानमात्र से ही उसका स्वभाव जागरूक हो जाता है। इस प्रकार यह आत्मा के समीप कहलाया जाता है। (सोलहवाँ पुष्प, १७-१०-७१ ई.)

जिस समय कन्या की लोरियाँ उमड़ आती हैं तो यह उसके युवा होने का सङ्केत है। यह प्रभु इसलिये करता है कि मानव के जन्म से पूर्व ही माता की लोरियों में रस परिपक्व हो जाता है। खान-पान का

प्रबन्ध पूर्व ही हो जाता है। (पाँचवाँ पुष्प, २०-१०-६४ ई.)

जब माता ब्रह्मचारिणी तथा रोगों से मुक्त होती है तो उसके गर्भस्थल में आकर्षण शक्ति अधिक होती है। वह वीर्य के बिन्दु को बहुत शीघ्रता से गर्भस्थल में धारण कर लेती है। गर्भ धारण के पश्चात् उसकी रचना भी सुन्दर हो जाती है। यह गर्भाशय भी अग्नि, जल इत्यादियों की आर्कषण शक्ति से है जिसे जरायुज कहते हैं। (ग्यारहवाँ पुष्प, १-८-६८ ई.)

गर्भावस्था में माता का कर्त्तव्य

नवमासों का संक्षिप्त विवरण (१) जिस समय माता के गर्भस्थापन होता है उस समय उसका हृदय उदार और पवित्र रहना चाहिये। माता के गर्भस्थल की बनावट कमल के समान होती है। जब उसमें बिन्दु चला जाता है, आत्मा प्रविष्ट हो जाता है तो गर्भ की कमल के समान पङ्खुड़ियाँ बन्द हो जाती हैं, गर्भ परिपक्व होने लगता है। माता को उस समय रसपान करना चाहिये तथा हर समय मग्न रहना चाहिये।

(२) जब गर्भ में बालक तीन माह का हो जाये तो बालक को विवेकी बनाने के लिये यज्ञ करना चाहिये और विवेक सहित ऊँचे पदार्थों का पान करना चाहिये। माता-पिता दोनों को बुद्धि की चर्चा करनी चाहिये तथा प्राण और मन की चर्चाएँ करनी चाहियेँ। तीन माह होने पर मन और प्राण की गति स्थूल रूप में माता के गर्भ में प्रविष्ट हो जाती है।

(३) चार माह होने पर माता -पिता के कुछ सँस्कार अन्तःकरण

में विराजमान होने लगते हैं।

(४) पांँचवे महीने में चित्रों में उज्ज्वल सत्ता आती है। माता की दृष्टि सुन्दर और पवित्र होगी तो विज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार वही भाव बालक की दृष्टि में पहुँचते हैं।

(५) छठे माह में बालक को बुद्धि प्रकट होती है। जैसी माता की बुद्धि होती है पूर्व जन्म के बालक के सँस्कार होते हैं वैसी बुद्धि उसको प्राप्त होती है। यदि माता की विवेकी बुद्धि होगी तो बालक की बुद्धि भी विवेकी बनेगी।

(६) सप्तम मास में गर्भाशय परिपक्व हो जाता है। उस समय वैदिक सिद्धान्त के अनुकूल माता को पवित्र तथा अपने को ऊँचा बनाना चाहिये। वही विचार बालक के अन्तःकरण में अंकित हो जाते हैं।

(७) अष्टम मास में बालक को विवेकमिलता है, विवेकी बुद्धि मिलती है। ऋतम्भरा, प्रज्ञा और मेधावी बुद्धि प्राप्त होती हैं किन्तु श्रेय प्राप्त होता है माता से तथा पूर्व जन्म के सँस्कारों से।

(८) नवें मास में बालक गर्भ से पृथक् हो जाता है। (पांचवाँ पुष्प, १८-१०-६९ ई.)

प्रश्न : माता के गर्भ में गर्भ ९ मास ९ दिन तक क्यों रहता है?

उत्तर : गऊ नाम के पशु तथा माता के गर्भ की अवधि ९ मास ९ दिन को होती है। इसमें आयुर्वेद का एक बड़ा सूक्ष्मत्तम रहस्य है। आयुर्वेद ही नहीं वेद भी कहता है कि ९ से ही गणना का आरम्भ होता है। ९ को ले जाते ही शङ्ख और पदम् की गणना की जाती है।

इसीलिये 'नवाय नमः' कहा जाता है। सभी मानव, ऋषि, देवता, दैत्य ९ मास ९ दिन तक ही गर्भ में रहते हैं। कोई मानव दश मास तक भी रहता है किन्तु वह सुन्दर नहीं माना जाता।

गर्भस्थल का स्वरूप

माता के गर्भस्थल में नाना प्रकार की ग्रन्थियाँ होती हैं। इन ग्रन्थियों में गोरस एक भयंकर प्रवाह के साथ अपनी परिधि में रमण करता रहता है। गोरस रजस् तथा वीर्य को कहते हैं। गोरस नाना प्रकार की वनस्पति के रस का नाम है। गोरस रज वीर्य को भी कहते हैं तथा पुरुषत्व को भी कहते हैं।

गर्भस्थल में 'मिलावी' नाम की वायु रमण करती है। माता के दाँऐ और बाँऐ भाग में एक 'क्रीणा' होता हैं। कहीं-कहीं दो थैलियाँ स्वीकार की जाती है। कहीं-कहीं एक ही थैली स्वीकार की जाती है। महर्षि दधीचि तथा शाण्डिल्य के सिद्धान्त के अनुसार एक ही थैली होती है। परन्तु इसकी रचना दो प्रकार की होती है। माता के अग्रभाग में 'क्रणा' नाम की नाड़ी होती है। इसका सम्बन्ध वायु से होता है। वायु में जो प्राण-वायु रमण करती है उसको अपने में धारण करती रहती है।

गर्भ में नाना प्रकार की ग्रन्थियाँ स्पष्ट होती जाती हैं। ये ग्रन्थियाँ अपने-अपने स्थान पर शुद्ध रूप में परिणत हो जाती है। उसमें मानव के आकार की जल की थैली का निर्माण हो जाता है, जिसमें बालक ओत-प्रोत हो जाता है।

(१) जल की थैली में भी इस प्रकार की नस-नाड़ियों का समूह

होता है जिसका सम्बन्ध माता की नाभि से चलकर लोरियों तक होता हुआ, ब्रह्मरन्ध्र में 'चन्द्रवेतु' नाम की नाड़ी से होता है। चन्द्रमा में नाना प्रकार के रसों का आस्वादन जो समुद्रों से मिलान करता हुआ आता है, उसमें ओत-प्रोत हो जाता है। इसकी परिस्थिति ऐसी हो जाती है कि बालक गर्भस्थल में आनन्द का पान करता रहता है।

द्वितीय मास में उस थैली में रजस् तथा वीर्य के शुक्राणु और परमाणु अग्नि तथा कृतियों से सम्बन्धित होते हुए, मानव का एक कृत्य, एक समूह सा बन जाता है जिसको 'फिननानी' कहते हैं। यह मनुष्य का पुतला उस जल की थैली में ओत-प्रोत हो जाता है। उसमें नाड़ियों का सम्बन्ध इस प्रकार हो जाता है जैसे सूर्य की किरणां का सूर्य से चक्रित रूप से होता है। इस प्रकार माता के गर्भ में आत्मा का अनुपम प्रकाश अग्रित होकर प्रकाशित होता रहता है।

गर्भस्थल में जीव की विद्यमानता

गर्भस्थल में जीव के प्रवेश के सम्बन्ध में दो सिद्धान्त है। (१) एक तो कहता है कि चतुर्थ मास में जीवात्मा आता है। (२) दूसरा कहता है कि आरम्भ में ही आ जाता है। भुंजु, कुनि और शाण्डिल्य का सिद्धान्त कुछ और है तथा मुद्गल और दधीचि के सिद्धान्तों में मतभेद हो जाता है, दोनों का निपटारा करने के लिये दर्शन यह कहता है कि गृह का निर्माण करने के लिय गृह के स्वामी की आवश्यकता होती है। स्वामी के आ जाने पर निर्माण आरम्भ हो जाता है। चेतना के अग्रित हो जाने (आ जाने) पर उज्ज्वल क्रिया की ऊर्ध्वगति हो जाना या निम्न गति हो जाना वह सब उस चेतना के

आश्रित रहने पर ही हो सकते हैं।

तृतीय मास में पूर्णतया आकार बनकर माता के गर्भस्थल में ज्यों का त्यों स्थित हो जाता है। उस समय उन्नयन (पुन्सवन) नाम का संस्कार होना चाहिये। उन्नयन (पुन्सवन) नाम का संस्कार उसको कहते हैं जहाँ बालक अपने में स्वयम् अभिमानी बनकर सुदृढ़ हे जाता है। उस समय माता-पिता को संकल्पवादी बन जाना चाहिये।

चतुर्थ मास में बुद्धि का निर्माण होता है तथा बुद्धि के तन्तु बनते हैं। इसलिये इस समय माता को गायत्री मन्त्रों का पठन (जाप) करना अनिवार्य है। साथ यदि दर्शनों का सिद्धान्त हो तो बहुत ही ऊँचा है।

पंचम मास में ओज की उत्पत्ति होती है। अतः माता को ओज की उपासना करनी चाहिये। ओज जिस प्रकार से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार का आहार-व्यवहार करना चाहिये। बार्ता करने में कैसे विचार होने चाहिये और दर्शनों को कहाँ तक विचारना चाहिये। क्योंकि विचारों के संस्कार से ही माता का गर्भाशय पवित्र बनता चला जाता है।

छठे मास में मन की सोनि नाम की धारा का प्रकृति से प्रादुर्भाव होता है। मन और आत्मा के साथ उसका निधान किया जाता है। मन और प्राण दोनों की सन्धि करके उनको अविच्छेद (एक सूत्र में) कर दिया जाता है। उस समय बालक किसी-किसी समय जल में क्रीड़ा करने लगता है।

चेतावनी

यदि इस जल की थैली में कहीं छेद हो जाये तो न माता ही जीवित रहती है, न बालक ही। अतः इसकी रक्षा करना माता का महान् कर्त्तव्य है। माता और पिता को प्रत्येक दशा में ब्रह्मचारी तो रहना ही चाहिये। यदि ब्रह्मचारी न रहे तो सुकृत तथा शुक्र (वीर्य) दोनां को हानि होती है तथा सुकृत अनाकृतियों (पापों) (कुसंस्कारों) को प्राप्त होता है।

सातवें मास में बालक परिपूर्ण हो जाता है। उसकी सब क्रियाएँ उज्ज्वल हो जाती है। उस समय माता को चाहिये कि प्रभु की आराधना करती हुई, गायत्री छन्द का जाप करती हुई चन्द्रमा के दर्शन करे। चन्द्रमा सोम है, इस समय सोम की उत्पत्ति हुआ करती है, सोम ही जीवन देता है। अतः चन्द्रमा की उपासना करनी चाहिये। आयुर्वेद का सिद्धान्त तो यहाँ तक कहता है कि चन्द्रमा की कान्ति को नग्न होकर ग्रहण करना चाहिये जिससे शरीर के प्रत्येक द्वार में लिया जा सके। इस कर्मकाण्ड को गर्भाशय का कर्मकाण्ड कहा जाता है।

इस समय यदि बालक गर्भ से दूर भी हो जाये अर्थात् (जन्म धारण कर ले) तो वह जीवित रह जाता है। क्योंकि उसको सब गुण उपलब्ध हो जाते हैं।

अष्टम मास में चन्द्रमा का सोम शान्त जाता है। उस समय सूर्य की व्यास, रेधनी पातंजली, क्रेनकेतु, आवरण आदि नाना प्रकार की कान्तियों का प्रवाह माता की नस-नाड़ियों में होता है। माता के ब्रह्मरन्ध्र में सूर्यकेतु नाम की नाड़ी हेती है। इसमें से तीन धाराएँ

चलती हैं, व्यास, रेधनी और सूर्य। उनसे तीन-तीन धाराएँ बनती हैं जिन्हें रेधनी, वैष्णव, वीतिका, आभायन्ता, नक्षानि तथा सोमाग्नि-आमकेतु कहते हैं। इनका नाड़ियों से विशेष सम्बन्ध होता है। उन नाड़ियों का सम्बन्ध माता के हृदय से होता है। इस समय माता तथा बालक के हृदय का निदान किया जाता है। इस समय यदि बालक गर्भस्थल से पृथक् हो जाये तो वह जीवित नहीं रहता।

इसका मूल कारण यह है कि माता के हृदय तथा उसके हृदय का विच्छेद अभी पूर्णतया नहीं हुआ। अतः उसके हृदय की गति सूक्ष्म रहती है। सूक्ष्म रहने के कारण माता से पृथक् होते ही उसके हृदय की गति शान्त हो जाती है।

नौवें मास में यह गर्भाशय पूर्ण हो जाता है। जैसे पूर्णिमा का चन्द्रमा सम्पूर्ण कलाओं से सम्पन्न होता है। नौ मास नौ दिन की महान् आयु होती है। मानव के शरीर में नौ द्वार होते हैं। नव द्वारों पर नौ देवता होते हैं। और नौ ही ऋषि होते हैं। बालक में आत्मा के जाने के भी नौ ही द्वार हैं। इसका मार्ग नौ दिवस में स्पष्ट हो जाता है और वे नौ के नौ मार्ग सुन्दर, स्वस्थ बन जाते हैं।

इसमें एक रेधनी नाम की वायु तथा प्रीतिका नाम की प्राण-शक्ति होती है जिसे विद्युत कहते हैं तथा जो द्यु-लोक से आती है। वह मानव की इन्द्रयों को, जो द्वार कहलाते हैं, स्वच्छ बनाती है। उस समय बालक का जन्म हो जाता है। यही कारण है कि गर्भ में नौ दिन निश्चित किये गये हैं।

प्रश्न : जब बालक को सप्तम मास में उत्पत्ति होती है तो क्या

उस समय नौ द्वारों का निर्माण नहीं होता?

उत्तर : यह श्रेष्ठ बालकों के निर्माण का वर्णन किया है। यह तो प्रकृति का विधान है तथा प्रभु का विज्ञान है। (इक्कीसवाँ पुष्प, पृष्ठ २४)

गर्भ में बालक का आहार

माता के गर्भस्थल में जब जीव जरायुज में जाता है तो यह पनपता रहता है। माता की 'रसना' के निचले भाग में 'स्वाङ्ग' नाम की नाड़ी होती है। उसके निचले भाग में 'किरकेतु' नाम की नाड़ी होती है। 'किरकेतु' नाड़ी के मध्य में आगे चलकर 'पंचम' नाम की नाड़ी होती है। इन नाड़ियों का समूह माता की रसना से रस को लेकर लोरियो तक ले जाता है। वहाँ यह रस परिपक्व होता रहता है।

लोरियों से 'पंचम' नाम की नाड़ी जिसे 'साद्यात' नाम की नाड़ी भी कहते हैं, चलती है। उसका सम्बन्ध बालक की नाभी से होता है। लोरियों में परिपक्व रस इस नाड़ी के द्वारा बालक की नाभि के मार्ग से प्राप्त होता रहता है। इस प्रकार से जरायुज में जीवत्मा का शरीर पनपता रहता है।

एक ही गर्भशय में पुत्र और पुत्री का निर्माण होता है तथा दोनों में कितनी भिन्नता होती है। यह प्रश्न विचारणीय है कि भिन्नता किस प्रकार होती है? (बारहवाँ पुष्प, ५-३-६९ ई.)

माता के निचले विभाग में एक 'त्रिधित' नाम की नाड़ी होती है। गर्भवती के गर्भस्थल में इस नाड़ी के द्वारा जो प्राण सत्ता बालक को मिलती है उसमें मिश्रित होकर के बालक को अमृत प्रदान करती है।

(पाँचवाँ पुष्प, २०-१०-६४ ई.)

इस प्रकार माता का गर्भाशय बढ़ता रहता है। गर्भाशय के पूरा हो जाने पर इन नाड़ियों का सम्बन्ध स्वयम् छूट जाता है। (दूसरा पुष्प, २७-९-६४ ई.)

गर्भस्थल में बालक के मस्तिष्क का निर्माण

माता के गर्भस्थल का सम्बन्ध माता के ब्रह्मरन्ध्र से होता है। तीन प्रकार के मस्तिष्क होते हैं। १-मस्तिष्क २-लघु मस्तिष्क और ३-हृतकेतु मस्तिष्क। माता के ब्रह्मरन्ध्र में 'श्वेता' नाम की नाड़ी होती है, जिसमें से लगभग ६४ प्रकार की धाराओं का जन्म होता है।

चौसठवीं धारा से ७२ प्रकार की धाराओं का जन्म होता है। उन धाराओं का सम्बन्ध वायु मण्डल में द्यु-लोक से होता है। इन नाड़ियों के सम्बन्ध से विज्ञान और परमात्मा की आभाओं को लेकर नाड़ियाँ मस्तिष्क में रमण करती हुई, माता के गर्भस्थल तक उन वाहक धाराओं से सम्बन्ध हो जाता है जहाँ गर्भस्थल में बालक होता है, वहाँ अखण्ड ज्योंति से ज्योति जागरूक रहती है।

इस प्रकार सूद्न्य धाराओं के द्वारा द्यु-लोक से गर्भस्थल में उस ज्योति को घृत प्राप्त होने लगता है। इससे गर्भस्थल में वह ज्योति जागरूक रहती है। उस ज्योति के आधार पर बालक का १-मस्तिष्क, २-लघुमस्तिष्क तथा ३-हृतमस्तिष्क बनता है।

इसके पश्चात् ब्रह्मरन्ध्र का निर्माण होता है। यह ज्योति उस आनन्दमयी माँ से प्राप्त होती है, जो अखण्ड रूपों में संसार में परिणत हो रही है। उस अखण्ड ज्योति को जागरूक करना प्रत्येक

माता का कर्त्तव्य है। वह माता उज्ज्वल सौभाग्यशाली होती है जो उसे ज्योतिष्मान करती रहती है। इसको 'आवरण ज्योति' कहा जाता है। (अट्ठारहवाँ पुष्प, पृष्ठ ८३)

गर्भस्थ आत्मा का प्रभाव

बहुत सी माताएँ इस प्रकार की होती है, जिनके गर्भस्थल में दैत्य प्रकृति का पुत्र होता है। उनकी जो मनोभावना है, आहार है, आहारों की जो प्रवृति है, वे भी अशुद्ध हो जाती हैं। उनमें दूसरों के रक्तपान करने की इच्छा जागृत हो जाती है।

जब माता के गर्भस्थल में ब्रह्मवेत्ता बालक होते हैं, ऊँची प्रकृति के होते हैं तो माता की प्रेरणा उसके हृदय की कामना, इच्छाएँ, रसना का आस्वादन उसी बालक के अनुकूल माता की रसना में प्रविष्ट हो जाता है।

यह अनुसन्धान का विषय है। यह माताओं को अनुसन्धान करना है कि हम अपनी इस महान् पवित्र विधि को वैदिक परम्परा में अपनाने का प्रयास करें जिस विद्या को अपनाने से माताओं के गर्भस्थल से ऊँचे पुत्रों का जन्म होता रहे। इस प्रकार की विद्या हमारे यहाँ परम्परा से चली आ रही है। इस विद्या के लिये ऋषि-मुनियों ने बड़ा बल दिया है।

१. सन्तानोत्पत्ति में रात्रि तथा नक्षत्रों का प्रभाव भी होता है। (बाईसवाँ पुष्प, २-८-७० ई.)

शरीर में प्रवृत्तियों का निर्माण

महर्षि पातंजलि के अनुसार जब मानव शरीर की रचना हो गयी

तो इसमें विराजमान होने वाला आत्मा आ गया। आत्मा की धाराएँ १-ज्ञान और २-प्रयत्न की चलीं। इन्हीं दो धाराओं के आधार पर मानव का विकास और पतन होता है।

(१) ज्ञान का प्रतिनिधि मन तथा (२) प्रयत्न का प्रतिनिधि प्राण बन गया। ज्ञान के द्वारा कामना की उत्पत्ति हुई क्योंकि मन का कार्य है कल्पना करना। कामना उत्पन्न हो जाने के पश्चात् प्राणों की पाँच धाराएँ १. प्राण २. अपान ३. व्यान ४. उदान और ५. समान बनीं। मन ने इनको कार्य भी सौंप दिया।

पंच प्राणों का कार्य

१. प्राण को नाभि चक्र तथा घ्राण के द्वारा अन्तरिक्ष से ऊँचे परमाणु लाना तथा अशुद्ध परमाणुओं को दूर ले जाने का कार्य सौंपा।

२. अपान का सम्बन्ध पृथ्वी से होने के कारण इसको दुर्गन्ध त्यागने का कार्य दिया।

३. व्यान को यह कार्य दिया गया कि मानव जो वाक्य उच्चारण करता है, वह रसना के द्वारा करता है, क्योंकि रसना के पिछले विभाग में व्यान है। कण्ठ से ऊपर मस्तिष्क का जितना कार्य है वह व्यान का है। यही मानव शरीर में ज्ञान की उत्पत्ति करता है। इसी के द्वारा ज्ञान की तरङ्गों को जाना जाता है।

एक विवेकी पुरुष जो प्राणों पर संयम करने वाला है, वह जानता है कि एक क्षण में ज्ञान की सहस्रों धाराएँ उत्पन्न होती रहती हैं और उन धाराओं का क्या बनता है। यह सब व्यान के द्वारा ही

जाना जाता है।

४. उदान उदर में रहता हैं। जो भी अन्नादि खाते हैं इन सबको पचा देता है और उनका रस बना देता है और सामान्य प्राण को दे देता है।

५. सामान्य प्राण (समान-प्राण) इस रस को हमारे शरीर की बहत्तर करोड़ बहत्तर लाख दस हजार दो सौ दो नाड़ियों को पहुँचा देता है।

पंच उपप्राण तथा उनके कार्य

जब आगे और कामनाएँ उत्पन्न हुईं जो पाँच प्राणों के पाँच उपप्राण १-नाग २-देवदत्त ३-धनंजय ४-कूर्म और ५-कृकल बन गये। इनको भी कार्य दिये गये।

१. जब मानव में क्रोध की मात्रा अधिक प्रबल हो जाती है तो मानव नाग प्राण के द्वारा क्रोध से उत्पन्न विष को उगल देता है और अम्त को भस्म कर देता है। इसीलिये क्रोध में मानव की अधिक शक्ति नष्ट होती है।

२. देवदत्त का सम्बन्ध व्यान से है जो ज्ञान की धाराओं में मिश्रित होता है। इसका सम्बन्ध शरीर में रहते हुए नाना लोक-लोकान्तरों से है।

३. धनंजय की सुगठितता उदान से होती है तथा वह उदर में ही भिन्न-भिन्न कार्य करता है।

४. कूर्म का सम्बन्ध अपान से रहता है। तथा

५. कृकल का सम्बन्ध समान से।

जब कामना सुचारु रूप से उत्पन्न हो गई तो इन प्राणों का कार्य इन्द्रियों के द्वारा होने लगा। जैसे चक्षुओं का कार्य दृष्टिपात करना है, श्रोत्रों का कार्य शब्द ग्रहण करना है, घ्राण का कार्य गन्ध को पान करना है, त्वचा का कार्य स्पर्श है, रसना का कार्य चन्द्रमा से आस्वादन लेना, उपस्थ का कार्य मल को त्यागना है। ये सब कार्य मन ने ज्ञान के द्वारा प्राणों को अर्पण कर दिये।

शब्द का सम्बन्ध अन्तरिक्ष से, घ्राण का पृथ्वी से तथा चक्षु का सूर्य से है।

आगे चलकर कामनाएँ उत्पन्न हुईं, इनका नाम तृष्णा रखा गया। जब तृष्णा के वशीभूत होकर मानव कार्य करता है तो यदि उसकी आज्ञा के अनुकूल कार्य होने लगा तो उसे अभिमान आ जाता है और प्रतिकूल होने पर अपमान की उत्पत्ति होती है। मान-अपमान दोनों साथ चले, मान के गर्भ में काम होता है और अपमान के गर्भ में क्रोध होता है। यही मानव का बाह्य-रूप है।

मान-अपमान में समभाव

मानव को इस बाह्य रूप से शान्ति नहीं मिलती। वह अपने पूर्व रूप में जाने के लिये किसी ब्रह्म-वेत्ता की खोज करता है। अब वह आन्तरिक रूप को बनाना चाहता हैं। आन्तरिक रूप को बनाने के लिये ब्रह्मवेत्ता तथा विवेकी बनने के लिये सर्वप्रथम मान-अपमान को एक समान विचारना होगा। तब तृष्णा भी सूक्ष्म हो जायेगी, कामनाएँ भी सूक्ष्म होने लगेगी।

चिन्तन और मनन करता हुआ मानव इन्द्रियों पर आता है। इनके

विषयों में व्याकता ला देता है। जब इन्द्रियों के विषयों को अच्छी प्रकार जान लेता है, उनकी सामग्री बना ली जाती है, पाँच उप-प्राणों को एकाग्र कर लिया जाता है तो पाँच प्राण रह गये। जब आगे उनका वास्तविक रूप देखता है तो एक ही प्राण रह जाता है, यही प्रयत्न है।

मन और प्राण की सन्धि हो जाने का नाम मोक्ष है। (ग्यारहवाँ पुष्प, ३-३-६८ ई.)

मन का शोधन मान-अपमान तथा तृष्णा के त्याग से

इस घृणित परिवार से छुटकारा पाने के लिये मान-अपमान को त्यागना होगा तथा संयमी बनने के लिये सभी प्रकार की कामनाओं, लोकपरलोक, कटु-मधुर को त्यागना होगा। यदि कामना होगी तो संस्कार होंगे, संस्कार होगे तो आवागमन स्वभाविक होगा। मान-अपमान दोनों हमारी मृत्यु के कारण हैं। इन दोनों को त्यागकर सर्वप्रथम शान्त मुद्रा में विराजमान हो जाना चाहिये, क्योंकि तृष्णा तथा मान-अपमान का केन्द्र यह मन है, इसका शोधन करना है।

मुक्ति प्राप्ति का मार्ग

मन, ज्ञान के आसन पर विराजमान है। मन से शक्तिशाली प्राण है, अन्य कोई वस्तु नहीं। अतः इस मन को प्राण के विज्ञान तथा विभाजन में सुगठित कर देना चाहिये। मन का इन्द्रियों से विच्छेद हो जाने पर यह शून्य तथा काम से रहित हो जाता है। इस स्थिति को समाधि कहते है।

जब प्राण और मन दोनों सुगठित होकर लघुमस्तिष्क में चले

जाते हैं तो इन्द्रियाँ शून्य हो जाती हैं। शून्य हो जाने पर पाँच उप-प्राण सुगठित हो जाते हैं। फिर मुख्य प्राण भी सुगठित हो जाते हैं। इसके पश्चात् ज्ञान और प्रयत्न की धाराएँ एक होकर मानव को मुक्ति का द्वार प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार ज्ञान और प्रयत्न के मध्य जो अन्तर्द्वन्द्व था, वह समाप्त होकर कार्य से कारण तथा कारण से कार्य दोनों एक रूप हो जाते हैं और कारण से कार्य कदापि भिन्न नहीं होते।

प्रश्न : प्रश्न उत्पन्न यह होता है कि मानव शरीर में ज्ञान और प्रयत्न से इस अन्तर्द्वन्द्व को जगाने वाली कौन सी शक्ति है? कोई कहता है कि प्रकृति है, किन्तु प्रकृति का स्थान जीवात्मा से निचला है। अतः उससे अन्तर्द्वन्द्व नहीं आ सकता। यदि यह स्वीकार करें कि ब्रह्म से यह अन्तर्द्वन्द्व आया तो यह भी स्वीकार्य नहीं, क्योंकि वहाँ तो प्रकाश है। अन्तर्द्वन्द्व का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

अन्त में निष्कर्ष यही निकला है कि यह केवल अनुभव का विषय रह जाता है, वाणी का नहीं। यह कार्य समाधि के साधकों का तथा विचारकों का है शब्दों का नहीं।

मन को जानना मानव का कर्त्तव्य है

सारांश यह है कि मानव बाह्य-जगत में मन के कारण ही से आता है और यही इसे बाह्य-जगत से आन्तरिक-जगत में ले जाता है। इसलिये मन को जानना मानव का कर्त्तव्य है। वह इस शरीर की वास्तविकता को जाने कि यह परमाणुओं से कैसे सुगठित होता है। इस पर कितना सुन्दर लेपन है, सुन्दर चक्षु हैं आदि। इनके बाह्य

और आन्तरिक रूपों को जानना भी मानव का कर्त्तव्य है। (बारहवाँ पुष्प, ५-३-६९ ई.)

गर्भस्थ-जीवात्मा द्वारा प्रार्थना

गर्भस्थ-जीवात्मा परमात्मा से अनुरोध करता है कि मेरे जो कर्म शेष रह गये हैं उनको करते हुए आत्मा को महान् बनाने का प्रयत्न करूँगा तथा मोक्ष लाभ कर आपके आँगन में आकर परमानन्द को पा सकूंगा। इस संसार में आने का आत्मा का यही एकमात्र उद्देश्य है।

किन्तु यह इस संसार में जन्म लेकर कामनाओं, वासनाओं और विषयों में ऐसा फँस जाता है कि प्रकृति का दास बन जाता है। प्रकृति इसको आदेश देती है, यह प्रकृति की ओर भ$ुक जाता है। प्रकृति में रमण करके ऐसा भटक जाता है कि अपने वचनों को भुला बैठता है। अपने महत्त्व को भुलाकर सब कुछ नष्ट कर बैठता है। (प्रथम पुष्प, २-४-६२ ई.)

शरीर का रचयिता परमात्मा

नास्तिक : बालक की रचना माता-पिता के संयोग से उनके रजवीर्य से स्वयम् हो जाती है।

आस्तिक : यह तो सही है कि माता-पिता के मिलान से माता के जरायुज में विन्दु की स्थापना हो गयी, किन्तु इसके पश्चात् क्या हुआ? यह माता-पिता स्वयम् नहीं जानते। यदि वे जानते होते तो उन्हें विभिन्न इन्द्रियों के निर्माण का ज्ञान होता।

जैसे नेत्र के पीले पटल के पिछले भाग में ज्योति का अङ्कुर

होता है, मुख में जिह्वा होती है, उसके पिछले भाग में सूक्ष्म-सूक्ष्म अङ्कुर होते हैं। इन अङ्कुरों में यह विशेषता होती है कि वे वायुमण्डल से, वाणी से सम्बन्धित परमाणुओं को आकर्षित करते रहते हैं और आकर्षित होकर रसना के द्वारा वही वाक्य प्रकट होने लगते हैं।

श्रोत्र में, सूक्ष्म से मार्ग में एक सूक्ष्म सा अङ्कुर होता है। उस अङ्कुर मण्डल में वाक्य आया और उस सूक्ष्म से अङ्कुर से, उस वाक्य को ग्रहण कर लेते हैं। वाणी से उसका सम्बन्ध होने के कारण वाणी उसे उच्चारण करने लगती है। इसी प्रकार त्वचा में भी ज्ञान का प्रकार है। दन्त हैं, इनके पिछले भाग में 'राम अग्रणी केतु' यन्त्रों का निर्माण किया। घ्राण है, इसमें सुगन्धि को प्राप्त करने का यन्त्र लगा है किन्तु इन्हें इसका कोई ज्ञान नहीं होता। इसलिये माता-पिता निर्माण करने वाले नहीं बल्कि इसकी रचना करने वाला प्रभु ही है।

यदि मान भी लेवें कि यह शरीर माता-पिता के रजवीर्य से बन गया तो यह कल्पना कहाँ से जाग गयी जो मानव यहाँ उत्पन्न होकर करता है? इसका उत्तर भौतिकवादी नहीं, आध्यात्मिकवेत्ता देता है कि कल्पना की इस तरंग का केन्द्र आत्मा है और आत्मा में जो केन्द्र है वह परमात्मा का है। उस तरंग का नाम ही ईश्वर की एक महान् चैतन्य सत्ता है। (नौवाँ पुष्प, २९-७-६७ ई.)

मानव शरीर की आयु

इस शरीर में जितनी सूक्ष्मता होगी उतनी ही हमारी आयु अधिक होगी। (सातवाँ पुष्प, १९-७-६६ ई.)

जो व्यक्ति माता के गर्भ से उत्पन्न हुआ है, गर्भ में जिसकी

पालना हुई है जो पंच-भौतिक तत्वों से उत्पन्न हुआ है, उसका आज नहीं तो कल अवश्य विनाश हो जायेगा। उसका शरीर छूटना अनिवार्य है। इस कार्य के लिये परमात्मा को शरीर धारण करने की कदापि आवश्यकता नहीं। यह शरीर नाशवान है।

इसमें रहने वाला आत्मा अनादि है। उसका न कभी अन्त है, न उत्पत्ति। उसके तो इस सृष्टि में, प्रकृति के आँगन में आकर नाना रूपान्तर होते रहते हैं। (सातवाँ पुष्प, २२-८-६२ ई.)

परमात्मा ने अवधि बनायी है। मानव को सौ वर्ष वाली अवस्था का जीवन दान दिया है। यह जीवन श्वासों पर बनाया गया है। योगाभ्यास द्वारा चार सौ या इससे भी अधिक आयु हो सकती है। योगाभ्यास द्वारा अपने स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर को जानने वाले भी हो सकते हैं, तो भी इस शरीर की अवधि है, यह असीमित नहीं है। (प्रथम पुष्प, १-४-६२ ई.)

मानव को नाना प्रकार के सन्देह रहते हैं कि आयु मानव के श्वासों के ऊपर रहती है। किन्हीं आचार्यों का यह मत है कि प्रारब्ध के ऊपर रहती है। किन्ही का यह मत है कि आयु पूर्व जन्म के संस्कार से प्राप्त होती है। मानवों में भिन्न-भिन्न प्रकार का विचार विनिमय होता रहता है, दार्शनिकों के निर्णय क्या हैं, यह देखना है।

कोई कहता है, यह श्वासों के ऊपर है। मानव जितने श्वास अधिक ले लेता है, उतनी ही आयु को सूक्ष्म बनाता है। कोई कह रहा है कि यह प्रारब्ध से हैं, यदि प्रारब्ध से हैं तो मनुष्य आयु को अधिक कैसे बना सकता है ?

हमारे यहाँ कहा गया है कि आयु, जाति तथा भोग, ये पूर्व जन्म के संस्कारों से प्राप्त होते हैं, आयु कितनी है? जाति मनुष्य है, पक्षी है, कौन सी योनि प्राप्त होनी है? ये जातियाँ, भोग जो हमें भोगना है, इस संसार में जितना भी कलङ्कित होना है, जितना भी हमें सुख प्राप्त होना है, वह सब हमें पूर्व जन्मों के संस्कारों से प्राप्त होते हैं। ऐसा भी आचार्यजनों ने माना है।

वायु मुनि तथा उनके वंशज कुक्कुट मुनि व उनके सातवें बाबा भृङ्गी जी से शृङ्गी जी भी इस पर विचार करते रहे तथा महर्षि अङ्गिरा जी भी उन्हीं के अनुसार विचार रखते थे।

विचार क्या है? आयु, जाति और भोग को हम किन रूपों में परिणत करते हैं? ये पूर्वजन्मों से प्राप्त होते हैं अथवा आयु श्वासों के ऊपर होती है?

जहाँ तक पूर्व जन्मों के संस्कार का प्रश्न है, ये तो मानव के साथ होते ही हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है। न द्वितीय विचार है, न दो मत हैं। क्योंकि वैदिक विचार-विनिमय करने वाले जो पुरुष होते हैं वे यह स्वीकार करते चले आये हैं कि इस आत्मा को मानव का जन्म या किसी भी योनि में जाना किसी द्वितीय रूपान्तर का भेदन है। सभी का यह मत रहा है कि मृत्यु का अभाव है। मानव शरीर के परमाणुओं का रूपान्तर होना और अज्ञानता का नाम मृत्यु है।

आयु का आधार श्वास है

वायु मुनि का सिद्धान्त तथा उनके वंशजों का सिद्धान्त यह है कि मानव की यह जो आयु होती है वह श्वासों के ऊपर होती है। श्वास

की गति को जितना धीमा बनाया जाता है, जितना उसको अपने में धारण कराया जाता है उतनी ही आयु दीर्घ होती चली जाती है। श्वास के साथ जितना परमाणुवाद है, एक-एक परमाणु जो अन्तरिक्ष से लेता है, जितना भी उसका सुन्दर वातावरण होगा, सुन्दर परमाणु होंगे, वे प्राण के साथ आवागमन करते रहेंगे तो उतना मानव का हृदय प्रसन्न रहता है। उस प्रसन्नता को लाना है, जो प्रत्येक श्वास के साथ में मानव में उत्पन्न हो। यह क्या है? हमें उसी परिस्थिति को बनाना है। उन्हीं वाक्यों को लाना है, उन्हीं परमाणुओं को लाना है जिससे मानव का हृदय पवित्र होता है।

एक माता अपने पुत्र को दृष्टिपात करके कितनी प्रसन्न होती है। उसकी प्रसन्नता का कारण यह है कि वह मानवीय हृदय है। यदि हृदय न होता तो माता को प्रसन्नता उत्पन्न होने का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि वह जो प्रसन्नता है, वह हृदय से करती है। अपने हृदय से उसे स्नेह रहता है।

श्वास की गति जानने वाला जो पुरुष होता है, उसे संसार में सर्वत्र सुख होता है। क्योंकि वह जो प्राण हैं, परमाणुवाद है, यह जो आत्मा है, उस मानव के हृदय से उसका उद्गार है, उसका जन्म होता है और हृदय में उसका मिलान होता है। इसलिये प्रत्येक श्वास के साथ में मानव प्रसन्न रहता है।

प्रायः मानव दुःखित होकर कहा करता है कि मुझे भी तो एक भी श्वास जगत में ऐसा नहीं आया कि जो मैं प्रसन्न रहूँ जो मुझे भी सुख आ जाये।

जहाँ तक सुख का प्रश्न है, वह केवल उसी मानव को प्राप्त होता है जो हृदय को जानता है, हृदय की विभिन्नता को जानता है, हृदय के उद्गार को जानता है और उसके प्राण की जो उत्पत्ति होती है, प्राण का जो उद्गार होता है, उसी को जानने वाला संसार में प्रसन्न रहता है। उसी को सुख प्राप्त होता है। वहीं संसार में आनन्दित रहता है। उसके लिये यह जगत चाहे नग्न रहे परन्तु वह उन विचारों में चला जाता है, जिन विचारों से मानव को वृष्यता (बल, वीर्य, आनन्द) आती है। विचारों में वृष्यता आने के पश्चात् वह वृष्यता वाला प्राणी बन करके इस नाना प्रकार के जगत से उदासीन हो जाता है। वह ब्राह्मण बन जाता है।

जैसे एक वैज्ञानिक चन्द्रमा की यात्रा में जा रहा है, यात्रा करना चाहता है, उसको कितनी निष्ठा होती है, कितनी आस्था है। उसे मृत्यु का भय नहीं है, केवल यह विचार उसके मन में है, यह निष्ठा है कि मुझे भी चन्द्र यात्रा करनी है, चन्द्रमा पर जाना है। वह यह नहीं विचारता कि विद्युत् में, अग्नि की तरंगों में यह तुम्हारा यन्त्र जा रहा है। वह कितना उदासीन हो गया है इस जगत से। किन्तु इसको वास्तविक उदासीनता नहीं कहते। वैज्ञानिक महापुरुष होते हैं, वे चन्द्रमा में जाने के लिये धातुओं का यन्त्र बनाते है।

परन्तु जो वास्तविक उदासीन होते हैं वे मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का यन्त्र बनाकर लोक-लोकान्तरों में विराजमान रहते हैं।

प्रसन्नता प्राण के द्वारा आती है। प्राण में वह वायुमण्डल से आती है। वायुमण्डल में वह प्रसन्नता द्यु-लोक से आती है। द्यु-लोक

स्वयम् प्रसन्नता से पूर्ण होता है। उसमें प्रसन्नता का अभाव उत्पन्न नहीं होता। द्यु-लोक का सम्बन्ध मानव के हृदय से होता है, इसीलिये हृदय में वह समाहित होता है। हृदय से ही वे तरंगें उत्पन्न होती हैं।

निष्कर्ष यह है कि आयु, जाति, भोग की प्राप्ति में पूर्व जन्मों का संस्कार भी होता है परन्तु जगत का वातावरण भी होता है। जिस स्थान पर रहता है, उस स्थान का प्रभाव भी रहता है। परन्तु मानव में यह जगत और उसका प्रभाव यह मानवता में परिणत रहने वाला है। इस स्वभाव में और ऐसी परिस्थितियों में यह मानव इस संसार में पनपता रहता है, विचार-विनिमय करता रहता है।

विचार तो यह कहता चला जा रहा है कि मानव की आयु श्वासों के ऊपर रहती है। किन्ही-किन्ही ने प्रारब्ध के ऊपर माना है, संस्कारों पर माना है।

परन्तु मेरा जो विश्वास है, अनुसन्धान है, कुछ सूक्ष्म सा वह विश्वास श्वासों के ऊपर रहता है। श्वासों के ऊपर मानव की आयु होती है। इसलिये प्राणायाम करने वाला जो प्राणी है उसकी ऊँची आयु होती है, दीर्घ बन जाती है।

यदि प्रारब्ध के ऊपर आयु का स्थान होता तो आयु का सूक्ष्म होना, ऊर्ध्वा होना, अधिक होना, यह नहीं बन पाता।

श्वास की गति को शक्तिशाली बनाने के लिये ब्रह्मचर्य अनिवार्य है

इसलिये मानव जितनी धीमी गति से श्वास लेता है और मन्दगति होती है, उतनी ही मानव की दीर्घ आयु होती है। ब्रह्मचर्य का पालन जितना करता है, उसकी श्वास की गति प्रबल होती है,

महान होती है। जितना मानव योगाभ्यास करता है, आत्मा को जानता है, उतना ही श्वासों में सुन्दर परमाणु आते हैं। (तेईसवाँ पुष्प, ११-३-७२ ई.)

६ षष्ठ अध्याय-श्रेष्ठ-सन्तान-प्राप्ति की विधि

तपस्विनी माताएँ ही महापुरुषों को जन्म देती हैं

बालक को जन्म देने के लिये माता को तप की आवश्यकता है। बिना तप के कदापि महान् बालक उत्पन्न नहीं होता। यों तो कीड़ों को प्रायः माताएँ जन्म देती ही रहती हैं। किन्तु महान् पुरुषों को जन्म देने वाली माताओं का हृदय तपा हुआ होता है। बाल्यकाल से लेकर माता बनने तक वह ब्रह्मचारिणी रह कर ओज की रक्षा करती है तो पूर्ण युवती हो जाने पर उस माता को किसी प्रकार का रोग नहीं होता यह आयुर्वेद का सिद्धान्त है। (इक्कीसवाँ पुष्प, पृष्ठ-२४)

माताओं को आयुर्वेद का अध्ययन करना आवश्यक है

जब माता को गर्भ की विभिन्न स्थितियों तथा उपांगों का ज्ञान नहीं होता तो वह प्रायः अनेकों अशुद्धियाँ करती रहती हैं। प्राचीन काल में जब मुनियों का जन्म होता था, उस समय माताओं के लिये आयुर्वेद का अध्ययन करना अनिवार्य होता था जिससे माता का जीवन सर्वश्रेष्ठ बनता चला जाता था। इस प्रकार से जिन बालकों का जन्म होता है वे मनसा पापी तथा दुर्व्यवहारी नहीं होते। वे माता के गर्भ को ऊँचा बनाने वाले होते हैं। जो मानव मनसा पापी होते हैं, तथा जिन्हें विचार नहीं होता, उनके मातृ संस्कार अशुद्ध होते हैं। (इक्कीसवाँ पुष्प)

माताओं को आयुर्वेद का ज्ञान होना चाहिये। जितनी माताएँ आयुर्वेद को जानने वाली होंगी उतना ही समाज ऊँचा बनेगा, उतना

ही विचार ऊँचा बनेगा। क्यांकि आयुर्वेद में भक्ष्याभक्ष्य का प्रायः वर्णन है। माता को कैसा आहार किस-किस माह में करना चाहिये, किस-किस माह में पिता को कैसा आहार करना चाहिये, कैसा विचार करना चाहिये। यह सब आयुर्वेद में प्राप्त होता है।

माता को औषधियों का पान करना आवश्यक है

नाना प्रकार की औषधियों का पान करने से ब्रह्मचर्य की गति ऊर्ध्वा तथा ध्रुवा होती रहती है। माता अपने गर्भस्थल में स्थित जीव के होते समय ऐसी औषधियों का पान करे कि पृथ्वी पर बालक के आने के पश्चात् वह सूक्ष्म सा अध्ययन करने मात्र से, उसका संस्कार उद्बुद्ध हो जाने से वह आयुर्वेद का महा-पण्डित बन जाता है। उदाहरणार्थ अश्विनी कुमारों की माता ने जब अनुसन्धान किया तो उसके गर्भ स्थिर होने पर जब-जब पूर्णिमा आती, उसी दिन वह चन्द्रमा की किरणों में तपस्या करती रहती थी। चद्रमा की कान्ति को अपने उदर पर, अपने मुखारविन्द से तथा प्रत्येक इन्द्रिय के द्वारा पान करती रहती थी।

औषधियो के सेवन का सुपरिणाम

१. शैलखण्डा, २. मामकेतु, ३. स्वाति, ४. फूली आदि ओषधियों का आसन बनाकर, पूर्णिमा के दिन उस आसन पर विराजमान होकर आयुर्वेद का अध्ययन करती रहती थी। आयुर्वेद का अध्ययन करने मात्र से दोनों पुत्रों, अश्विनी कुमारों का जन्म एक ही साथ हुआ। वे जब आयुर्वेद का अध्ययन करने गये तो सूक्ष्मसा अध्ययन करने पर आयुर्वेद के महापण्डित बन गये।

राष्ट्रों के विनाश का मूल कारण

माता के ऊपर बालक का बहुत दायित्व होता है क्योंकि उसकी आभाएँ सदैव उसमें रमण करती रहती हैं। वैज्ञानिक माता जैसा पुत्र को बनाना चाहती है, उसी प्रकार का अध्ययन, उसी प्रकार का उसका आहार और व्यवहार होना चाहिये। समाज उस काल में अज्ञानी बन जाता है, जिस काल में माता बुद्धिमती नहीं रहती। क्योंकि माताएँ जब अपने कर्त्तव्य को त्याग देती हैं तब उनके गर्भ में कर्त्तव्यहीन प्राणियों का जन्म हो जाता है। उससे संसार में शिक्षार्थी नहीं रहते। आचार्यों का भी अभाव हो जाता है। आचार्यों का अभाव होने पर छात्रबल में अशुद्धवाद (कर्त्तव्यहीनता, चारित्रिक हीनता) होने पर रक्तभरी क्रान्ति आ जाती है। धर्म की परम्पराओं में सूक्ष्मता आ करके रूढ़ियाँ बन जाती हैं। रूढ़ियाँ धर्म और राष्ट्र दोनों को विनाश के मार्ग पर ले जाती हैं। तब विज्ञान नहीं रह पाता।(चौबीसवाँ पुष्प, १७-६-७२ ई.)

आज तो वैद्यराज उदरपूर्ति के लिये बन गये हैं। किन्तु प्राचीनकाल में महिलाएँ वैद्यराज होती थीं। आयुर्वेद की विद्या में मानव का निर्माण है तथा मानव का दर्शन है। मानव के दर्शन तथा निर्माण को प्रदान करने वाली माता ही है। अतः उन्हें आयुर्वेद की शिक्षा दी जानी चाहिये। (उन्नीसवाँ पुष्प, २०-३-७२ ई.)

गर्भस्थापनार्थ नक्षत्रों की विद्या का ज्ञान अनिवार्य है

माता इच्छानुसार सन्तान उत्पन्न करे। परमात्मा के नियम के अनुकूल ऋतुकाल स्पष्ट होने के पश्चात् सोलहवीं रात्रि को पति के

द्वारा ऋतुगामी बनकर श्रेष्ठ बालक को उत्पन्न करे। परन्तु उसके पास वेद की अनुपम विद्या होनी चाहिये। यदि सोलहवीं 'रात्रि में ज्येष्ठा' नक्षत्र हो और गर्भ स्थापना हो जाये तो निश्चित है कि जो बालक उत्पन्न होगा, वह संसार का वीर बालक कहलायेगा। इसके विपरीत यदि ग्यारहवीं अथवा बारहवीं रात्रि हो और पुष्य नक्षत्र हो तो निश्चित है कि उसके गर्भ से दैत्य उत्पन्न होता है। हमें इन नक्षत्रों का तथा इस विद्या का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। (चौथा पुष्प, २१-४-६४ ई.)

(१) जब चित्र और पुष्य नक्षत्र दोनों का मिलान होता है उस समय गर्भ-स्थापना होने से अधिराज बालक का जन्म होता है। (२) जब सूर्य और चन्द्रमा अपनी परिधि में हों और पृथ्वी इनके मध्य में हो, पृथ्वी का ग्रहण हो और उनके ऊपर पुष्य नक्षत्र की छाया हो तो उस समय गर्भस्थापन करने पर बुद्धिमान वेदों का प्रकाण्ड पण्डित उत्पन्न होता है। (बाहरवाँ पुष्प, १६-४-६९ ई.)

गर्भ-स्थापना के पश्चात् माता का कर्त्तव्य

गर्भ स्थापित हो जाने पर माता को यजन तथा वेदपाठ करने वाली बनना व ब्रह्मचर्य धारण करके अपने मन को नियन्त्रण में रखे। मन में जिस प्रकार की सङ्कल्प-विकल्प की धाराएँ होंगी, उनके अनुकूल ही पुत्र उत्पन्न होगा। यदि माता तुच्छ भावनाओं को त्याग करके, माता गायत्री की गोद में जाकर गर्भस्थल में रहने वाली सन्तान चाहे कन्या हो या पुत्र हो, का पालन करे तो वह मन चाहा होगा।

जिस प्रकार गायत्री की तीन व्याहृतियाँ होती हैं, इसी प्रकार

माता की भी तीन व्याहृतियाँ होती हैं इसीलिये उसे भी गायत्री कहा जाता है। तीन व्याहृतियाँ ये है :

१. बालक को उत्पन्न करती है और पालन-पोषण करती है।

२. अपने बालक को राष्ट्र का और संसार का विचित्र बालक बनाती है।

३. उसमें संसार के कल्याण की भावनाएँ होती हैं।

अपने ही पुत्रें की नहीं बल्कि संसार के पुत्रों को ऊँचा बनाने की भावनाएँ जब उसमें होती हैं तो मानवत्व ऊँचा कहलाता है। ऐसी माता को गायत्री कहा जाता है।

माता के लिये सात्विक भोजन अनिवार्य है

गर्भावस्था में यदि माता अन्य जीवों का भक्षण करती है तो वह अपने बालक की आत्मा की हत्या करती है। माता को अशुद्ध आहार नहीं करना चाहिये जो कि गर्भ में बालक के लिये घातक हो। उन माताओं के गर्भ से ऋषियों का जन्म होता है जो वैदिक विज्ञान को जानती हैं, मनोमय विज्ञान को जानती हैं तथा तीन व्याहृतियों पर विचार किया करती हैं। जब माता श्रेष्ठ होती है तो पुत्र भी श्रेष्ठ होता है, तब ऋषिता, मानवता और पवित्रता आती है। (चौथा पुष्प, २१-४-६४ ई.)

जो माता अपनी कामनाओं के अनुकूल पुत्र और पुत्री को जन्म देने वाली हो, उसे 'कामधेनु' कहते हैं। मानव के शरीर में ७२ करोड़, ७२ लाख, १० हजार, दो सौ दो नाड़ियाँ हैं। ये सब माता के गर्भ में, सब तन्तुओं को सम्बन्धित करने से बनती हैं। वह परमात्मा

इसीलिये सृष्टि का, रचयिता कहलाता है। (सातवाँ पुष्प, ७-७-६५ ई.)

सन्तान की प्रवृत्तियों एवम् विचारों का निर्माण माता द्वारा होता है

शरीर का निर्माण तो माता नहीं करती किन्तु उसकी प्रवृत्तियों का, उनके विचारों का चुनाव माता के द्वारा होता है। माता गर्भ से पृथक् होने तक बालक की प्रकृति का सुन्दर निर्माण कर देती है। जिस प्रकार सुन्दर और परिपक्व नींव पर बना हुआ गृह बहुत काल तक नष्ट नहीं होता, इसी प्रकार मानव के आरम्भ के जीवन में वास्तविकता, ब्रह्मचर्य और विचारों में सुदृढ़ता होनी चाहिये। ऐसा होने पर उसके मध्य और अन्त के जीवन में अशुद्धियाँ नहीं आतीं, वह हताश नहीं होता। (नौवाँ पुष्प, १८-७-६७ ई.)

गर्भवती माता जब उस निर्माणवेत्ता प्रभु को जानने लगती है तो उसके गर्भ से अज्ञानी पुत्र का जन्म नहीं होता। वह ज्ञानयुक्त तथा बलिष्ठ होता है, उसमें ओज और तेज की उत्तम भावना होती है। (पन्द्रहवाँ पुष्प, २३-८-७१ ई.)

आत्मा को माता के गर्भ में जो महत्ता और शिक्षा प्राप्त हो जाती है वह सर्व जीवन भर में मानव प्राप्त नहीं कर सकता। (पाँचवाँ पुष्प, ४-४-६२ ई.)

गर्भावस्था में माता की चर्या

प्रथम माह में जब माता के गर्भ में आत्मा प्रविष्ट हो जाता है तो आत्मा के आते ही माता को सदैव ऐसे स्थान में प्रविष्ट होना चाहिये, जहाँ शुद्ध वायु प्रविष्ट होती हो। यज्ञ करना चाहिये, सुगन्धि देनी

चाहिये। उस सुगन्धि के द्वारा उत्पन्न अन्न का पान करना चाहिये। जैसे गौ-घृत है, माह (माश, उड़द) है, तन्दुल (चावल) है, इनका भात बना करके गौ-घृत के साथ इसको लवण (नमक) रहित और मिष्टान्न रहित लेना चाहिये। समय-समय पर इसको सूक्ष्म रूप में पान करने वाली माता गौ-घृत में जब अपने मुखारविन्द का चित्रण करती है तो वह माता अपनी बाह्य-क्रियाओं से अपने गर्भ में बालक का निर्माण कर रही है। पूर्णिमा के दिन रात्रि भर जागरण करना चाहिये तथा चन्द्रमा की आभा को दृष्टिपात करना और श्वास, नेत्रों, श्रोत्र तथा त्वचा के द्वारा चन्द्रमा की कान्ति को समय-समय पर पान करना चाहिये। पान करने का अभिप्राय यह है कि चन्द्रमा की जो आभा है, जो कान्ति है, उससे अपनी कान्ति का मिलान करना तथा मस्तिष्क में विचारना और हृदय में उसको धारण करना। हृदय में चन्द्रमा के नेत्रों से नेत्र का मिलान करते हैं। माता नेत्र शान्त करके जब उसका ध्यान करती है, अन्तर्ध्यान करती है तो वह उसको पान कर रही है।

अमावस्या के दिवस जब वह चिन्तन करती है तो गर्भ से उत्पन्न होने वाला बालक मानो सोम को पान कर रहा है। माता के द्वारा सोम का पान करता हुआ इस सागर से आवृत होने लगता है।

अमावस के दिन शान्त गति रहना तथा अन्धकार में प्रकाश का ध्यान करना। इसी प्रकार ९ के ९ मासों के प्रत्येक मास में इसी प्रकार का चिन्तन करना चाहिये।

द्वितीय मास में सोम वाली वस्तु का पान करना है। वे

सोमलताएँ होती हैं। जैसे १. शङ्ख भूनि २. सोम भानि आदि। अमावस्या और पूर्णिमा के दिवस व्रती रहना और नाना प्रकार की औषधियों का पान करना चाहिये। उस माता के गर्भ से उत्पन्न होने वाले बालक का हृदय कदापि सूक्ष्म नहीं बन सकेगा। (तेहरवाँ पुष्प, ११-३-७२ ई.)

१. प्रथम मास में मधुर वस्तुओं का आहार कुछ कसैला पदार्थ मिश्रित करके लेना चाहिये।

२. द्वितीय मास में रस दायक पदार्थ लेने चाहिये, जैसे वनस्पति आदि। १. शैलखण्डा २. शङ्खाहुली ३. ब्रह्म केतुनी, इन औषधियों का रस सायङ्काल को जल में अप्रेत (भिगोकर) चन्द्रमा की कान्ति में अस्वत (रख देना) चाहिये और प्रातः काल इसका पान करना चाहिये।

३. तृतीय मास में कुछ ऊष्ण औषधियाँ होनी चाहिये। १. शङ्खाहुली २. सामभूनि ३. रामभानि नाम की औषधियों को अग्नि में तपाकर पान करना चाहिये।

४. चतुर्थ मास में बुद्धिबर्धक पदार्थ लेने चाहियें। १. सहदेयी २. शङ्खानि ३. चाक्राणि ४. गली नाम की औषधियों का रस बनाकर पान करना चाहिये।

५. पंचम मास में सूर्य तथा चन्द्रमा की किरणों से तपाया हुआ जल होना चाहिये। १. गोमूत्र लेकर उसको अग्नि में तपाकर उसमें २. केशधानि ३. सुहानी ४. चम्पानी ५. तेलकेतु के पुष्प को अग्नि में तपाकर पान करना चाहिये। ऐसी माताएँ ऋषि को जन्म देती हैं।

६. षष्ठ मास में १. सेल हानिनि २. चम्पानी ३. कान अत्तु ४. सानवेतु के रस को तथा इनको अग्नि में तपाकर स्याही बनाकर मिष्टान्न में साग बनाकर गोघृत सहित, गोदुग्ध के सहित पान करना चाहिये।

७. सप्तम मास में हृदयग्राही औषधि देनी चाहिये। १. गोकलु २. गोगिनी ३. पापड़िक औषधियों को गोदुग्ध में रखने के पश्चात् छाया में शुष्क करके सूर्य के साथ इनको खरल करके पान करना चाहिये। इससे बालक पूर्ण होता चला जाता है।

८. आठवें मास में १स्वादकेतु जल तथा २. वर्षा के जल को अग्नि में तपाकर उसमें ३. मनकुन ४. कोणकेतु आदि द्रव्य तथा मेवाएँ मिलाकर पान करना चाहिये, इससे हृदय विशाल होता है।

९. नौवें मास में अन्न की बुद्धि ब्रह्मीअस्त होनी चाहिये। तन्तुल को तपाकर उसको अप्रेत (भिगोकर) करके उसमें नाना प्रकार की १. क्रोणीवेतु और २. गोघृत मिलाकर पात बनाकर पान कराना चाहिये।

१०. आगे ९ दिवस में प्रतिदिन, प्रतिमास में ली गयी औषधियों का पान करना चाहिये।

इस सब कर्मकाण्ड को महर्षि वशिष्ठ की माता सोमभूनि ने किया था। वशिष्ठ का निर्माण इन्हीं औषधियों के द्वारा किया गया था। (इक्कीसवाँ पुष्प, पृष्ठ २४)

गर्भाशय को उत्तम बनाने की औषधि

सोम रात्रि हो, चन्द्र रात्रि हो। चन्द्र रात्रि के अर्ध भाग में ऊपरले

कृतिका नक्षत्र की प्रकृति की छाया हो उस समय निद्रा नहीं रहनी चाहिये, जागरूक रहने के लिये गायत्री का पठन-पाठन (जाप) करना चाहिये तथा ब्रह्म का चिन्तन होना चाहिये। जब रात्रि का चतुर्थ भाग रह जाता है, तब कृतिका नक्षत्र अस्त हो जाता हैं। उसके पश्चात् कृति-बोध होता है। तब सूर्योदय से पूर्व बाहर मार्ग में या वन में चले जाओ। १. शङ्खाहुलि, २. शङ्खामृधि ३. अनवेतन नाम की औषधियों का सोमरस बनाकर सूर्योदय की किरण के साथ उसे पान कर लेना चाहिये। उसके पान करने से गर्भाशय में जो अङ्कुर हैं, उसकी आकृति उसकी कृतिका में उसकी सोमता के प्रति आकृत हो जायेगी। (तेहरवाँ पुष्प, १-११-६९ ई.)

बालक के जन्म के तुरन्त पश्चात

मातात्रों को चाहिये कि वे १.स्वर्ण की रुद्रा २. मधु ३.सेम कृतिभा तथा ४.अमृता (गिलोय) इन चार औषधियों का रस बनाकर बालक का जन्म होते ही उसकी रसना पर स्पर्श करें जिससे उसमें दोष समाप्त हो जायें। (इक्कीसवाँ पुष्प, अगस्त ६६)

जब बालक जन्म लेता है तो जिह्वा पर 'ओ३म्' की रेखा खीचीं जाती है। रसना का सम्बन्ध मन से है।

नामकरण संस्कार के समय माता-पिता बालक को कहते हैं कि "कोऽसि कतमोऽसि." इत्यादि। कौन हो, कहाँ से आये हो? इत्यादि। बालक (मूक वाणी में) कहता है कि कर्मों का भोग भोगने आये हैं। फिर चाहे रजोगुण अपनाएँ या सतोगुण। रजोगुण से यह जीवन अधोगति में चला जाता है तथा पार्थिव बनता चला जाता है।

सतोगुणी बनने पर यह जीवन ऊपर की ओर जायेगा। (दूसरा पुष्प, ७-३-६२ ई.)

पुत्र को दुग्धपान कराते समय माता क्या विचारे

जब माता अपने पुत्र को लोरियों का दूध पिलाती है तो उसके हृदय के विचार तथा उदारता बालक के रक्त में प्रविष्ट हो जाते हैं। विना किसी विचार और भावना के दुग्ध पान कराने से कोई विचार बालक में नहीं जाते। विचार तो केवल तभी जाते हैं, जब बालक का तथा माता का चित्त एकाग्र होता है। (दसवाँ पुष्प, ९-११-६२ ई.)

माता का शिशु है, वह उसकी इन्द्रियों को तपाने का प्रयास करती है। माता नहीं चाहती कि मेरे पुत्र में सर्वगुण न हो। उसकी आकाङ्क्षा होती है कि मेरे गर्भ से जिस पुत्र का जन्म हो अथवा पुत्री का हो, वह महान् हो। जिससे मेरा जीवन भी ऊर्ध्व बने। परन्तु इसके लिये प्रत्येक मानव को तपस्या करनी है। माता जब तपस्या करती है तो ममतामयी ऐसी पवित्र बन जाती है, तप में रमण करती है तो उसका तप उसके हृदय को ऊँचा बना देता है। (चौदहवाँ पुष्प, १-५-७३ ई.)

सन्तानोत्पत्ति का अधिकारी बनने की औषधि

१. 'किरन' नाम की औषधि को, २. गौ के घृत तथा दुग्ध में, अग्नि में तपाकर उसमें ३. काजछुडादि प्रविष्ट करके ४० दिन तक पान किया जाये। ४. त्रिगा नाम की औषधि भी होती है। ५. कृतिक नाम का जो वृक्ष होता है, उसके पुष्प, पत्ते, चमड़ी (त्वचा) माँस (गूदा) किरकिरती तथा पराग को अग्नि में तपाया, इसको

'सोमग्रतिक' रस कहते हैं। इसका चालीस दिन तक सेवन करने से ब्रह्मचर्य की गति तामस नहीं रह पाती। उसमें रजोगुण और सतोगुण का मिश्रण हो जाता है। अस्सी दिन तक प्रयोग करने से सतोगुण की प्रतिभा आ जाती है। सतोगुण की प्रतिभा आ जाने के पश्चात् षोडश रात्रि में जो भोग किया जाता है, समागम किया जाता है, अनुरत किया जाता है तो उस समय ऐसा नहीं हो सकता कि गर्भाधान न हो। जब दोनों का शुक्र उपरत हो जाता है तो गर्भाशय में ३९९ ग्रन्थियाँ होती हैं। प्रथम ग्रन्थि के अग्र-भाग में तथा अन्तिम ग्रन्थि जिसको स्वामी ग्रन्थि कहते हैं, में दोनों का शुक्र मिश्रण होता है। उस समय महान् ऋषि उत्पन्न होता है।

तमोगुण में भी सतोगुण का योग प्रभु चिन्तन द्वारा किया जाये

कहा जाता है कि बिना तामस आये एक के शुक्र को दूसरे में प्रविष्ट नहीं किया जा सकता। श्रीमान पूज्य ब्रह्मचारी कृष्णदत्त जी महाराज ने किसी जन्म में श्रृंगी ऋषि के रूप में छः मास के अनुभव के पश्चात् इस प्रश्न का उत्तर देने की स्थिति प्राप्त की। इस बीच उन्होंने एक औषधि ली, "क्रूशजनदत्त" नाम की औषधि होती है, उसमें 'जनदत्त' नाम का स्थान होता है। वह प्रायः पर्वतों में प्राप्त होती है। उसको लाकर छः मास तक सेवन किया, इस औषधि के पान करने से ऋषि को गृहाश्रम और प्रत्येक नस-नाड़ी का ज्ञान हो जाता है। उसे पान करके उत्तर दिया था कि तमोगुण में कहीं-कहीं सतोगुण की प्रतिष्ठा होती है। क्योंकि तमोगुण में भी जब सतोगुण की प्रतिष्ठा होती है और जब तमोगुण में केवल तमोंगुण ऐसा होता है,

जो आगे भविष्य के लिये उच्चारण कर रहा है जो अब तक नहीं है और आगे चलकर हो सकता है। भविष्य का तमोगुण जैसे 'आशान्ति वेदि' (उत्पादक-अंगों) को अशुद्ध नामों से उच्चारण करना मानव को शोभा नहीं देता। क्योंकि वह मानव की वाणी को अशुद्ध बना देता है, मानव के शुक्र में भी अशुद्धता आ जाती है तथा वह दूषित हो जाता है। इसके विपरीत तमोगुण की प्रतिष्ठा में ब्रह्म का चिन्तन अनिवार्य होता है। इसमें प्रवृत्ति और विचार बनाया जाता है।

शुक्र को तमोगुणी प्रभाव से बचाने की विधि

सबसे प्रथम एक-दूसरे में प्रसन्नता लायें, परन्तु प्रसन्नता लाने के लिये भी अशुद्ध वाणी की आवश्यकता नहीं है। उसमें तमोगुण तो होता ही है क्योंकि तमोगुण का लक्षण संसार की उत्पति है, प्रतिभा होना बहुत अनिवार्य है। जब उत्पत्ति के लिये तमोगुणी विचार बनाये जायें तो उससे चार घड़ी (एक घण्टा, ३६ मिनट पूर्व) तथा उस क्रिया के पश्चात् ब्रह्म का चिन्तन होना चाहिये। इस अवधि को मध्य में ही विचार अकृत तमोंगुणी बनाने चाहिये और एक दूसरे में शुक्र की प्रतिष्ठा होनी चाहिये। इस प्रतिष्ठा में सतोगुणी प्रतिभा ओत-प्रोत हो जाती है। इसका कारण यह है कि सोमरस बनाकर अस्सी दिन तक पान किया जाये। इसके प्रभाव से ये इस समय के तमोगुणी विचार एक दूसरे के शुक्र को कदापि भी प्रभावित नहीं कर पाते। यह अनुसन्धान का विषय है जिस पर महर्षि श्रृंगी जी महाराज ने छः मास अनुसन्धान किया था।

अस्सी दिन तक विचारपूर्वक सोमपान करने से वीर्य तथा रज

दोनों की ऊर्ध्वगति बन गई थी। उस समय के तमोगुण में वाणी को अशुद्ध नहीं करना चाहिये क्योंकि वाणी का सम्बन्ध अन्तरिक्ष से है। अन्तरिक्ष का सम्बन्ध माता के उदर से है। उदर का सम्बन्ध प्राण से होता है। प्राण का सम्बन्ध ऋत से होता है। ऋत का सम्बन्ध अग्नि और जल से होता है। अग्नि और जल का सम्बन्ध फिर अन्तरिक्ष से होता है। अन्तरिक्ष का सम्बन्ध ऋत से होता है जिसको महत् कहते हैं। महत् का सम्बन्ध चन्द्रमा से होता है, चन्द्रमा का गर्न्धव लोकों से, गन्धर्व लोकों का इन्द्र लोकों से, इन्द्र लोकों का प्रजापति से, प्रजापति का यज्ञ से होता है। यज्ञ का सम्बन्ध दक्षिणा से, दक्षिणा का श्रद्धा से होता है। श्रद्धा हृदय से उत्पन्न होती है। सारा जगत असमें ओत-प्रोत हो जाता है। इसलिये जो हमने हृदय में विचार बना लिये, उसको उस समय तमोगुणी विचार कदापि नहीं व्यापता। व्यापय और व्यापक का बड़ा महान् सम्बन्ध है, जिसके ऊपर विचार होना चाहिये। (इक्कीसवाँ पुष्प, ३१-१-७० ई.)

गर्भ में ज्ञान प्राप्ति का उदाहरण

जब अभिमन्यु माता के गर्भ में था, तो छठे मास में उन्हें चक्रव्यूह को नष्ट करने की वार्ता प्रकट की थी। जब चक्रव्यूह से बाहर आने की बात आरम्भ हो गयी तो माता को निद्रा आ गयी। तो चक्रव्यूह में प्रवेश का सर्व-विज्ञान उसने माता के गर्भ में ही परिणत कर लिया था परन्तु बाहर आने का नहीं। (छब्बीसवाँ पुष्प, २-८-७३ ई.)

७ सप्तम अध्याय-मानव-शरीर-रचना का यौगिक-विवेचन

विचित्र-शरीर-रचना

मानव-शरीर की रचना इतनी विचित्र है कि इसमें १-बुद्धि का मण्डल, २-मन का मण्डल, ३-प्रकृति का मण्डल, ४-अन्तरिक्ष मण्डल, ५-आत्मा का मण्डल और ६-अन्तःकरण का मण्डल है, आत्मा में ज्ञान, प्रयत्न हैं। इनके कारण यह उन कार्यों को करने लगता है जो प्रभु ने इसको दिये हैं। उन्हें करना अनिवार्य है। प्रभु ने एक बार नियम बनाया कि इस मार्ग पर चलो। उस मार्ग पर प्रभु का कार्य आरम्भ हो जाता है। इसमें मानव का कार्य करना धर्म है। (दूसरा पुष्प, २१-८-६२ ई.)

परमात्मा ने मानव शरीर का निर्माण राष्ट्रीयकरण के आधार पर किया। इसमें नौ द्वार, दो घ्राण, दो चक्षु, दो श्रोत, एक वाक् एक उपस्थ तथा एक गुदा, इन्द्रियाँ हैं। दशों इन्द्रियों पर शासन करने वाला दशरथ इस पर शासन करता है। राम, रमेति परमात्मा इसके कण-कण में व्याप्त हो रहा है और अयोध्या नगरी को पवित्र बनाता चला जा रहा है।

नाभि द्वार क्यों नहीं

नाभि को द्वार क्यों न माना जाये? जबकि इसके द्वारा गर्भ में बालक परिपक्व रस का पान स्वाङ्ग नाम की नाड़ी द्वारा करता है।

इसका उत्तर यह है कि नाभि एक चक्र माना गया है, जो शरीर का केन्द्र है। पूर्व जन्म के संस्कारो का सम्बन्ध केवल वायु से,

अन्तःकरण और स्मृतियों से होता है, नाड़ियों से नहीं। नाभि नाड़ियों का केन्द्र है। शरीर में ७२,७२,१०,२०२ (बहत्तर करोड़, बहत्तर लाख, दस हजार, दो सौ दो) नाड़ियाँ हैं। वे कुछ हजारों में इस नाभि से ही चलती हैं। गर्भ में भी नाभि का सम्बन्ध माता की नाड़ियों से ही होता है। नाड़ियों के समूह से सम्बन्धित होने से यह नाड़ियों का समूह ही माना जायेगा, द्वार नहीं।

प्रश्न : चक्षु, घ्राण आदि भी तो नाड़ियों के केन्द्र हैं।

उत्तर : जिस समय पिता का वीर्य-बिन्दु माता के गर्भस्थल में जाता है तो उसका तारतम्य स्वाङ्ग, स्वंचति और पंचम नाम की नाड़ियों द्वारा माता की लोरियों से सम्बन्धित होता है। सबसे प्रथम नाभि का निर्माण होता है। उसके पश्चात् नाड़ियों का सम्बन्ध हो जाता है। जिनसे माता की लोरियों से प्राण संचार होता रहता है। जो अन्न और रस माता की लोरियों में परिपक्व होता है, उनके कण नाड़ियों द्वारा ही वहाँ जाते हैं और बालक का शरीर बनता चला जाता है। जब शरीर बनता है तो नाड़ियों का समूह बनता है। चक्षु, घ्राण, उपस्थ आदि इन्द्रियाँ भी बनती हैं। परन्तु इनके ऊपरी भाग का कोई सम्बन्ध नाड़ी से नहीं होता। इसी आधार पर नाभि को द्वारा नहीं माना जाता क्योंकि नौ द्वारों के ऊपरी भाग का कोई सम्बन्ध नाड़ियों से नहीं होता।

दसवाँ द्वार तो मेधावी और प्रज्ञा बुद्धि प्राप्त होने पर ही खुलता है जब परमात्मा के दर्शन होते हैं। जो ब्राह्मणों के शरीर में रमण करता है, शून्य प्रकृति को कम्पायमान बनाता है, उस परमात्मा को रमयति

राम आदि नामों से उच्चारण किया जाता है।

इस शरीर में दशों इन्द्रियों पर शासन करने वाला मन, मन पर शासन करने वाली बुद्धि, बुद्धि पर शासन करने वाली आन्तरिक भावनाएँ हैं। भावनाओं में वह आत्मा विराजमान है जिसमें उस चेतन स्वरूप का प्रतिबिम्ब भी उसी के साथ-साथ चला आ रहा है। इसी को राम रमयति आदि शब्दों से उच्चारण करते हैं। (सातवाँ पुष्प, ७-७-६५ ई.)

शरीर में आत्मा का निवास

जागृत अवस्था में यह आत्मा नेत्रों में निवास करता है। उसका स्वरूप बन करके नेत्रों का कार्य बन जाता है। क्योंकि ये नेत्र तभी तक दृष्टिपात कर सकते हैं जब तक आत्मा शरीर में हैं। जो मानव आत्मा का दिग्दर्शन करना चाहता है वह सूर्य की किरणों से अपना दिग्दर्शन करता है। उससे नेत्रों की ज्योति में दोनों ज्योति प्रादुर्भाव हो करके ज्योतिष्मान प्राप्त हो जाता है।

स्वप्नावस्था में आत्मा का स्वरूप मन के क्षेत्र में होता है। मन प्रकृति से बना हुआ है। मन का सम्बन्ध बुद्धि, चित्त, अहंकार से रहता है। मन में विभाजन करने की शक्ति है तथा उसका सम्बन्ध चित्त से रहता है, इसीलिये चित्त में जो जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार हैं या पहले दिवसों के या बाल्यकाल के संस्कार हैं, यह मन उनको आत्मा के समीप, उसके आत्म-दर्पण में तथा उसको आत्मा में लाता रहता है। वही स्वप्न रूप में यह आत्मा देखता रहता है।

वह मन प्रकृति से बना होने के कारण और इसका सम्बन्ध चित्त,

बुद्धि से होने के कारण इन्द्रियों के विषय में ओत-प्रोत होकर कहीं नाना प्रकार की विषय वासना में लग जाता है, कहीं मग्न हो जाता है, कहीं सुन्दर जलाशयों के तट पर विचरण करता है, कहीं निर्धन से अधिराज बनता है, कहीं अधिराज से निर्धन।

सुषुप्ति अवस्था में आत्मा का स्वरूप प्राण के साथ रहता है। क्योंकि प्राण बिना यह आत्मा संसार में, शरीर में कोई कार्य नहीं कर सकता। वास्तव में संसार में यह आत्मा, यह प्राण ही जागता है और सब सुषुप्ति अवस्था में परिणत हो जाते हैं।

प्राण शक्ति का केन्द्र, परमाणुवाद का केन्द्र मन कहलाया गया है। यह प्राण ही मन के आश्रित होकर लोक-लोकान्तरों को क्रियाशील बनाता है। जब प्राण भी आत्मा के साथ नहीं रहता तो आत्मा का स्वरूप चेतना होती है। चेतना के कारण ही मानव का शरीर जीवित रहता है, चेतनावत् रहता है। आत्मा की जो विवेचना तथा ज्ञान है, वह इस प्रतिभा में रमण करता है।

त्वचा का स्वरूप

प्रश्न : यह चमड़ी का लेपन किन-किन प्रधान तत्त्वों से बनता है?

उत्तर : जब ये परमाणु माता के गर्भ में जाते हैं तो वहाँ जल प्रधान, आपो-प्रधान होता है। पृथ्वी के कण भी उसमें विशेष रूप से होते हैं। उन्हीं परमाणुओं से, उनकी विशेषताओं से मानव शरीर की सुन्दर रचना होती है तथा लेपन भी उन्हीं से होता है। इस लेपन में कई प्रकार के भेद होते हैं।

कहीं-कहीं ऐसे परमाणु लगे हैं कि अग्नि तत्त्व प्रधान हो जाता है।

कहीं जल की प्रधानता होती है, कहीं वायु की प्रधानता होती है और कहीं पृथ्वी की प्रधानता होती है। इसमें नाना तत्त्वों की प्रधानता होने के नाते त्वचा का रंग-रूप कहीं सुन्दर होता है, कहीं मध्यम होता है, कहीं कुरूप होता है।

वाणी का स्वरूप

वाणी में दो तत्त्व कार्य करते हैं। कहीं चन्द्रमा करता है, कहीं अग्नि करती है। इनके मध्य में मिश्रित होने वाला जल है उसी में दोनों तत्त्व प्रधान हैं।

ग्रीवा : ग्रीव में भी दो तत्त्व कार्य करते हैं। अग्रिम भाग का सम्बन्ध पृथ्वी से है और अन्तिम भाग का सम्बन्ध जल से है।

श्रोत्र : श्रोत्र के अग्रिम भाग का सम्बन्ध अन्तरिक्ष से है और आन्तरिक भाग का सम्बन्ध वायु से रहता है।

घ्राण : घ्राण के अग्रिम भाग का सम्बन्ध पृथ्वी से होता है और आन्तरिक भाग में वायु प्रधान होता है।

माता के गर्भ में कुछ स्वर्ण होता है, कुछ शोण होता है, चन्द्रणीय होता है। नाना प्रकार की धातुओं का मिश्रण हो करके उसकी पात बनायी जाती है। पात बना करके माता के गर्भ में स्थित विचित्र यन्त्र द्वारा गर्भ स्थापन के पश्चात् स्वतः ही बालक के शरीर पर लेपन हो जाता है। लेपन में जल प्रधान होता है अग्नि उसे शुष्क बनाता है, पृथ्वी से उसका तत्त्व आता है तथा तीनों पदार्थों का मिश्रण हो करके लेपन हो जाता है। वायु के द्वारा उसमें छिद्र बन जाते हैं।

प्रश्न : मानव शरीर में विराजमान आत्मा को प्रेरणा कहाँ से प्राप्त होती है ?

उत्तर : माता के विचारों में उसके सुन्दर विचारों की रचना होती रहती है। कहीं सतोगुण प्रधान है, कहीं रजोगुण, कहीं तमोगुण। ये तीनों गुण उनके संस्कार और विचारों के अनुसार मानव के शरीर में वास करते हैं।

प्रश्न : नास्तिक इस शरीर रचना को मन और प्राण की मानता है, प्रभु की नहीं?

उत्तर : यहाँ तक तो यथार्थ है कि मन और प्राणों से रचना होता है। किन्तु इन मन और प्राणों की जो रचना है, जो मौलिकता है, उनको केन्द्रित करने वाली जो शक्ति है उसी को प्रभु कहते हैं। (नौवाँ पुष्प, २-३-६८ ई.)

नाभि में अमृत

मानव शरीर की नाभि में लगभग दो करोड़ नाड़ियों का समूह है। इन्ही नाड़ियों के मध्य में एक स्थान होता है। एक सुषुम्णा नाम की नाड़ी मस्तिष्क से चलती है, उसका सम्बन्ध नाभि-चक्र के अग्रभाग से होता है। जो मनुष्य अच्छे विचारों वाला, परमात्मा का चिन्तन करने वाला और नाड़ी-विज्ञान को जानने वाला होता है, वह अपनी क्रियाओं में नाड़ी विज्ञान से, नाना औषधियों से उस नाड़ी के विज्ञान को जानता है।

जिसको सुधित या बोधित नाम की नाड़ी कहते हैं जो ब्रह्मरन्ध्र से चलती है और जिसका सम्बन्ध नाभि से रहता है। जब चन्द्रमा

सम्पूर्ण कलाओं से पूर्णिमा के दिन परिपक्व होता है तो सुधित नाम की नाड़ी का सम्बन्ध मस्तिष्क और नाभिचक्र से होता हुआ चन्द्रमा से होता है। चन्द्रमा से जो कान्ति मिलती है उसे वह नाड़ी पान करती है। जो विज्ञान के जानने वाले होते हैं वे जानते हैं कि योग के द्वारा परमात्मा का चिन्तन करते हुए चन्द्रमा में अमृत मिलता है। वह अमृत पकता है और नाभि में जो स्थान नाड़ियों के मध्य में है, उसमें यह अमृत एकत्रित होता है। इस अमृत से मानव का जीवन बलिष्ठ होता है, निभ्रन्ति होता है और मृत्यु से भी कुछ विजयी बन जाता है। उसे यह ज्ञान हो जाता है कि तेरी मृत्यु अधिक समय में आयेगी। उसकी आयु अधिक हो जाती है क्योंकि वह आनन्दमय अमृत नाभि में होता है। (पाँचवाँ पुष्प, २३-१०-६४ ई.)

शब्दोच्चारण

अन्तरिक्ष से शब्दो को पकड़ने के लिये नाभिचक्र में 'वुषुम्णा' नाम का यन्त्र होता है। वह यन्त्र अन्तरिक्ष से शब्दों को लेता है। उसी शब्द की रचना मन के द्वारा उदर में नाभिचक्र में जाती है। नाभि केन्द्र में प्राणों के साथ यह शब्द चलकर वाणी तक आता है। मानव वाणी से उसी शब्द का प्रसार कर देता है। (ग्यारहवाँ पुष्प, ४-५-६८ ई.)

प्रतिध्वनि

मानव के शरीर में एक ऐसा यन्त्र लगा है कि मानव के शब्द चाहे कितनी दूरी पर चले जाओ, ज्यों ही मानव के मस्तिष्क में विचार आता है तो उस शब्द की रचना वह स्वतः ही क्षण समय में

कर देता है। अर्थात् वायुमण्डल के उसी तत्त्व से उन परमाणुओं को, उन अक्षरों को लाकर, रचना करके शब्दों का उच्चारण आरम्भ करने लगता है।

इसलिये जो मानव जैसे शब्दों का उच्चारण करता है वैसे ही अन्तरिक्ष से उसके समक्ष आने आरम्भ हो जाते हैं। क्योंकि उसके शब्दों की रचना अन्तरिक्ष में चली गयी और वही रचना मानव के मस्तिष्क में उस विशेष यन्त्र के द्वारा आने लगी है। यही भौतिक विज्ञान में प्रतिध्वनि है। (ग्यारहवाँ पुष्प, १-८-६८ ई.)

ब्रह्मरन्ध्र में 'सौभाङ्गकृत' नाम की नाड़ी का मुख ऊपर होता है। वह द्युलोक से शब्दों को लाती है। मानव मस्तिष्क में नाड़ियों के द्वारा वही वाणी की रचना बाह्यरूप धारण कर लेती है।

शब्द रचना क्रम

मानव की वाणी का सम्बन्ध द्युलोक से होता है। द्युलोक का सम्बन्ध मानव के चित्त से होता है। चित्त का सम्बन्ध अहंकार से और अहंकार का सम्बन्ध बुद्धि से होता है। बुद्धि का मन से और मन का सम्बन्ध वाणी से होकर वाक्य रूप धारण कर लेता है और वार्ता आरम्भ होने लगती है। चित्त में जैसे संस्कार होते हैं, उसी के अनुसार शब्दों की रचना द्युलोक से इस मानव शरीर में होने लगती है। (बाईसवाँ पुष्प, पृष्ठ ८०)

हमारी जिह्वा के अग्रभाग में १८२ दाने तथा छिद्र होते हैं। इन छिद्रों में से कुछ ऐसे होते हैं जिनका सम्बन्ध चन्द्रमा से होता है, कुछ का सम्बन्ध जगत में विचरण करने वाली औषधियों से होता है,

कुछ का सम्बन्ध नाना प्रकार के रस आस्वादनों से होता है। इन छिद्रों को जानने की विधि यह है कि तालुओं के अग्रभाग का मिलान करते हैं तो हृदय रूपी गुफा से एक आनन्द का स्रोत उत्पन्न होने लगता है। वह स्रोत हमें ऐसा प्रतीत होता है जैसे हमारा यह शरीर ही जड़ता को प्राप्त हो रहा है। कहीं कहीं हम अपने को चेतनवत् अनुभव करने लगते हैं, किन्तु वे साधक लोग ही कर सकते हैं जो आध्यात्मिक मार्ग पर जाने को अग्रसर हों। उन वाक्यों को प्रकट करना सहज हो जाता है, जो श्रवण या पठन द्वारा जाने जाते हैं किन्तु जो स्वयम् का अनुभव है उसको वाक्यों में प्रकट करना एक कठिन कार्य है। (अठारहवाँ पुष्प, १७-१-७० ई.)

मानव के एक श्वास में घ्राण के द्वारा अरबों-खरबों परमाणुओं का निकास हो जाता है और उतने ही परमाणु हम श्वास द्वारा अपने में धारण कर लेते हैं।

वाणी की उत्पति का विज्ञान

मानव के मुख में वाणी शब्दों की रचना करती है। शब्दों की रचना कण्ठ से लेकर ओष्ठों तक वाणी द्वारा होती है। इस पर विचार करने से प्रतीत होता है कि नाभि से प्राण तक का तारतम्य होता है। इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्णा नाम की नाड़ियों का सम्बन्ध भी कण्ठ के इन्हीं शब्दों से होता है। ये नाड़ियाँ शब्दों की रचना में सहायक होती हैं। शब्दों की रचना, उद्गार तथा उसके स्वरों का प्रारम्भ नाभि से लेकर मस्तिष्क तक होता है क्योंकि मस्तिष्क से ही शब्दों का तारतम्य होता है। अधिक गम्भीरता से विचारने पर लगता है कि वाणी का उद्गार

ब्रह्मरन्ध्र की नाना प्रकार की नस नाड़ियों से होता है। (बीसवाँ पुष्प, पृष्ठ ६६)

हृदय मस्तिष्क ब्रह्मरन्ध्र

हृदय और मस्तिष्क दोनों को मस्तिष्क माना गया है। महर्षि सोमकेतु आदि ने इसको नाना प्रकार की अवस्थाओं में माना हैं। महर्षि दधीचि के अनुसार संसार में जो 'निधाङ्गनी' है जिसको हृदय और मस्तिष्क कहा जाता है, ये दो प्रकार के हृदय माने गये हैं। वास्तव में तो हृदय एक ही होता है किन्तु दो इसलिये स्वीकार किये जाते हैं कि मन के त्रि-गुणात्मक होने के कारण कुछ रजोगुण, तमोगुण तथा कुछ प्रकृति के आवरण आ जाने के कारण इसमे कुछ अन्तर्द्वन्द्व आ जाता है, इससे दोनों में कुछ दूरी हो जाती है। अब इन दोनों की चेतना को हमें जानना है, इन्द्रियों में चेतना जागरूक होती है। जैसे स्पर्श, श्रोत्र, नेत्र, घ्राण आदि से ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञान प्राप्ति के ये साधन है, कारण हैं।

इस सम्बन्ध में ऋषि भारद्वाज ने कहा है कि :

नाभिकेन्द्र से श्वास का जन्म होता है। नाभि से यह प्राण जब घ्राण के द्वार पर जाता है तो इसके अरबों -खरबों परमाणु बाहर चले जाते हैं। इन्हीं परमाणुओं को एकत्रित करके एक भौतिक विज्ञानवेत्ता चित्रावली लेने वाला एक यन्त्र तैयार कर लेता है।

इसीलिये इन परमाणुओं को जानने के पश्चात् ऋषि नवीन जगत रच देते हैं। एक योगी उन परमाणुओं की गणना कर लेता है। एक श्वास में घ्राण के द्वारा कितने परमाणु वायु के, कितने जल के,

कितने अन्तरिक्ष के, कितने अग्नि के तथा कितने पृथ्वी के आ गये हैं इनको जानकर प्रत्येक परमाणु पर जब योगी सँयम कर लेता है तो उसमें यह गति उत्पन्न हो जाती है कि इन परमणुओं को, जो निचले हैं, का मिलान करके वह अपने सूक्ष्म शरीर को प्राप्त होकर स्थूल शरीर को भी धारण कर सकता है।

चक्षुओं से नाना प्रकार की तरंगें उत्पन्न होती रहती हैं। ये तरंगें उनकी स्वाभाविक चेतना होती है, जो मानव के चित्त में विराजमान रहती है। चित्त से आत्मा का विशेष सम्बन्ध होता है। उससे ये तरंगें उत्पन्न होने पर ही संसार का परिचय प्राप्त किया जा सकता है। इन्हीं तरंगों से कुदृष्टिपात किया जाता है। इन्हीं से यौगिक परम्पराओं को जाना जाता है। इन्हीं तरंगों से मानव वायुमण्डल में भ्रमण करने की गति को प्राप्त हो सकता है।

मानव के नेत्रों से जो नाना प्रकार की ज्योंति उत्पन्न होती है, इन्हीं से माता का दीर्घ दर्शन किया जाता है। उसकी तरंगों से सूर्य, चन्द्र आदि लोकों का दिग्दर्शन कर लेते हैं, मण्डलों का दिग्दर्शन कर लेते हैं, योगी उन तरंगों को अपने हृदय तथा मस्तिष्क में ज्यों का त्यों स्थित कर लेता है। उनमें शनैः शनैः अभ्यासी बन कर उन तरंगों को जान लेता है। ऐसा होने पर उस महापुरूष में लोक-लोकान्तरों को जानने की गति उत्पन्न हो जाती है।

प्रत्येक इन्द्रिय ये एक ही नहीं नाना प्रकार की चेतना उत्पन्न हुआ करती है। नेत्रों में २४ प्रकार की तरंगों का प्रादुर्भाव है।

श्रोत्रोन्द्रिय में एक यन्त्र बना हुआ है जिसको 'सूर्यनित' नाम का

यन्त्र कहते हैं। इसी को ‘शब्दावली-यन्त्र’, ‘सौधनी-यन्त्र’, ‘रेनकेतु-यन्त्र’, ‘मानकेतु-यन्त्र’, ‘सुभागनी-यन्त्र’, तथा ‘अन्ताग्नि-यन्त्र’, भी कहते हैं। यह यन्त्र एक क्षण में साठ लाख तरंगों को सहन कर सकता है। जब इससे अधिक तरंगों का जन्म होने लगता है तो मानव कहता है कि अब मैं तुम्हारे शब्दों को ग्रहण नहीं कर सकता। क्योंकि मेरी श्रोत्रोन्द्रियों में इतनी शक्ति नहीं रही। इससे सिद्ध होता है कि प्रभु के द्वारा बनाए गए प्रकृति यन्त्र की भी कोई सीमा है।

शब्दों पर विचार करते-करते जब सात्विक शब्दों पर विचार किया जाता है तो उससे एक-एक शब्द से कई-कई शब्दों का निकास होने लगता है। इसका कारण यह है कि हमारे चित्त की चेतना जो स्वाभाविक है, उसका सम्बन्ध ब्रह्मरन्ध्र तथा हृदय से होता हुआ श्रोत्रोन्द्रियों से होता है। उन्हीं तरंगों का सम्बन्ध अन्तरिक्ष से होता है। अन्तरिक्ष में जो ऊपरला मण्डल है वह द्यु-लोक कहलाता है। इससे इन तरंगों का विशेष सम्बन्ध रहता है। इस सम्बन्ध के होने के नाते कृत में नाना प्रकार की चेतनाओं का जन्म होता रहता है। जिसे वहत्री, सँयोगिनी, सिरिग्नि, रोमणी आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है। इन तरंगों का जन्म होता रहता है। स्वाभाविक चेतना के साथ उनका सम्बन्ध ब्रह्मरन्ध्र से होता हुआ नाना दिशाओं से सम्बन्ध हो जाता है उन्हीं का सम्बन्ध द्यु-लोक से माना गया है।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक इन्द्रिय के विषय में स्वाभाविक चेतनाओं का जन्म होता है। ये चेतनाएँ मन के समीप जाती हैं। मन ही सूक्ष्मतम है तथा प्राण इसके समीप रहकर उसके अधीन होकर

कार्य करता है। प्राण से इन चेतनाओं को जकड़ कर तथा कटिबद्ध करके इनकी सामग्री बना ली जाती है। उस समय मानव के हृदय और मस्तिष्क दोनों का ज्ञान होता है। वह योगी दोनों का अनुभव करने लगता है। क्योंकि आत्मा तो उनसे सन्निधानमात्र से ही अपना कार्य कर रहा है। यह सब प्रकृति की रचना है, अर्थात् मन और प्राण की रचना है। इस रचना के अधीन होकर ही यह जगत अपना कार्य कर रहा है। (पन्द्रहवाँ पुष्प, १२-४-७१ ई.)

योगी के कोटि-जन्मों के सँस्कार मस्तिष्क में जाग्रत हो जाते हैं

जहाँ हृदय की पंचतन्मात्राएँ मस्तिष्क में रमण करती हैं, वहाँ तब मस्तिष्क में प्राणों का संचार होता है। प्राण की ध्वनियाँ जाती हैं, प्राण की प्रतिमा जाती है। मानव के ब्रह्मरन्ध्र में नाना प्रकार की नसनाड़ियाँ होती हैं। एक नाड़ी ऐसी होती है जिसका सम्बन्ध ध्रुव-मण्डल से होता है। जब उसका ब्रह्मरन्ध्र में चक्र चलता है तो मानव के जो करोड़ों जन्मों के संस्कार होते हैं, उस महापुरूष के मस्तिष्क में जाग्रत हो जाते हैं, परन्तु जब तक हम इस क्रियात्मक जीवन को नहीं बना पायेंगे तब तक हमारा जीवन हमारे जन्मान्तरों की पोथियाँ हैं, संस्कार हैं, वे हमारे समीप किसी भी काल में नहीं आ सकेगें। मानव को हृदय और मस्तिष्क दोनों का समन्वय करके परमात्मा से मिलान करना चाहिये। परमात्मा में मिलान वही करता है जो अपनेपन में पवित्र होता है, जिसके मल विक्षेप आवरण नहीं होतें। (तेईसवाँ पुष्प, २९-७-७१ ई.)

मानव का मस्तिष्क

मानव के मस्तिष्क में एक लघु-मस्तिष्क होता है। लघु-मस्तिष्क के पिछले विभाग में 'क्रणित' नाम का मस्तिष्क होता है। उसमें नाना वाहक नाड़ियाँ होती हैं। इनका सम्बन्ध प्रत्येक धातु से तथा लोक-लोकान्तरों से होता है। मस्तिष्क में नाना प्रकार की धाराओं से कहीं बुद्धि बनती है, कहीं मेधा, कहीं ऋतम्भरा, कहीं प्रज्ञा। इनमें भी नाना प्रकार के भेद हैं। बुद्धि में कहीं रजोगुणी, कहीं तमोगुणी, कहीं सतोगुणी होती है। इन नाना प्रकार की बुद्धियों में रमण करना ही मानव का कर्त्तव्य है।

जब मानव के अन्तरात्मा का विचार लघु और क्रणित मस्तिष्क में जाता है तो वहाँ नाना प्रकार की नाड़ियाँ जागरूक हो जाती हैं। मानव का सङ्कल्प इन नाड़ियों के साथ लग जाता है। मानव जो विचारता है, वे नाड़ियाँ उसी के अनुसार वायुमण्डल से कार्य करना आरम्भ कर देती हैं। उदाहरणार्थ एक वैज्ञानिक स्वर्ण नाम की धातु को जानने का प्रयास करता है। उस स्वर्ण का विचार तभी तो आया जबकि स्वर्ण नाम की नाना प्रकार की विचार शक्ति मानव के मस्तिष्क में है।

नाड़ियाँ, विचार और सङ्कल्प से जागरूक हो जाती हैं

स्वर्ण नाम की कोई नाड़ी है जिसका सम्बन्ध स्वर्ण जैसी धातु से होता है। इस नाड़ी का सम्बन्ध सूर्य से होता है और सूर्य का सम्बन्ध स्वर्ण से होता है। इसलिये मानव स्वर्ण जैसी धातु को जान लेता है। यदि स्वर्ण का विचार मानव के मस्तिष्क में, माता के गर्भ में रचना के समय न होता तो उस स्वर्ण जैसी धातु का विचार भी उसके

मस्तिष्क में कभी नहीं आ सकता था। ये नाड़ियाँ विचार और सङ्कल्प से जागरूक होती हैं। जब मानव का सङ्कल्प और विचार होता है तो वह जान ही लेता है।

लघु-मस्तिष्क में सूर्य-विज्ञान, चन्द्र विज्ञान लोक-लोकान्तरों का विज्ञान है। किन्तु इनको यौगिक रूपों से ही जाना जा सकता है। जैसे एक वैज्ञानिक भौतिक धातुओं में रमण करता हुआ प्रकृति के गर्भ में चला जाता है, वहाँ माता वसुन्धरा उसे अपने कण्ठ में धारण कर लेती है। उस समय जो विचार, जो संकल्प आता है, वही उसे स्मरण होता रहता है और मानव विज्ञानवेत्ता बनता चला जाता है। वह नाना प्रकार के यन्त्रों, अस्त्रों, शिवास्त्रों, आग्नेयास्त्रों तथा वरुणास्त्रों को जानने में सफल हो जाता है।

जब योगीजनों का अन्तरात्मा लघु-मस्तिष्क में, ब्रह्मरन्ध्र में चला जाता है तो वह सर्वविश्व का भ्रमण करने लगता है। उसके लिये ब्रह्मास्त्र आदि सब तुच्छ हो जाते हैं। वह धातुओं का मिलान करना तुच्छ समझ कर त्याग देता है। वह तो आत्मा को महान्, व्यापक परमात्मा में रमण करना जानता है। जब वह व्यापकता में रमण कर जाता है तो उसे महापुरुष के द्वारा हिंसावाद का शब्द भी नहीं रहता। वह 'अहिंसा परमोधर्मः' के रूप में दृष्टिपात् होने लगता है। (इक्कीसवाँ पुष्प, २९-३-७० ई.)

मानव का मस्तिष्क कितना विकसित हो सकता है, यह विचारणीय विषय है। प्रभु ने इस शरीर में ऐसे अङ्कुर लगाये हैं जिनको जानकर मानव का मस्तिष्क विकसित होता हुआ लोक-

लोकान्तरों की यात्रा करने के लिये तत्पर हो जाता है। इस प्रकार का विज्ञान सदैव मानव का जन्मसिद्ध अधिकार रहा है। (सोहलहवाँ पुष्प, ४-८-७१ ई.)

नाना मस्तिष्क

मानव के १७ (सत्रह) मस्तिष्क हैं। जैसे १. महि-मस्तिष्क, २. लघु- मस्तिष्क, ३. त्रैता-मस्तिष्क, ४. स्वाति, ५. वृत्तिकेतु (वुनिकेतु) ६. अप्राद आदि।

सूक्ष्म-शरीर १७ वस्तुओं का बनता है। उसमें एक-एक में लाखों धाराएँ जन्म लेती हैं। प्रत्येक धारा में पृथक्-पृथक् मस्तिष्क बना करते हैं। जब लघु-मस्तिष्क इन धाराओं को स्वीकार लेता है तो वह लोक-लोकान्तरों का वर्णन करने लगता है। (उन्नीसवाँ पुष्प, ८-३-७२ ई.)

ब्रह्मरन्ध्र

ब्रह्मरन्ध्र उसको कहते हैं जो हमारे नाभिचक्र से नाड़ियाँ चलती हैं। जिनको १. इड़ा, २. पिंगला और ३. सुषुम्णा कहा जाता है, वे हृदय के द्वार से होती हुई घ्राण के स्थान और त्रिवेणी में जा करके मिलान कर जाती हैं। घ्राण के ऊपर लघु-मस्तिष्क है वहाँ जाकर तीनों का मिलान होता है। ये नाड़ियाँ एक बन करके पंचांग नाम की नाड़ी कहलाती है। इसका सीधा सम्बन्ध लघु-मस्तिष्क से और ऊर्ध्व-मस्तिष्क दोनों से होकर, ब्रह्मरन्ध्र से भी उनका सम्बन्ध होता है। ब्रह्मरन्ध्र में सम्बन्ध होता हुआ, रीढ़ (मेरुदण्ड) के विभाग से होता है हुआ जहाँ कुण्डलिनी का स्थान होता है वहाँ उस नाड़ी का अन्तिम भाग होता है। (बाईसवाँ पुष्प, २८-३-६४ ई.)

यज्ञ का रूपक

यज्ञ में एक यज्ञशाला होती है। जिसमें समिधाएँ प्रदीप्त होती हैं तथा सामग्रियों की आहुति दी जाती है। इसी प्रकार मानव-शरीर में ब्रह्मरन्ध्र नाम का एक स्थान होता है। मस्तिष्क की नाना प्रकार की धाराएँ होती हैं। जैसे मस्तिष्क, लघु-मस्तिष्क, सोम-मस्तिष्क आदि-आदि। ब्रह्मरन्ध्र के पिछले विभाग में एक यज्ञशाला होती है। अर्थात् त्रिकोण प्रकार का एक स्थान होता है। इसमें इस प्रकार की नस-नाड़ियाँ होती हैं, जहाँ इड़ा, पिंगला नाम की रीढ़ से 'श्वातचन्द्रकेतु' 'मंगलकेतु' 'सूर्यकेतु' तीन नाड़ियाँ चलती हैं। वे रीढ़ के इस विभाग में होती हुई रीढ़ के साथ-साथ उनका सम्बन्ध मानव के ब्रह्मरन्ध्र के स्थल में उन नाड़ियों से होता है। मानव के नख से लेकर ग्रीवा से, उपस्थ इन्द्रियों से, नाभि-केन्द्र से, हृदय-केन्द्र से, घ्राणचक्र को पार करता हुआ मस्तिष्क, जिसको त्रिकुटि कहते हैं, उसके द्वार से होता हुआ ब्रह्मरन्ध्र के पिछले विभाग में एक स्थान पर उन सब नाड़ियों का मिलान होता है। वहाँ से नाना प्रकार की नाड़ियाँ निकलती हैं। (ग्यारहवाँ पुष्प, २५-२-७२ ई.)

ब्रह्मरन्ध्र में दिव्य ज्योति है। १. इड़ा, २. पिंगला, ३. सुषुम्णा नाड़ियों से सहस्रों धाराएँ बन जाती हैं तथा उनका सम्बन्ध बाह्य-जगत के नाना ब्रह्माण्डों से होता है। (उन्नीसवाँ पुष्प, ८-३-७२ ई.)

हृदय

तीनों शरीरों का जो मूल है वह मानव का हृदय माना गया है, इसी में नाना जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार विराजमान रहते हैं जिसको

प्रारब्ध भी कहा जाता है, उसको कर्मभोग-चक्र भी कहा जाता है। जब हम अपने संस्कारों को जानने लगते हैं और संस्कारों की आभा हमारे समीप आने लगती है तो हमारा हृदय चकित हो जाता है और हम अपने अनुभव करते हैं कि वास्तव में उस महामना देव की जैसी प्रबल इच्छा होती है, वैसा ही कार्य होने लगता है। परन्तु जहाँ हम कर्म की अवस्था पर आते हैं, प्रारब्ध पर आते हैं, वहीं प्रारब्ध की इच्छा का प्रश्न उत्पन्न होता है।

विचार का प्रादुर्भाव मानव के हृदयस्थल में होता है और हृदय में उत्पन्न हो करके, ब्रह्मरन्ध्र में उसका शोधन हो करके वाणी के द्वारा उसका प्रादुर्भाव होता है। उसका जो स्रोत है, वह मानव का हृदय ही माना गया है। एक मानव में ईर्ष्या उत्पन्न हो जाती है परन्तु उस ईर्ष्या का जो स्रोत है, वह मानव का हृदय होता है। इसीलिये आत्मा का सम्बन्ध भी हृदय से होता है। जब हम दूसरे प्राणी से घृणा करते हैं तो प्रथम घृणा हमारे द्वारा उत्पन्न हो जाती है। घृणा का उत्पन्न हो जाना मानव का विनाश हो जाना है। मानव के द्वारा अशुभ संस्कारों का जन्म होना है। उन्हीं संस्कारों के जन्म से घृणा का जन्म होता है। घृणा मानव को मृत्यु के क्षेत्र में ले जाती है। (बाईसवाँ पुष्प, २९-६-७१ ई.)

अन्तःकरण

अन्तःकरण उसको माना गया है, जिसमें हमारे जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार विराजमान रहते हैं। पंचतन्मात्राओं से इसका सम्बन्ध रहता है। उन्हीं तन्मात्राओं में परमात्मा तथा प्रकृति का भी सम्बन्ध रहता है।

(आठवाँ पुष्प, ३-४-६४ ई.)

अन्तःकरण वह पदार्थ है। वह स्थान है, जिसमें हमारे पाप-पुण्य विराजमान रहते हैं। इस अन्तःकरण को पवित्र, निर्मल, स्वच्छ बनाने से हमारा हृदय निर्मल बन जाता है तथा हम मनुष्यत्व पर पहुँच जाते हैं और हमारे अन्दर मानवता की स्थापना हो जाती है। उस समय मानव परमात्मा के ज्ञान-विज्ञान को भी जान जाता है।

सर्व प्रथम अन्तःकरण में उन महान् संस्कारों को विराजमान करना चाहिये जिनसे हमारे जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार भी कण्ठ रहते हैं। उन वस्तुओं को अन्तःकरण में स्थापित करना चाहिये जिनसे पाप उन स्थानों में न जा सके। उन कर्मों को करना चाहिये, जिनसे पवित्रता आये और हमारा हृदय पवित्र हो जाये। (दसवाँ पुष्प, २६-७-६३ ई.)

अन्तःकरण देवताओं की संज्ञा में जाने का विषय है, भोग में जाने का विषय नहीं। योग में आत्मा को ज्ञान स्वतः रहता है और वह परमात्मा के आनन्द में रमण करता रहता है। (चौथा पुष्प, २८-७-६३ ई.)

मानव के जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार अन्तःकरण में एकत्रित रहते हैं तथा वे उस समय तक नष्ट नहीं होते जब तक केवल आत्मा नहीं रह जाता। जब जीवात्मा शरीर को त्यागता है, उस समय ये संस्कार मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार ये चार प्रकार के नामाङ्कन चित्त के ही माने गये हैं, जिसे अन्तःकरण भी कहते हैं तथा जिसमें करोड़ों जन्मों के संस्कार समाहित रहते हैं। जब मानव चित्त के संस्कारों को

उद्बुद्ध करने को तत्पर होता है, तो चित्रण करने की तरंगें वायु मण्डल में तरिंगत होती रहती हैं। इन तरंगां से मानव जीवन का बहुत अधिक सम्बन्ध होता है। सूर्य, चन्द्रमा तथा सर्व लोकों से मानव के जीवन सम्बन्ध होता है। हम इस भौतिक पिण्ड में पूरा ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाते। इसीलिये इस सम्बन्ध को अच्छी प्रकार नहीं जान पाते। हमें जानने के लिये योगी बनना अनिवार्य है।

योगी उसको कहते हैं जो अपनी ज्ञानेन्द्रियों, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार को जान लेता है और जान करके उन्हें एकाग्र कर लेता है। स्थिर होकर मन और प्राण का समन्वय करने का नाम ही योग है। शब्दों में यह सहज प्रतीत होता है। किन्तु जब हम इसको जानने का प्रयास करते हैं तो जन्म-जन्मान्तर व्यतीत हो जाते हैं। जब मानव अपनी प्रवृत्तियों को संयम में लाता है, तो हमें साक्षात्कार होने लगता है। जब हम इनको नहीं जानते, हमारा जीवन अन्धकार में रहता है। (छब्बीसवाँ पुष्प, ३-८-७१ ई.)

क्योंकि चित्त या अन्तःकरण में संस्कार होते हैं इसीलिये यह आत्मा के साथ कुछ प्रबल होता है। यह इतना सूक्ष्म होता है कि आत्मा के साथ सदा रहता है। चित्त का स्वरूप यह है कि एक बाल के अग्रभाग की गोलाई को ९९ भागों में बाँटा जाये। इसके एक विभाग के ६० भाग किये और ६०वें भाग के ९९ भाग किये जायें तो इस एक भाग के बराबर चित्त की प्रतिभा है। ९९वें भाग के ६० विभाग किए तो यह ६०वाँ भाग आत्मा का परिमाण है।(उन्नीसवाँ पुष्प, ३१-५-७० ई.)

बुद्धि

बुद्धि के पर्यायवाची घी, कामधेनु, गऊ इत्यादि। (नौवाँ पुष्प, २६-१०-६७ ई.)

हम उस देव से एक वस्तु प्राप्त करना चाहते हैं, वह ज्ञान द्वारा बुद्धि का निर्माण। जब मानव के द्वारा बुद्धि होती है तो उसके लिये संसार को जानना सहज हो जाता है। बुद्धि उसी काल में ऊँची बनती है जब उसके द्वारा ज्ञान होता है और मन की स्थिरता होती है। जब मस्तिष्क में बुद्धि नहीं होगी जो प्रभु की जानकारी ही क्या हो सकती है। इस संसार के जनसमूह को अथवा समाज में जो प्रतिक्रिया होती है उसे हम बिना बुद्धि के निर्णय नहीं कर सकते यदि इस मानव को संसार का चक्रवर्ती राष्ट्र भी प्राप्त हो जाये, परन्तु बुद्धि नहीं तो वह भी उसके लिये अराष्ट्र हो जाता है। यदि बुद्धि होती है तो सर्वत्र कार्य करने में दक्ष हो जाता है। बुद्धि से ही मानव अपनी इन्द्रियों का मन्थन करता हुआ, चित्त-मन दोनों को अपना माध्यम बनाकर उसमें अपने को समाहित कर देता है। तब चित्त केवल आत्मा के सन्निधान से अपनी गति आरम्भ कर देता है। (छब्बीसवाँ पुष्प, २-८-७३ ई.)

बुद्धि चार प्रकार की होती हैं। १-बुद्धि, २-मेधा बुद्धि, ३-ऋतम्भरा बुद्धि, ४-प्रज्ञा बुद्धि। बुद्धि वह होती है, जो यथार्थ निर्णय देने वाली वाली हो। हमारे नेत्रें के पिछले भाग में एक यन्त्र है, जिसको पीला पटल कहते हैं। इस पटल से पंच-तन्मात्रएँ लगी हैं। तन्मात्रओं के पश्चात् मन है। मन का सम्बन्ध बुद्धि से है। इस प्रकार जो पदार्थ नेत्रों

के समक्ष आता है, वह बुद्धि तक पहुँचता है और हम यथार्थ निर्णय लेते हैं। जब किसी सौंदर्य से हमारी इन्द्रियाँ दूषित हो जाती हैं तथा पाप में डुबकी लगाती हैं, तो यह विवेक की सूक्ष्मता के कारण होता है। इन्द्रियाँ जो भी कार्य करती हैं तो यह सब विषय मन के द्वारा बुद्धि तक पहुँचते हैं। बुद्धि इनका निर्णयात्मक उत्तर देती है। जब मानव के हृदय में यह विचार आ जाता है कि सब कुछ प्रभु का रचाया हुआ है, वह सर्वव्यापक है, तो इन्द्रियाँ किसी प्रकार का पाप नहीं कर सकती। जो प्रभु को सर्वव्यापक तो कहते हैं, किन्तु उसपर विश्वास नहीं करते उनसे यह आशा नहीं कि वे पाप नहीं करेंगे।

मेधावी बुद्धि

मेधावी बुद्धि उसको कहते हैं जिसके आने के पश्चात् मानव के जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार जाग्रत हो जाते हैं। मेधावी बुद्धि का सम्बन्ध अन्तरिक्ष से होता है। जो वाणी अन्तरिक्ष में रमण करती रहती है, मेधावी बुद्धि प्राप्त होने पर उसको जान लिया जाता है। मेधावी बुद्धि अन्तरिक्ष में संसार के विज्ञान को देखा करती है कि यह संसार का विज्ञान और कौन-कौन से वाक्य अन्तरिक्ष में रमण कर रहे हैं। मेधावी बुद्धि उस विवेक का नाम है जब मानव संसार से विवेकी होकर परमात्मा के रचाये हुए तत्त्वों पर विवेकी होकर जाता है। बुद्धि का विवेकी और मेधावी बुद्धि का विवेकी बन कर परमात्मा के रचाये हुए विज्ञान को जानता हुआ यह आत्मा ऋतम्भरा बुद्धि के द्वारा जाता है। (चौथा पुष्प, १९-४-६४ ई.)

इस मेधावी बुद्धि का क्षेत्र है, पृथ्वी के गर्भ में नाना प्रकार की

धाराएँ तथा खनिज, समुद्र की तरंगों में रमण करने वाली धातुएँ तथा प्राणी, वायुमण्डल में रमण करने वाले रजोगुणी, तमोगुणी तथा सतोगुणी परमाणु, इन परमाणुओं तथा वाणी का मन्थन करना इसका क्षेत्र है। मेधावी बुद्धि-वेत्ता विचार-विनियम करता हैं कि वाणी के द्वारा एक-एक श्वास में ५,८९,०५,५५२ परमाणु निकलते हैं। वह विचार करता है कि वाक्य कहाँ तक सार्वभौम बन गया। वह यन्त्रों (रेन केतु) द्वारा इनका प्रसारण करते हैं तो उससे सम्बन्धित जो यन्त्रालय है, उनमें यह वाणी ओत-प्रोत हो जाती है।

मेधा बुद्धि वाला जहाँ तक देखता है कि सूर्य की किरणों में किस-किस प्रकार के परमाणु हैं तथा कितनी उनमें धाराएँ हैं। (नौवाँ पुष्प, २६-१०-६७ ई.)

ऋतम्भरा बुद्धि

ऋतम्भरा बुद्धि उसको कहते हैं जब मानव योगी और जिज्ञासु बनने के लिये और परमात्मा की गोद में जाने के लिये लालायित होता है, उस समय मेधावी बुद्धि की ऋतम्भरा बुद्धि बन जाती है। योगी धारणा, ध्यान और समाधि में हो जाता है; और संसार के इस प्राकृतिक सौन्दर्य को अपने अधीन कर लेता है। पाँचों प्राण ऋतम्भरा-बुद्धि के अधीन हो जाते हैं। योगी जब इन पाँचों प्राणों को अपने अधीन करके उनकी सन्धि कर लेता है तो आत्मा इन प्राणों पर सवार हो जाता है और वह सर्वप्रथम मूलाधार में रमण करता है।

१-मूलाधार में लगभग छः ग्रथियाँ लगी हैं। मूलाधार को 'त्वरितचक्र' भी कहते हैं। आत्मा के वहाँ पहुँचने पर ये ग्रन्थियाँ स्पष्ट

हो जाती हैं। इस आत्मा का प्राणों के सहित आगे को उत्थान हो जाता हैं

२-आगे चलकर यह आत्मा नाभि चक्र में आता है। यह बहत्तर करोड़, बहत्तर लाख, दस हजार, दो सौ दो नाड़ियों का एक समूह है। जिसमें बारह ग्रन्थियाँ होती हैं। आत्मा के वहाँ पहुँचने पर वे भी स्पष्ट हो जाती हैं।

३-इसके आगे गंगा, यमुना, सरस्वती में स्नान करता हुआ यह आत्मा हृदय चक्र में जाता है। इसको 'स्वाधिष्ठान चक्र' तथा 'अविनाश चक्र' भी कहते हैं। यह चौबीस ग्रन्थियों का समूह माना जाता है। ये भी स्पष्ट हो जाती हैं।

४-आगे यह आत्मा कण्ठ चक्र में जाता है जिसे 'उदान चक्र' या 'ब्राह्मी चक्र' भी कहते हैं। इसमें लगभग सैंतालीस ग्रन्थियाँ होती हैं। ये भी स्पष्ट हो जाती हैं।

५. आगे घ्राण चक्र की नाना ग्रन्थियाँ स्पष्ट हो जाती हैं।

६. आगे वह स्थान आता है, जहाँ इड़ा, पिंगला, सुषम्णा नाम की नाड़ियों, जिन्हें गंगा, यमुना, सरस्वती कहते हैं, का मिलान होता है। इसे 'त्रिवेणी' भी कहते हैं।

७. आत्मा प्राणों सहित त्रिवेणी में स्नान करता हुआ आगे ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचता है। उस स्थान पर सूर्य का प्रकाश भी फीका पड़ जाता है।

८. इतने प्रबल प्रकाश से आगे चलकर आत्मा रीढ़ में जाकर जहाँ 'कुण्डली' जाग्रत हो जाती है। इस कुण्डली के जाग्रत होने का

नाम ही परमात्मा से मिलान हो जाता है।

प्रज्ञा बुद्धि

प्रज्ञा बुद्धि उस ऋषि को प्राप्त होती है, जो मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। (चौथा पुष्प, १९-४-६४ ई.

हमारे कण्ठ के निचले भाग में हृदय चक्र होता है। इसमें एक 'सुरित' नाम की नाड़ी होती है। इस नाड़ी में 'तुरिणा' और 'निधिराज' नाम की नाड़ियों का एक चक्र होता है। उस चक्र में मेधावी बुद्धि का संक्षेप रमण करता है। उसमें वेदां की पोथी की पोथी का ज्ञान रमण करने लगता है। उसमें 'रिधिन्न' होता रहता है। जैसे अन्तरिक्ष में हमारे वाक्य रमण करते हैं, जिस विद्या का हमने पान किया, उस विद्या से जो वाक्य हम उच्चारण करना चाहते हैं, वही वाक्य अन्तरिक्ष से आता है। वाक् से सम्बन्ध हो करके वही वाक्य आरम्भ होने लगता है। उसी वाक्य के आरम्भ होने को मेधावी बुद्धि का 'ऋद्धि-भूषणाम्' कहा जाता है। यह मेधावी-बुद्धि का भूषण है। भूषण को धारण करने में मानव का जीवन विकासदायक बनता है। वह नाना प्रकार के दम्भ, छल, आडम्बरों से दूर हो जाता है। (दूसरा पुष्प, २-१०-६४ ई.)

मन

संकल्प-विकल्प दो पृथक् वस्तुएँ हैं। किन्तु इनके मिश्रण से जो तीसरी वस्तु बनती है वह मन है। (पाँचवाँ पुष्प, २०-१०-६४ ई.)

मानव की विचारधारा से सूक्ष्म कोई पदार्थ नहीं होता। मन की गति इतनी विशाल है कि एक क्षण में वह चन्द्रमा ही क्या नाना

प्रकार के भू-मण्डलों की परिक्रमा कर लेता है। (सत्रहवाँ पुष्प, २५-२-७२ ई.)

मन ही मनुष्य के अन्दर घृणा उत्पन्न कर देता है, माता-माता नहीं रहती, पिता-पिता नहीं रहता, केवल स्वार्थवाद रह जाता है। मन की गति के आधार पर ही राष्ट्र का विभाजन हो जाता है, गृहों के विभाजन हो जाते हैं। मानव की प्रवृत्ति का विभाजन हो जाता है, मानव की मृत्यु हो जाती है। शरीर रुग्ण हो जाता है। मानसिक प्रवृत्ति जब प्रबल हो जाती है, मोह के कारण हो, चाहे क्रोध के कारण हो, ममता में मानव जब अधिक चला जाता है, उस समय प्रवृत्तियों का विभाजन स्वाभाविक हो जाता है। (पन्द्रहवाँ पुष्प, २०-६-६३ ई.)

मन तब तक ही रहता है, जब तक मानव के अन्तःकरण में कर्म है और आत्मा जन्म लेने वाला होता है। मुक्त होने के पश्चात् इस आत्मा का मन से सम्बन्ध पृथक् हो जाता है और वह आत्मा आनन्द में रमण करने लगता है। उस समय ज्ञान और प्रयत्न आत्मा के स्वाभाविक गुण आत्मा के साथ रह जाते हैं।

मन प्रकृति का स्वरूप माना जाता है और वह प्रकृति में रमण कर जाता है और यह पवित्र और निर्मल आत्मा ब्रह्म में रमण करने लगता है।

जो दुःख-सुख प्रकृति से इन्द्रियों के द्वारा होने वाला होता है, उसे यह आत्मा मन द्वारा अनुभव करता है। जो ब्रह्म में आनन्द है, उसे यह आत्मा स्वाभाविक ही अनुभव कर सकता है। यहाँ मन की

आवश्यकता नहीं रहती। मन का मिलान आत्मा से और आत्मा का मिलान परमात्मा से रहता है।

मन का सम्बन्ध कर्म से है और यह कर्मबद्धता के साथ आत्मा के साथ तब तक रहता है जब तक उसका प्रकृति से मिलान है। परन्तु जब चैतन्य से मिलान हो जाता है, तो प्रकृति से आत्मा का सम्बन्ध स्वयम् छूट जाता है। जैसे गर्भ के पूर्ण परिपक्व होने पर बालक का सम्बन्ध पंचम नाम की नाड़ी से स्वयम् छूट जाता है। (बीसवाँ पुष्प, २७-९-६४ ई.)

मन के कार्य-कलाप

एक समय महर्षि दालभ्य मुनि के आश्रम में महर्षि गद्गद् का आगमन हुआ। वहाँ पर महर्षि तिलक और महर्षि प्रवाण तथा महर्षि रेवक भी उपस्थित थे। महर्षि गद्गद् और महर्षि दालभ्य दोनों का विचार विमर्श होने लगा। उन्होंने कहा कि इस मानव-शरीर में आत्मा के कितने शरीर आवास माने जाते हैं। तब ऋषि ने कहा कि कि वेद का ऋषि कहता है कि आत्मा इस शरीर में भास रहा है। परन्तु यह मनस्तत्त्व प्रकृति का एक अनुपम वृत्त उत्पन्न करता है। जब मानव स्वप्नावस्था को प्राप्त होता है, तो जैसे एक अङ्कुर वृत्त उत्पन्न कर देता है इसी प्रकार यह मानव शरीर में वृत्त की उत्पत्ति कर देता है।

स्वप्नावस्था में नस-नाड़ियाँ नहीं होती, परन्तु मानव ऐसी नसनाड़ियों का समूह बना लेता है, जिसको बनाता हुआ अपने में अनुभव करता है कि मै क्या रचना कर रहा हूँ। स्वप्न में नदियाँ नहीं होती, कोई भी गृह नहीं होता, परन्तु अङ्कुर रूपों के अवशेष मानव

शरीर में विराजमान रहते हैं। उन्हीं से चित्त के आधार पर आत्मा के प्रकाश में, क्योंकि आत्मा चेतनावादी है, उस चेतना में इस संसार की रचना कर लेता है। नदियों का निर्माण कर लेता है। पत्नियों के गृह में पति नहीं होते परन्तु पति-पत्नी के निर्माण हो जाते हैं।

जागरूक अवस्था में यह संसार का विभाजन करता है। मानव शरीर में यह मन कुटुम्ब का भी निर्णय देता है और इसी प्रकार की तरंगें मस्तिष्क में ओत-प्रोत हो जाती हैं।

एक पिता अपनी पुत्री का जब परिचय देता है, तो उसके हृदय में करुणा है, स्नेह है। पत्नी का परिचय देते समय और प्रकार का स्नेह दे रहा है। पिता का परिचय देते समय और प्रकार की तरंगों का जन्म हो जाता है। माता का परिचय देते समय हृदय में ममतामयी तरंगें उत्पन्न हो जाती हैं। उस समय प्रकृति और ही प्रकार की हो जाती है। जब पुत्र का निर्णय देता है तो और प्रकार की तरंगें हैं।

इस प्रकार यह शरीरों का विभाजन कर रहा है। विश्वभान (समष्टि) मन बन करके यह संसार को विभाजनवाद में परिणत कर रहा है। माता वसुन्धरा के गर्भ में यह रसों का आदान-प्रदान कर रहा है, जैसे कहीं कसैला, कहीं मधु। यह ब्रह्माण्ड लोक-लोकान्तरों में विभक्त हुआ दृष्टिपात आ रहा है। यह सब मन का कार्य है। यह मन सर्वत्र ब्रह्माण्ड का विभाजन कर रहा है।

यह मन ऐसा विचित्र है कि जब ज्ञान और विवेक में जाता है, तो उसे यह संसार न होने के तुल्य प्रतीत होता है। जब यह विडम्बना में इतना भयभीत होने लगता है कि विवेचनामय बन जाता है। इस

मानव शरीर में जितने पापों के अवशेष हो सकते हैं वे मानव के मन से उत्पन्न होते हैं। यह ऐसा विचित्र है कि इसमें वायु की ऐसी तरंगें भरण कर जाती हैं कि जहाँ उसे इन वायु की तरंगें वाला प्राप्त हो जाता है वहाँ इस मन की प्रतिक्रियाएँ होने लगती हैं और यह मन वहीं ओत-प्रोत होने लगता है। जब तक इस वायु के क्षेत्र में यह मन नहीं आता , इतना विभाजन हो जाता है, इसके मन के साथ में आत्मा बलिष्ठता में इतना विभक्त हो जाता है, इतना दूर चला जाता है कि तरंगें उसकी तरिंगत नहीं हो पाती, तब तक द्वितीय क्षेत्र में उसके मन की विभिन्न कृतियाँ प्राप्त नहीं हो पाती।

हमें इस मन के अवशेषों को जानना चाहिये, जहाँ विवेक उत्पन्न होता है। मन इन्द्रियों का सारथी बना हुआ है क्योंकि इन्द्रियों से इसका सम्बन्ध रहात है। बुद्धि इस शरीर का सारथी बना हुआ है। बुद्धि के द्वारा मन को स्थिर किया जाता है। उस मनस्तत्त्व में आत्मा के प्रकाश में बुद्धि विराजमान है।

यह मन आत्मा का प्रकाश लेकर इस संसार को विभक्त कर रहा है। इस मन को जानने के लिये मानव को बहुत तपस्या की आवश्यकता है। हमें विचारना है कि मन को प्राणों से विभक्त न होने दें। हम आत्मा से इतना न होने दें जिससे हमारा यह जो पंचभौतिक शरीर है, इसकी इन्द्रियों में नाना प्रकार के अवशेष द्वारा पापाचार की उत्पत्ति होती है। यह रुग्ण न होने पाये। एक मानव की आत्मा मन की इच्छा को प्रकृति तथा परमात्मा को जानने के लिये जागरूक हो जाती हैं।

भौतिकवाद मे परमाणुवाद की इतनी पिपासा जागरूक हो जाती है कि यह मन आत्मा के प्रकाश में सदैव परमाणुओं को ही खोजता रहता है, परमाणुओं को जानता रहता है। उसकी इतनी प्रबल इच्छा बन जाती है कि वह इस इच्छा के आधार पर नाना परमाणुओं को लेकर इतना भौतिकवाद में रमण कर जाता है कि उसकी उड़ान इस पृथ्वी से लेकर ऊर्ध्वागति को चली जाती है जहाँ सहस्रों सूर्य प्रकाश देते हैं, वहाँ चले जाते हैं। वहाँ जाकर इसी प्रकृति से अपने प्रकाश से ही, यह प्रकाशमान होता रहता है, शरीर की इच्छा नहीं रह पाती।

हम इस मन को जानें कि यह कैसा मृतक बना हुआ है। पापाचरणों में आ करके जब पाप अधिक एकत्रित हो जाते हैं, उसी काल में यह मन ऐसे भयंकर अङ्कुर इस प्रकृति में से ले लेता है, जिससे उसके पापी अवशेष मन के द्वारा उसके अन्तःकरण में छा जाते हैं। अन्तःकरण में छा करके ऐसे अवशेष उत्पन्न होते हैं, जिससे मानव शरीर को त्याग देता है और भी नाना प्रकार के अङ्कुरों की उत्पत्ति होती रहती है।

ज्ञान की आभा जब मनस्तत्त्व के द्वारा जाती है तो यह मनस्तत्त्व विचित्र बन करके मानव शरीरों में प्रवाह से कार्य करता है।

परन्तु जब अज्ञान आता है तो अपने आनन्द को जो स्वशरीर में प्राप्त होता है, द्वितीय स्थानों पर दृष्टिपात करता है। यह मन के कारण ही है क्योंकि हमने मन को इतना आवरण वाला बना लिया है कि हम आन्तरिक सुखों को जगत में दृष्टिपात करते हैं। अतः हमें मन की तृष्णा को स्थिर करना चाहिये।

महर्षि पातंजलि तथा आदि ऋषियों ने कहा है कि यदि तुम मन को जानना चाहते हो तो विभक्त करने वाली प्रक्रिया का मिलान प्रारम्भ कर दो। मन और प्राण का मिलान करने वाला प्राणी ही संसार मे योगी बनता है। (तेईसवाँ पुष्प, १५-११-७४ ई.)

ऋषियों की गोष्ठी में मन पर विचार

दार्शनिको के समाज में यह प्रश्न उत्पन्न हुआ है :.

१-यदि हम आत्मा को ब्रह्म स्वीकार कर लेते हैं तो चेतना का भाव कहाँ से होता है?

२-यह जो नाना प्रकार का जगत दृष्टिपात हो रहा है, यह क्या है ?

एक दार्शनिक कहता है कि यह चित्त का विषय है। चित्त मानव की विशेष अवस्था का नाम है, यह मन की दशा है तथा धारा है।

किन्हीं आचार्यो ने इसे भिन्न माना है। किन्हीं ने यह स्वीकारा कि यह जो आत्मा है, यह तो चेतन है और मन की मानव शरीर में जो यह दशा है, धारा है, जैसे मन से ऊर्ध्वगति में बुद्धि रहने वाले है, मन, बुद्धि और चित्त उसके शरीर में रहने वाले हैं। इसके पश्चात् अहंकार आता है ये चारों मन की धाराएँ स्वीकार की जाती हैं। दार्शनिक विषयों ने इनको केवल मनस्तत्त्व की उपाधि प्रदान की है।

ऋषियों का सम्वाद

बाल्मीकि : जब तुम चित्त को ही स्वीकार करते हो, चित्त का आवागमन होता है और चित्त ही आवागमन का मूल कारण बना रहता है।

अरूणी : महाराज ! मैंने तो ऐसा ही जाना है कि यह चित्त ही आवागमन का कारण बनता है। वह जो आत्मा है वह तो ब्रह्म है। वह सर्वोपरि है।

बाल्मीकि : महाराज! चित्त का वास्तविक गुण क्या है? चित्त को आप जड़वत् स्वीकार करते हैं या चेतन ?

अरूणी : मैं सन्निधानमात्र से चेतन स्वीकार करता हूँ। जैसे प्रकृति में सन्निधान आने पर गति आ जाती है। परन्तु वह गति अथवा चेतना किसी चेतना की स्वीकार करता हूँ। क्योकि प्रकृति जड़वत् है। इसी प्रकार मैं चित्त की दशा को स्वीकार करता हूँ। आत्मा के सन्निधानमात्र से चित्त में गति आ जाती है और चित्त में जो संस्कार रहते हैं उन्ही संस्कारों से मानव का मन और चित्त का आवागमन बनता है।

बाल्मीकि : जब चित्त को जड़वत् माना जाता है, उसमें गति देने वाला आत्मा है, तो हम आत्मा को यह स्वीकार क्यों न करें कि आत्मा चेतन के संग रहने वाले मन की जो मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार धाराएँ हैं, जो प्रकृति के गुण माने जाते हैं, आत्मा के सन्निधानमात्र से वे संस्कार जागरूक हो जाते है।

महर्षि अवरेत : महाराज ! मैं इस पर विचार करने के लिये तत्पर हूँ। यह जो चित्त है वह प्रकृति का आवरण है तथा उसी की एक दशा है। उसमें ज्ञान नहीं है और आने-जाने का उसमें स्वतः कोई भी अस्तित्व नहीं रहता। जब यह आत्मा का सन्निधान उससे विच्छेद हो जाता है तो चित्त कैसे जायेगा? किस गर्भ में, अथवा

किसी माता के शरीर में, बालक के आत्मा में अथवा शरीर में ? मेरे विचार में तो यह आता है कि जैसे प्रकृति में चेतना की एक धारा है ऐसे ही चेतना की एक धारा चित्त में विराजमान रहती है और चित्त के गर्भ में वह चेतना रहती है।

बाल्मीकि : मैं यह स्वीकार नहीं करता। मेरा विचार यह है कि आत्मा के साथ मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का समूह जाता है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ जाती हैं। यह जो सत्रह तत्त्वों का शरीर है वह आत्मा की चेतना से चेतनित होता है और आत्मा के ये महासूचक माने जाते हैं। मन प्रकृति की सूक्ष्म धारा है इसीलिये इसको नष्ट नहीं कर सकती, वायु इसको दूर नहीं कर सकता। जल इसको आर्द्र नहीं कर सकता परन्तु मन सर्वत्र तत्त्वों में विराजमान हैं। विद्युत भी मन को नष्ट नहीं कर सकती क्योंकि उसमें घृत नहीं होता, उसमें केवल सूक्ष्म परमाणु होता है। आज तक कोई वैज्ञानिक ऐसा यन्त्र निर्मित नहीं कर सका जो प्रकृति में मन का साक्षात्कार कर सके अथवा मन को दर्पण में ला सके। यह जो आत्मा है, यह शरीर द्वारा भासने वाला है।

जैसे मानव के मन व चित्त को कोई नष्ट नहीं कर सकता इस प्रकार आत्मा को भी कोई नष्ट नहीं कर सकता। ये आत्मा के कारण से रहते हैं, आत्मा इनके कारण से नहीं रहता। आत्मा इनका कारण है और ये आत्मा के कार्य कहलाये जाते हैं। इसके आश्रित होकर कार्य करते हैं।

महर्षि बाल्मीकि ने तीन पदार्थों को अनादि स्वीकार किया है। इन तीन पदार्थों को अनादि स्वीकार करने से मानव का ज्ञान

ऊर्ध्वगति को प्राप्त होता है। चूँकि अग्नि, जल आदि प्रत्येक लोक में कार्य कर रहे हैं तो मन भी प्रत्येक लोक में कार्य कर रहा है क्योंकि मन ही प्रकृति की सूक्ष्म धारा है।

परमात्मा के सन्निधानमात्र से मन संसार का विभाजन कर देता है और लोकों में जो सृष्टि है उसका भी यह विभाजन करता रहता है। यह मन प्रकृति को भिन्न रूपों में परिणत कर देता है। यह प्रकृति को सृष्टि रूप बना देता है तथा सूक्ष्म से स्थूल में परिणत कर देता है। परन्तु यह सन्निधान तो चेतना का है और उस चेतना में जो आत्मा है, उसका नाम मन माना गया है।

महर्षि बाल्मीकी ने कहा कि जब मन को एक रस पर स्थित कर देते हैं तो मानव को परमानन्द की प्राप्ति हो जाती है। यदि हम चित्त को ही आवागमन का मूल कारण स्वीकार कर लेते हैं, उसी में आनन्द और हर्ष को स्वीकार कर लेते हैं तो जब हर्ष उत्पन्न होता है, उस हर्ष का परिणाम शोक होता है और शोक का परिणाम मोह है। ऐसा भी माना गया है कि शोक का परिणाम क्रोध है और क्रोध का परिणाम मोह है। अर्थात् हर्ष का परिणाम शोक है और जो आनन्द है वह आत्मा का गुण है। आनन्द की पिपासा के लिये वह अपने सखा के लिये मार्ग को प्राप्त करता है। (छब्बीसवाँ पुष्प, ३१-७-७३ ई.)

जैसे बाह्य-सृष्टि में विद्युत् सर्वत्र ओत-प्रोत रहती है, इसी प्रकार मानव को अपनी अग्नि को ऊर्ध्व बनाना चाहिये। जब मानव की विचारों की अग्नि ऊर्ध्व बन जाती है तो यह मन का प्रतिनिधित्व किया करती है। जैसे जगत में विद्युत कार्य करती है, इसी प्रकार

शरीर में कार्य किया करता है। जैसे विद्युत परलोकों को अपने में समाहित किये है उसी प्रकार यह मन सर्वत्र अंगों का स्वामी बन कर सब इन्द्रियों को अपने में समाहित कर लेता है। जैसे विद्युत् में, बाह्य कृति में चंचलता तथा व्यापकता है, इसी प्रकार मन भी व्यापकता में रमण करने वाला है। मानव की प्रवृत्तियों को भी विभाजन करने वाला ही मन कहलाता है। कपिल जी के अनुसार तो प्राणों का विभाजन भी मन के द्वारा ही होता है। मानव जब परिवार का परिचय देता है तो वह भी मन के द्वारा ही होता है।(चौदहवाँ पुष्प, १३-८-७० ई.)

प्राण

यह मानव शरीर एक सुन्दर महानगरी है, जिसमें पाँच प्राण १. प्राण, २. अपान, ३. व्यान, ४. उदान, ५. समान, पाँच मन्त्री हैं। ये अपने-अपने विभाग का कार्य सुचारु रूप से चलाते हैं। (इक्कीसवाँ पुष्प, २९-३-७० ई.)

महर्षि भृगु ने कहा है कि मोक्ष का मूल कारण मनस्तत्त्व तथा प्राण तत्त्व को एक सूत्र में लाना है। जब मानव संसार में आता हैं तो नाना प्रकार की इन्द्रियों के द्वारा इसका विभाजन प्रारम्भ हो जाता है। उस प्राण से मनस्तत्त्व दोनों पृथक् हो जाते है। प्राण इस शरीर में पाँच रूपों में विराजमान रहता है। (सत्ताईसवाँ पुष्प, २-५-७६ ई.)

प्राणों तथा उप-प्राणों की विवेचना

१-प्राण, २-अपान, ३-व्यान, ४-उदान, ५-समान, ये पाँच प्राण हैं।

तथा १-नाग, २-देवदत्त, ३-धनंजय, ४-कृकल, ५-कूर्म, ये पाँच उपप्राण हैं। ३-व्यान, यह अन्तरिक्ष से सम्बन्धित हैं। अतः प्रसारण का कार्य करता है। (चौदहवाँ पुष्प, ८-११-६९ ई.)

हमारे शरीर में ७२,७२,१०,२०२ नाड़ियों गिनी जाती हैं। व्यानप्राण गति करता है। तथा प्रत्येक नस-नाड़ी को शक्ति प्रदान करता है। इसको सञ्चालित कर रहा है, उसमें एक आभा उत्पन्न हो रही है। (सत्ताईसवाँ पुष्प, २-५-७६ ई.)

कण्ठ से ऊपर के विभाग का स्वामी व्यान प्राण है। मस्तिष्क, लघु-मस्तिष्क, कणित मस्तिष्क तथा ब्रह्मरन्ध्र भी इसी के अधीन कार्य कर रहे हैं। व्यान प्राण की मीमांसा इतनी विचित्र है कि इस पर विचार करता हुआ मानव आश्चर्यचकित हो जाता है तथा इसको दर्शनों के सिद्धान्त और मानवीय सिद्धान्त से सुगन्धित कर दिया। मानव के मस्तिष्क में अरबों-खरबों प्रकार की तरंगें व्यान प्राण के द्वारा होती हैं। इसीलिये मानव लोक-लोकान्तरों की कल्पना करता है। जानकारी करने का उसका स्वभाव होता है। उसके मस्तिष्क में जानकारी से सफलता प्राप्त करने का विचार आता है और वह प्रायः सफल हो ही जाता है। क्योंकि उसका मस्तिष्क इस प्रकार का बना हुआ है। इस मानव शरीर रूपी नगरी में व्यान प्राण के पास केवल विज्ञान विभाग तथा प्रसारण विभाग है। (इक्कीसवाँ पुष्प, २-११-६९ ई.)

२-प्राण : इसका सम्बन्ध यातायात से है। यातायात, विभाजन, दूसरों से लेना है, कितना देना है, कितना लेना है ? यह प्राण का

कार्य है। (चौदहवाँ पुष्प, २-११-६९ ई.)

हमारे शरीर में यह नाभि केन्द्र चलता है। यह नाना प्रकार की ज्ञानवाहक नाड़ियों में रमण करता हुआ बाह्य जगत में जाता है और बाह्य जगत में करोड़ों अरबों परमाणु ले करके यह आन्तरिक जगत में आ जाता है। (सताईसवाँ २-५-७६ ई.)

३-उदान : यह सब वस्तुओं को पचाता है, रस बनाता है तथा उत्तम बनाता है। (चौदहवाँ पुष्प, ८-११-६९ ई.)

इसका सम्बन्ध कण्ठ से रहता है। उदान का सम्बन्ध चित्त में रहता है। जिसे हम अन्तःकरण कहते हैं। यह चित्त का मिलान करता है प्राण से और इन दोनों का मिलान होता है, आत्मा से। से तीनों संगठित होकर शरीर को त्याग देते हैं। उस समय मनस्तत्त्व में, प्राणतत्त्व में, उदान में जो भी विचार होते हैं, उसी के साथ में यह मानव शरीर की संज्ञा प्राप्त करता है अथवा अन्य योनियाँ प्राप्त होती हैं (सत्ताईसवाँ पुष्प, २-८-७० ई.)

४-समान : इसमें वितरण करने की शक्ति है, जैसा जिसका भोग है, उसको उसी के अनुसार देता है। (चौदहवाँ पुष्प, ८-११-६० ई.)

यह वितरण मन्त्री है। तीनों प्राण जो बनाते हैं वे समान प्राण को दे देते हैं। समान प्राण शरीर की नस-नाड़ियों में उनके भाग के अनुसार वितरित कर देता है। (ईक्कीसवाँ पुष्प, २९-३-७० ई.)

५. अपान : नाभी केन्द्र से निचले भाग में अपान माना गया है। इसमें गुरुत्वाकर्षण शक्ति है। वेद का ऋषि कहता है कि पृथ्वी में अपान शक्ति न होगी तो सर्व पृथ्वियाँ सूर्य की किरणों के साथ में

आकर्षित हो जायेगी। अपान ही मानव को दूर ले जाता है तथा गमन कराता है। अपान ही मानव के जीवन की रक्षा कर रहा है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार तो अपने कारण में लय हो जाते है परन्तु प्राण ही जागरूक रहता है। प्राण अपना कार्य कर रहा है, अपान अपना कार्य कर रहा है, वहाँ मनस्तत्त्व भी नहीं रहता। आत्मा का इससे सन्निधान रहता है, सन्निधान मात्र से ही यह अपनी गति करता रहता है। (त्ताईसवाँ पुष्प, २९-३-७० ई.)

अपान प्राण से मृत्यु माना गया है तथा बल कहा गया है। (इक्कीसवाँ पुष्प, २९-३-७० ई.)

चेतावनी : मानव शरीर में जब प्राण अपान की गति एक हो जाती है तो मानव मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। आयुर्वेद का आचार्य कोई औषधि या सोमलता देकर प्राणों को पृथक् करता है, दोनों को यथार्थ गति पर ला देता है। (चौथा पुष्प, २१-४-६४ ई.)

अपान प्राण का पृथ्वी से सम्बन्ध होने के कारण मल को पृथ्वी को देकर शरीर शुद्ध कर देता है। (चौदहवाँ पुष्प, ८-११-६९ ई.)

६. नाग : नाग प्राण वह होता है, जब मानव को कामना आती है, क्रोध की उत्पत्ति होती है। अति काम आता है उस समय नाग-प्राण ऊर्ध्वमुख हो जाता है और मानव के अमृत को अपने में धारण करने लगता है। उसका हरण कर लेता है इसलिये वेद का ऋषि कहता है कि हे मानव तू क्रोध न कर। हे मानव! तू अपने जीवन को अति कामनाओं के क्षेत्र में न ले जा। अन्यथा यह जो नाग-प्राण है यह तेरे सुकृत को हनन करता हुआ अपने में धारण अमृत को

निगलता हुआ विष को देता रहता है। वही विष इस मानव के शरीर में नाना प्रकार के रोगों अथवा नाना प्रकार की भयंकर दैवी आपदाओं में उत्पन्न होकर मानव को नाना प्रकार की आपत्तियाँ, नाना प्रकार के कष्ट धारण करने लग पड़ता है।

७. देवदत्त : जितना भी सौन्दर्य है उसको देवदत्त प्राण अपने में धारण कर लेता है, अपने में समाहित कर लेता है। समाहित करके उसे चित्त में प्रदान कर देता है। उसमें एक प्रसारण शक्ति, एक रूप शक्ति कहलायी जाती है।

८. धनंजय : यदि नाग प्राण अपना कार्य किसी कारण से त्याग देता है तो धनंजय अपना कार्य आरम्भ कर देता है।

९. कूर्म : कूर्म-प्राण वह कहलाता है, जिससे ब्रह्मवेता की उत्पत्ति होती है, ब्रह्म में रमण करने लगता है।

१०. कृकल : वह उद्बुद्ध अग्नि को उत्पन्न करके द्यु-लोक में ले जाता है।

मानव को स्थूल बनाना, सूक्ष्म बनाना कूर्म और कृकल दोनों का कार्य है। यदि हम उदान प्राण से कूर्म और कृकल प्राण का मिलान करना जानते है तो सूक्ष्म शरीर बन जाता है, जितना चाहें उतना सङ्कुचित अपने शरीर को हम बना लेते हैं।

प्रकृति की पाँच प्रकार की गति मानी जाती है। १-आकुंचन २-प्रसारण ३-ऊर्ध्वा ४-धुरवा ५-गमन।

इन पाँचों प्रकार की गतियों को जानने वाला योगी अपने शरीर को स्थूल रूपों में ला सकता है और आकुंचन के द्वारा सूक्ष्म बना

सकता है। ये दश प्राण बनने के पश्चात् मन की प्राप्ति हो गयी। मन ने इन पाँचों प्राणों से मानव का यह बाह्य जगत बना दिया। ये इन्द्रियों के रूप में प्रकट हो गये। इन्द्रियों का कार्य स्वतः प्रारम्भ हो गया। इन्द्रियों का अपना-अपना विषय प्रारम्भ हो गया। प्रत्येक देवता भी इन्द्रियों में विलीन हो गये। इन्द्रियाँ अपना कार्य करने लगीं।

पाँचों देवों का शरीर में वास

चक्षु सूर्य बनकर रहने लगा, घ्राण पृथ्वी बन कर रहने लगी, रसना चन्द्रमा बनकर रहने लगी, त्वचा वायु बन कर रहने लगी तथा श्रोत्र का देवता दिशा बन गयी। यह आन्तरिक जगत बन गया।

आन्तरिक जगत से बाह्य जगत बन गया। जब बाह्य जगत में इन्द्रियों को अपना कार्य परिणत कर दिया, मन के द्वारा अपना कार्य करने लगीं तो प्राण का सहयोग हो गया। क्योंकि प्राण का विभाजन हो गया।

साँसारिक कामना का परिणाम

इसके पश्चात् मानव में आगे कामना उत्पन्न हुई जिसे तृष्णा कहते हैं। तृष्णा की उत्पत्ति होते ही दो भाग हो गये, मान और अपमान। ये दोनों मृत्यु के कारण हैं। आज्ञा के अनुसार कार्य होता है, तो अभिमान की उत्पत्ति होती है। आज्ञानुसार न होने पर निराशा; निराशा का परिणाम मृत्यु का जन्म होना। मृत्यु वही है जो मानव को सदैव दुखित करती है। इस बाह्य जगत में जहाँ भी दृष्टि जाती है, वही अग्नि परीक्षा हो रही है, कहीं पुत्री है, कहीं पुत्र है, उनकी इच्छा पूर्ति में मानव लगा रहता है। (सत्ताईसवाँ पुष्प, २-५-७६ ई.)

मन संसार में व्यापक होता है। उसकी संलग्नता तथा सम्बन्ध मानव की प्रत्येक नाड़ियों से होता है। मन का सन्तुलन ही प्राणों का विभाजन करता है। प्राणों का जितना विभाजन हो जाता है, उतना ही मानव विकृत रूपों में परिणत हो जाता है। प्राणों का मिलान होने पर विकृतता नहीं रह पाती। वह प्राण अति कृतता (समन्वय) में परिणत हो जाते हैं। प्राण-शक्ति को वायु में तथा अग्नि में परिणत कर लिया जाता है। (इक्कीसवाँ पुष्प, २९-३-७० ई.)

निद्रा में प्राण जागरूक रहते है

जब मानव निद्रा की गोद में जाता है तो पाँचों प्राण अपने-अपने स्थान पर प्रदीप्त रहते हैं और मानव शरीर को, जो जीवात्मा का आसन है, उसकी रक्षा करते हैं। निद्रा में आत्मा परमपिता परमात्मा से मिलान करता है और पाँचों प्राण अपने कर्तव्यों पर दृढ़ रहते हैं। ये प्राण आत्मा की व्याहृतियाँ कहलायी जाती हैं। (चौथा पुष्प, १९-४-६४ ई.)

प्राण मानव की आकृति के वाहक है

प्राण को प्रकाश का अन्तिम दूत माना गया है। उसके ऊपर मानव के शब्द और चित्रावली एक-एक कण में गति कर रहा है। मानव जब श्वास लेता है तो श्वास के साथ में उस मानव का आकार गति वाला बन जाता है। इसमें लगभग दों खरब परमाणु होते हैं और उनमें एक-एक बिन्दु मानव का जाता है। तो जैसा आकार है, उसी क्षेत्र में वे परमाणु रहते हैं। उतने ही आकार का चित्र लेकर के अन्तरिक्ष में रमण करते हैं। (सत्ताईसवाँ पुष्प, ३-३-७६ ई.)

जैसे गृह पति के अन्यत्र जाने पर उसके सेवक गृह की रक्षा करते हैं, राजा के सेवक राजा की आज्ञा से प्रजा को सुविधा देते हैं और रक्षा करते हैं। उसी प्रकार निद्रावस्था में जब आत्मा परमात्मा, सविता देव से मिलान करता है तो ये प्राण रक्षा करते हैं। (चौथा पुष्प, १९-७-६४ ई.)

विद्युत

विद्युत् मानव के कण-कण में है। यदि वह उसपर सोचकर वाणी में धारण करके आत्मा में धारण करे, तो उसका प्रकाश महान् हो जाता है जैसे वैज्ञानिक जल और वायु से विद्युत् को खींचते हैं, इसी प्रकार मानव को विद्युत् को खींचने वाला बनना चाहिये। जब प्रत्येक इन्द्रिय में उसका प्रकाश हो जाता है, तो उस मानव का प्रकाश समस्त संसार में फैल जाता है। (आठवाँ पुष्प, १३-११-६६ ई.)

मानव की वाणी का जो क्षेत्र है, यह अग्नि का स्वरूप कहलाया गया है। वाणी के ही स्वरूप में तीन प्रकार की अग्नियाँ हैं। वे बाह्य जगत से ओझल रहती हैं। वे अग्नि हैं जो मानव के शब्द को विदीर्ण कर देती हैं, मानव की तरंगों को विदीर्ण कर देती हैं। वह अपने आनन्द में विराजमान हो करके मनस्तत्त्व में चिन्तन कर रहा है, चिन्तन करता हुआ अभ्यस्त हो रहा है तथा अभ्यस्त होता हुआ संसार को दृष्टिपात कर रहा है। (सत्ताईसवाँ पुष्प, २-३-७६ ई.)

दृष्टि-दृश्य

महाराजा जनक के महर्षि याज्ञवल्क्य से प्रश्न

नाना स्थितियों में नाना प्रकाशक शक्तियाँ

प्रश्न : मानव शरीर में नेत्र किसके प्रकाश से प्रकाशित रहते है ?

उत्तर : सूर्य के प्रकाश से, क्योंकि सूर्य नेत्रों का देवता है। संसार की रचना के समय आदित्य ने नेत्रों को चुना था। प्रातःकाल में नव सूर्य से उषा नाम की किरण आती है, तो सब जग जाते हैं।

प्रश्न : सूर्य के न रहने पर किसके प्रकाश से प्रकाशित रहते हैं ?

उत्तर : सूर्य के न रहने पर नेत्रों का देवता चन्द्रमा होता है। चन्द्रमा की किरण मानव को अमृत प्रदान करती है। पृथ्वी में जहाँआभूषणी आभावती नाम की धातु होती है, वहाँ श्वेतकेतु नाम की कान्ति होती है। वहाँ विशेषकर अमृत उत्पन्न होता है उसकी पात बनती है। उसी पात से नाना प्रकार की धातुएँ होती रहती हैं।

नेत्रों के पिछले विभाग में प्रागिक नाम की नाड़ियाँ होती हैं जिनके द्वारा, चन्द्रमा की कान्ति द्वारा दिया गया अमृत मानव शरीर में जाता है और उसे पवित्र बना देता है। चन्द्रमा का सम्बन्ध जल से तथा समुद्रों से होने के नाते इसको 'अमृतम्' कहते हैं। मन का विशेष सम्बन्ध चन्द्रमा से रहता है। चन्द्रमा से जो रस आता है, उसका सम्बन्ध मानव के मन से होता है। मन का सम्बन्ध नेत्रों से और इन्द्रियों से होता है। इसलिये नेत्रों का देवता सूर्य न हो तो चन्द्रमा होता है।

प्रश्न : चन्द्रमा न हो तो कौन प्रकाशित करता है ?

उत्तर : चन्द्रमा और सूर्य के न होने पर तारागण प्रकाशमान करते हैं। इस ब्रह्माण्ड में तीन प्रकार के सौर मण्डल हैं। १-एक सौर मण्डल का अधिपति सूर्य है। २-दूसरे का बृहस्पति तथा ३-तीसरे का

ध्रुव।

इन सौर मण्डलों में नाना सूर्य हैं, नाना चन्द्रमा हैं, नाना मंगल हैं, नाना बुध हैं। ऐसे-ऐसे लोक-लोकान्तर हैं जिनमें नाना सूर्य समाहित हो जाते हैं। प्रभु की यह सारी रचना विलक्षण है। ये सभी लोक-लोकान्तर आकर्षण शक्ति के कारण अपनी-अपनी परिधियों में विचरते रहते हैं। जब यह आकर्षण शक्ति कम हो जाती है तो उन लोकों का एक पिण्ड बन जाता है और यह संसार प्रलय को प्राप्त हो जाता है।

प्रभु का जो महत् है, इससे गति और प्रबलता चली तो अंतरिक्ष के परमाणुओं में गति आई। वायु के परमाणुओं से अग्नि के परमाणुओं में, अग्नि के परमाणुओं से जल के परमाणुओं में गति आ गयी। जल को 'रज' या 'आभागृति कहते हैं जब जल रजस्वला होता है और जब सूर्य तपाता है तो पृथ्वी के परमाणु एकत्रित हो जाते हैं और स्थूल रूप में आ जाते हैं। तब यह पृथ्वी का मण्डल बन जाता है।

तारा मण्डलों के प्रकाश से लोक-लोकान्तरों की उत्पत्ति इस प्रकार हो जाती है कि जल के परमाणुओं में जो रज होता है, वह एकत्रित होकर पिण्ड रूप बन जाते हैं, उसके पश्चात् इन पर प्राणी रहने लगते हैं। जहाँ जैसा लोक होता है, उसी के अनुसार उनके शरीर बन जाते हैं।

प्रश्न : तारामण्डलों के न रहने पर किसके प्रकाश से प्रकाशित होते हैं ?

उत्तर : उस समय वाक् का प्रकाश होता है। वाक् से जो शब्द निकलता है वह प्रकाश देता है। जैसे कोई मार्ग भूल जाने पर अन्धेरे में शब्द उच्चारण करता है, दूसरा उसे सुनकर शब्दोच्चारण से ही मार्ग दिखा देता है, शब्द अन्तरिक्ष से आता है।

जब वाणी एक-दूसरे से मिलान करते हैं तो परमाणु संघर्ष करते हैं। उनसे शब्दों की उत्पत्ति होती है। अन्तरात्मा में जो अन्तरिक्ष है, इससे श्वास-प्रश्वास द्वारा नाना प्रकार के परमाणु जाते रहते हैं। उन्हीं परमाणुओं से जो अन्तरात्मा की ध्वनि है उससे शब्दों की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार यह शब्द ही प्रकाशमान है तथा हमें प्रकाश देता है। यह अन्तरिक्ष से आता है। लोक-लोकान्तर, जो एक-दूसरे की आकर्षण शक्ति से स्थिर है, उनके मध्य में शब्द है। यदि शब्द भ्रमण नहीं करेगा तो आकर्षण शक्ति नहीं रहेगी।

प्रश्न : शब्द के न रहने पर कौन प्रकाश देता है ?

उत्तर : उस समय आत्मा से प्रकाशमान होते हैं। इस आत्मा से ही यह शरीर है। आत्मा के चले जाने पर शरीर का प्रकाश समाप्त हो जाता है। (बारहवाँ पुष्प, ८-३-६९ ई.)

जिज्ञासा का मूल

महर्षि प्रवाण, शाण्डिल्य तथा काकली का महर्षि भृंगी से प्रश्न

प्रश्न : यह मानव किसी विषय को जानता हो अथवा न जानता हो परन्तु मानव की पिपासा रहती है कि मैं इस विषय को भी जानना चाहता हूँ। ऐसी पिपासा मानव के हृदय में क्यों जागरूक रहती हैं ?

भृंगी जी जी का उत्तर : मानव के मस्तिष्क का उसके हृदय से सम्बन्ध होता है। मानव के अन्तःकरण में, हृदय में तथा मस्तिष्क में इस प्रकार के अङ्कुर हैं जो उपज जाते हैं। जैसे एक मानव चन्द्रमण्डल को जाना चाहता है, वही मंगल की कल्पना कर रहा है, वही सूर्य की किरणों की कल्पना कर रहा है, वही लोक-लोकान्तरों की कल्पना कर रहा है। यह पिपासा मानव में क्यों होती हैं? इसको मानव जानता नहीं परन्तु ऋषियों ने निर्णय दिये हैं कि यह पिपासा हृदय से उत्पन्न होती है।

तब सब ऋषि मिलकर भारद्वाज के पास गये। भारद्वाज ने बताया कि :

मानव के मस्तिष्क में सूक्ष्म-सूक्ष्म वाहक नाड़ियाँ होती हैं। इनका सम्बन्ध नाना प्रकार के लोक-लोकान्तरों तथा पंचतन्मात्राओं से होता है। पंचतन्मात्राओं से इस सर्वजगत की रचना मानी गयी है। इन्हीं से द्यु-लोक की रचना है जिसको परमात्मा का हृदय माना जाता है।

जैसे मानव के हृदय में जो सुषुप्तावस्था में अङ्कुर हैं वे तरंगित होकर जागरूक होते रहते हैं, इसी प्रकार परमात्मा के हृदय द्यु-लोक में शब्दावली विराजमान हो जाती है। पंचतन्मात्राओं में जो नाना प्रकार की ध्वनियाँ होती हैं, उनका मिलान होकर, समूह बन कर द्यु-लोक में रहता है। इसमें सहस्रों प्रकार की मन की तरंगें रमण करती रहती हैं। इसमें मानव के आन्तरिक तथा बाह्य-विचार भी भ्रमण करते रहते हैं।

जैसे यह द्यु-लोक परमात्मा का हृदय है इसी प्रकार मानव का

हृदय है। उसमें मन की तरंगें ओत-प्रोत होती रहती हैं तथा प्राण की तरंगें भी ओत-प्रोत रहती हैं इससे मानव यौगिकवाद में जाकर अपने चित्त में रमण करने वाले जगत को जानने लगता है कि इसमें अहंकार की कितनी मात्रा है, मन की कितनी मात्रा है ? इस प्रकार अनुसन्धान करता हुआ इन्ही में संलग्न हो जाता है।

मानव के हृदय में जो पिपासा उत्पन्न होती है उसका मूल कारण हमारा लघु-मस्तिष्क है जिसको ब्रह्मरन्ध्र भी कहा जाता है। इसमें एक चक्र होता है जिसमें नाना प्रकार की वाहक-नाड़ियाँ होती हैं जिनका सम्बन्ध मन से होता है, मन की नाना प्रकार की तरंगों का सम्बन्ध इन नाड़ियों से होता है। इन नाड़ियों में से किसी का सम्बन्ध ध्रुवमण्डल से, किसी का ज्येष्ठाय नक्षभ से, किसी अरून्धति मण्डल से, किसी का रोहिणी नक्षत्र से किसी का मामकेतु से, किसी का वशिष्ठ मण्डल से, किसी का माक्रिक मण्डल से, आदि-आदि।

अब वे जो तरंगें हैं तथा अङ्कुर हैं, वे मन की एक पिपासा होती हैं। क्योंकि मन के द्वार से ही नाड़ियों में तरंगें उत्पन्न होती हैं। मन का सम्बन्ध प्रकृति से है। प्रकृति का सूक्ष्मतम मानस रूप मन ही माना जाता है। इसलिये प्रकृति का जितना ब्रह्माण्ड है, जितना यह चक्र है, इसमें जितने लोक-लोकान्तर हैं, जहाँ भी प्रकृति का सम्बन्ध है, वही मन की तरंगें नाड़ियों द्वारा होती हुई और नाड़ियों में चेतना देती हुई उनसे सम्बन्धित हो जाती हैं।

इस प्रकार की मन की ८४ धाराएँ होती हैं। ये चौरासी प्रकार की मन की धाराएँ ब्रह्मरन्ध्र में जाती हैं। ब्रह्मरन्ध्र में जो नाना प्रकार

की कृति है उनमें से भी एक-एक नाड़ी से ७२-७२ इस प्रकार की धाराएँ होती हैं जिनका सम्बन्ध नाना प्रकार के मण्डलों से होता है।

जब ये मन की धाराएँ तरिंगत होती हुई सूक्ष्म शरीर में रमण करने लगती हैं तो सूक्ष्म शरीर वाले महापुरुष योगी को यह भान होने लगता है कि यह जगत कितना विशाल है, उसका आवागमन लोक-लोकान्तरों मे हो जाता है।

मन का आभास बुद्धि से उत्पन्न होने लगता है। बुद्धि में इसी प्रकार की इक्कीस प्रकार की तन्मात्राओं का जन्म होने लगता है जिनका सम्बन्ध इस प्रकृति के मण्डलों से तथा द्यु-लोक में होने लगता है।

बुद्धि की नाना प्रकार की तरंगें हैं, जैसे श्वेतकेतु, ऋणिका, अभ्यात, प्राची, अस्तम आदि तथा श्रेणियाँ जैसे रेनकेतु शाममुनिकृति, मानकेतु आदि होती हैं।

जिस प्रकार यज्ञशाला में आहुति देने पर अग्नि प्रदीप्त हो जाती है, इसी प्रकार इस बुद्धि की नाना प्रकार की तरंगें, नाना प्रकार की चेतनाएँ जब द्यु-लोक में चली जाती हैं तो द्यु-लोक में नाना प्रकार के सुन्दर अणु हैं, जिनका सम्बन्ध घृत से विशेष होता है, उनसे बुद्धि का सम्बन्ध हो जाता है, और सुन्दर तरंगों का जन्म हो जाता है।

जैसे नाना प्रकार की औषधियों का पशुओं के शरीर में जाकर मन्थन होकर घृत उत्पन्न हो जाता है इसी प्रकार बुद्धियों का अकृति हो जाता है तथा रेनकेतु आदि श्रेणियाँ इसमे उत्पन्न हो जाती हैं।

द्यु-लोक का घृत यह प्राण है। यही बुद्धि को नाना रूपों में

परिणत कर देता है। जब प्राण और मन दोनो का द्यु-लोक में समन्वय हो जाता है उस समय योगी की साम्यावस्था हो जाती है। वह योगी एक महान् धारा को प्राप्त होने लगता है।

ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों की चेतना भी अन्तःकरण या चित्त में स्वाभाविक रहती हैं, उनका स्वभाव बना रहता है, परन्तु जब योगी द्यु-लोक तथा ब्रह्मरन्ध्र के घृत को जानकर दोनों का समन्वय कर लेता है तो उस समय चित्त में इन्द्रियों की चेतना में से एक-एक में बारह-बारह प्रकार की चेतनाओं का जन्म होता है। उन चेतनाओं का समन्वय इस महान् द्यु-लोक वाले जगत से कर लिया जाता हैं। उस समय योगी सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर तथा स्थूल शरीर, तीनों को जानने वाला बन जाता है।

मानव में प्रभु के मण्डल को जानने की जिज्ञासा बनी रहती है। जैसे माता अपने बालक को उसी समय तक दुग्ध पान कराती है जब तक उसे उसकी पिपासा रहती है। क्षुधा के समाप्त हो जाने पर वह उसे पृथक कर देती है। इसी प्रकार मानव को जितनी पिपासा होती है यह प्रकृति चेतना उतना ही चेतनित करती रहती है। यह द्यु-लोक का घृत माना गया है।

इसमें विचारों की आहुति देते रहो। जितनी आहुति दोगे अर्थात् जितना विचारों का जगत बना लोगे उसकी ही जानकारी होती रहेगी। अन्त में यह विचार कहाँ तक जा सकता है इसको कोई माप नहीं सकता। (पन्द्रहवाँ पुष्प, १२-४-७१ ई.)

ब्रह्मरन्ध्र का लोक-लोकान्तरों से सम्बन्ध

यह आत्मा मूलाधार में, नाभिचक्र में, स्वाधिष्ठान चक्र में, हृदय चक्र में, कण्ठ चक्र में, घृण चक्र में, त्रिवेणी चक्र में और उसके ब्रह्मरन्ध्र चक्र में, जो हमारी शिखा के निचले स्थान में चक्र है, जाता है। ब्रह्मरन्ध्र में इतनी सूक्ष्म-सूक्ष्म नाड़ियाँ हैं, जिनका एक-एक लोक से तारतम्य लगा हुआ है।

जैसे सीमन्त नाम की वाहक नाड़ी का सम्बन्ध सूर्य-मण्डल से है। जब आत्मा, मन, प्राणों की शक्ति ब्रह्मरन्ध्र मे चली जाती है तो वाहक नाड़ियों का मुख कमल की पङ्खुड़ियों की तरह खुल जाते हैं। उस समय इन नाड़ियों का तारतम्य मन के सहित लोक-लोकान्तरों से होता है।

अन्त में जब हम मानव शरीर कों त्यागकर प्रभु की गोद में चले जाते हैं, जिसने इस सृष्टि को रचाया है तो हम उसकी रचना को जानने वाले बन जाते हैं। इस प्रकार यह आत्मा, जो इस शरीर में भौतिकवाद तथा लोक-लोकान्तरों की गणना में लगा हुआ था अपने शरीर को और मानवत्व को जानकर प्रभु के आनन्द में पहुँचने पर उस आत्मा के लिये यह प्रकृति का आवरण, जो भौतिकवाद में विशाल वन प्रतीत होता है, नीचे रह जाता है, महत्वहीन हो जाता है। वह महान् आत्मा संसार से ऊपर उठ जाता है। यह विचार भौतिक विज्ञान से भी अधिक सम्बन्धित है, आध्यात्मिकता के निकट है।

ब्रह्मरन्ध्र की करोड़ों नाड़ियों का सम्बन्ध करोड़ों मण्डलों से है

गार्गी के अनुसार ब्रह्मरन्ध्र में साठ करोड़ नाड़ियों की सूक्ष्म-सूक्ष्म

व्याहृतियाँ मानी जाती हैं। वाहक नाड़ियों का तारतम्य माना जाता है। जिनका एक-दूसरे से परस्पर तारतम्य और सूर्य की एक सहस्त्र किरणों से प्रत्येक वाहक नाड़ी का सम्बन्ध होता है।

ध्रुव-मण्डल से 'सुर-ज्ञान्त' नाम की रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं। 'त्रिगात' नाम की वाहक नाड़ियों से इन किरणों का सम्बन्ध होकर ध्रुव से सम्बन्ध हो जाता है। 'त्रिःअंचति सरयत' नाम की वाहक नाड़ी का सम्बन्ध बृहस्पति से होता है। इसी प्रकार हम अन्य मण्डलों को जानने वाले बन जाते हैं। (आठवाँ पुष्प, अप्रैल ६५ ई.)

मानव शरीर रूपी वृक्ष

हमारे यहाँ यह जो मानव शरीर है यह इस प्रकार का विचित्र वृक्ष है कि इसमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ है, पाँच कर्मेन्द्रियाँ है, दस प्राण हैं, मन, बुद्धि चित्त, अहंकार हैं। यह ऐसा सुन्दर वृक्ष प्रभु ने बनाया है इसको विचारना चाहिये। इसके ऊपर प्रत्येक मानव का अधिपत्य होना चाहिये। मानव इस मानव जीवन के सम्बन्ध में विचार-विनिमय नहीं करता, इसको सुन्दर रूपों से नहीं जानता, तो हे मानव ! यह कैसी विचित्रता है। जिस गृह में यह अन्तरात्मा रहता है, परन्तु उस गृह को मानव सुन्दर रूपों में न जाने, यह कैसा आश्चर्य है। यह कैसा अज्ञान मानव के समीप आया है। यह कैसी मृत्यु है। यह संसार को निगलती चली जा रही है। इन्द्रियों के विषयों को मुक्त नहीं होने देती। आज इनको मुक्त होने की कुछ चर्चाएँ करते चले जाये। इन्द्रियों को मुक्त करना है। ये अपने-अपने रूप में परिणत हो जाये, वही इन्द्रियों का मुक्त हो जाना है। (तीसरा पुष्प, २७-११-७४

ई.)

चरित्र-महत्ता

मानव के जीवन में नाना प्रकार की सुगन्धि होती है। परन्तु एक सुगन्धि मानव के जीवन में चरित्र की सुगन्धि होती है। वाणी की सुगन्धि होती है, चक्षु की सुगन्धि होती है। परन्तु ज्ञान और विज्ञान की भी एक सुगन्धि होती है। हमारे यहाँ यह माना गया है कि चारित्रिक जो निर्माण है अथवा चारित्रिक जो सुगन्धि है वह एक महान् सुगन्धि कहलाती है। वही सुगन्धि है जो अपनी तरंगों से संसार के ज्ञान और विज्ञान को एकत्रित कर सकती है। तो सुगन्धि को लाना हमारा कर्तव्य है, हमें अपने समाज में, अपने राष्ट्र में, अपनी मानवता में चारित्रिक निर्माण करना चाहिये। उसका निर्माण होता रहे।(उन्तीसवाँ पुष्प, ३०-४-७७ ई.)

विज्ञान की अपंगता

"यन्त्राणि गच्छताम् देवम्" मै अपने पूज्यपाद गुरुदेव से कहा करता हूँ कि यह विज्ञान किस आँगन को जा रहा है ? तो मेरे पूज्यपाद गुरुदेव मौन हो जाते हैं, कोई वाक्य उच्चारण नहीं करते। परन्तु विचारना केवल यह है कि क्या ऐसा विज्ञान होना चाहिये ? विज्ञान के हम विरोधी नहीं हैं। परन्तु विज्ञान के साथ में चरित्र होना चाहिये। मेरे पूज्यपाद गुरुदेव ने एक समय वर्णन कराया कि जिस समय राजा रावण के राष्ट्र में अग्नि यन्त्रों का निर्माण हो गया, जलास्त्रों का निर्माण हो गया चन्द्रमा में यातायात बन गया, मंगल में यातायात बन गया, सर्वत्रता में यातायात बन गया तो कुक्कुट मुनि ने

यह कहा था ''रावण ! तुम्हारा राष्ट्र कोई प्रिय नहीं लग रहा है। यहाँ यन्त्रों का निर्माण है परन्तु चरित्र का निर्माण नहीं। जब तक चरित्र, मानवता नहीं आ पाती, यह विज्ञान तुम्हारा नाश बना रहेगा। यह विज्ञान मानव को नष्ट करता रहेगा।'' परन्तु पुरातन के काल में भारद्वाज मुनि की विज्ञानशाला में जहाँ परमाणुशक्ति का अनुसन्धान किया जाता था वहाँ उसी यज्ञशाला में आध्यात्मिकवाद के परमाणुओं को भी जाना जाता था। आध्यात्मिकवादी अहिंसा परमोधर्मी कैसे बनता है? छात्र कैसे ऊँचा बनता है ? आज छात्रों के क्षेत्र में जब मैं प्रवेश करता हूँ तो मानवता की आभा समाप्त होती जा रही है। तो यह सर्वत्र दोषी कौन है ? इसका दोष विज्ञान के ऊपर है क्योंकि विज्ञान में आहार और व्यवहार की प्रवृत्ति नहीं रही। विज्ञान यह निर्णय नहीं दे सकता कि अमुक पदार्थ के पान करने से शरीर में क्या-क्या वस्तु उत्पन्न होती है। अमुक अन्न के उत्पन्न करने से क्या-क्या वस्तु प्राप्त की जा सकती है ? परन्तु उस समय वैज्ञानिकों का विचार अपंग बना रहता है। मेरे पूज्यपाद गुरुदेव ! मुझे तो ऐसा दृष्टिपात आ रहा है यह विज्ञान अपंग है। जब तक विद्यालयों में आहार और व्यवहार की शिक्षा नहीं होगी तब तक यह विद्यालय कदापि भी ऊँचे नहीं बन सकते, यह शिक्षा प्रणाली कभी ऊँची नहीं बन सकती।(छत्तीसवाँ पुष्प, २३-२-८०)

८ अष्टम् अध्याय-मानव-शरीर के जीवन और मृत्यु की आर्ष मीमांसा

मृत्यु के दो स्वरूप माने गये हैं एक रुढ़ि तथा दूसरा यौगिकता। रुढ़िवाद कहता है कि हे मृत्यु ! तू संसार को निगल जाने वाली है। प्रत्येक प्राणी मृत्यु के मुख में रहता है। ये लोक-लोकान्तर मृत्यु के मुख में रमण कर रहे हैं। पुत्र के वियोग पर माता-पिता व्याकुल होते हैं।

यौगिकता में योगी कहता है कि मृत्यु संसार में कोई वस्तु नहीं है। अज्ञानता का शब्द है। जो अज्ञान हृदय में छा जाता है, मृत्यु उसका प्रतीक है। न यह संसार को निगलती है, न संसार इसके आँगन में रहता है। वेद का ऋषि कहता है कि मृत्यु कोई वस्तु नहीं। यह संसार सर्वत्र प्रकाश में पिरोया हुआ है। जहाँ यह प्रकाश में पिरोया हुआ है, वहाँ मृत्यु कैसे आ जाती है। योगी कहता है कि पंचमहाभूतों से ब्रह्माण्ड का निर्माण हुआ है। पंचमहाभूतों के एक भी कण का अभाव नहीं होता। अतः मृत्यु का प्रश्न नहीं उठता। रूढ़ि का तात्पर्य यह है कि हम लौकिकता में चले जाते हैं।

संसार में कोई भी महापुरुष हो, योगी हो, वैज्ञानिक हो, वह परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करता हुआ जब अपने अन्तरात्मा में प्रवेश करता है, तो यदि उसमें कोई क्लिष्ट कर्म हो जाता है, तो उसका अन्तरात्मा उसे धिक्कारने लगता है। इसी प्रकार अपने किये हुए यौगिक कार्यों से उस मानव को प्रसन्नता आती है क्योंकि उसके मन में ज्ञान और विवेक का प्रकाश होता है।

एकान्त में एक रूढ़िवादी अपने को अकेला अनुभव करके अपने अस्तित्व को नहीं स्वीकार करता। जब कि दूसरा अपने को एकाकी अनुभव नहीं करता। वह कहता है कि मेरे साथ मेरा सखा तथा चैतन्य प्रभु है। मृत्यु उसकी होती है, जो अपने को परमात्मा से दूर करके कहता है कि मेरा कौन है संसार में ? (अठाईसवाँ पुष्प, २०-५-७५ ई.)

जब हम परमात्मा का दर्शन करते हैं, जीवन और मृत्यु का विश्लेषण करते हैं, तो न तो यह मृत्यु ही कोई वस्तु प्रतीत होती हे, और न जीवन ही। यह सब कुछ स्वप्न प्रतीत होने लगता है। दर्शनों के आधार पर विचार करने पर मृत्यु की कोई सार्थकता नहीं है। वह केवल कल्पना मात्र है। किन्तु कल्पना समझने पर इसमें और ही महत्ता प्रतीत होने लगती है जिस पर गम्भीरता से विचार करें।

मानव मृत्यु और जीवन के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न प्रकार की विवेचनाएँ और व्याख्याएँ करता है। इसलिये प्रश्न आता है कि जीवन और मृत्यु क्या है ? जब किसी के सम्बन्ध में मृत्यु होने का उच्चारण किया जाता है, तो उसका तात्पर्य यही होता है कि वह व्यक्ति अन्यों से बिछुड़ गया।

महर्षि शौनक ने दालभ्य के प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहा है कि मृत्यु मानव की एक कल्पना है। साधारण प्राणियों की कल्पना है। मानव कल्पित वाक्यों को स्वीकार कर लेते हैं इसीलिये उन्हें भय रहता है। मृत्यु वह है, जो मानव संसार में कायर बनकर रहता है, जो कायर प्राणी होता है, वह मृत्यु के मुख में रहता है। वरना मृत्यु

कोई शब्द नहीं है, मृत्यु का कोई अस्तित्व नहीं है। मानव की अपकीर्ति, उसका हताश होना है। जो जीवन में अपनी मानवता को त्याग देता है वही उसकी मृत्यु है।

हमें इसका विश्लेषण करना चाहिये कि हमारा शरीर किन परमाणुओं से तथा शब्दों से बना है। शौनक जी ने कहा कि पहले ये परमाणु जिनसे शरीर बना है, माता के जरायुज में थे। उसके पूर्व माता-पिता के रजवीर्य में थे। उससे पूर्व अग्नि, जल, वायु, अन्तरिक्ष में थे। ये पाँच प्रकार के परमाणु अग्नि, जल, पृथ्वी, वायु और अन्तरिक्ष पहले रज में एकत्रित होते हैं। फिर जल में, कुछ अन्न में, कुछ वनस्पति में जाते हैं। अन्न और वनस्पतियों को तपाया जाता है। तपा कर उनसे रज और वीर्य बनता है। रज और वीर्य माता के गर्भ में विराजमान होता है। उससे परमाणु सुगठित होते हैं। उन परमाणुओं से मानव शरीर का निर्माण होता है। इन परमाणुओं को सुगठित करने वाला तथा अनुशासन में लाने वाला वह जीवात्मा है।

जब यह जीव शरीर को त्याग देता है, तो इसके परमाणु विखण्डित होकर जल के परमाणु जल में, वायु के वायु में, पृथ्वी के पृथ्वी में, अन्तरिक्ष के अन्तरिक्ष में तथा अग्नि के अग्नि में मिल जाते हैं। इस प्रकार कोई भी परमाणु नष्ट नहीं होता। अतः मृत्यु शब्द बनता ही नहीं। मानव अपनी मानवता और वास्तविकता को न जान कर सदैव मृत्यु से भयभीत रहता है। वास्तव में मृत्यु शब्द जीवात्मा के साथ लगा हुआ है क्योंकि भोगवाद में इसको परिणत किया जाता है। जब तक जीवात्मा के साथ भोगवाद है, तब तक ही जीवन है।

अर्थात् जीवन की सत्ता भोगवाद के साथ-साथ संलग्न हो जाती है।

प्रश्न आता है कि जब हम मृत्यु शब्द को स्वीकार नहीं करते तो जीवन-शक्ति कहाँ से आ गयी ?

इसका उत्तर यह है कि जीवात्मा का भोगवाद है अर्थात् भोगवाद के साथ ही जीवन शक्ति है। जीवन शक्ति का भी कोई अस्तित्त्व नहीं है। इसका अस्तित्त्व केवल भोगवाद के गर्भ में रहता है। इसलिये इसको जीवन शक्ति उच्चारण करते हैं।

निष्कर्ष यह है कि मृत्यु केवल भौतिकवाद में हैं। आध्यात्मिकवाद में कोई मृत्यु नहीं होती। (दसवाँ पुष्प, ७-११-६८ ई.)

युधिष्ठिर ने यक्ष से कहा था कि संसार में महान् आश्चर्य है तो मृत्यु है। मानव सदैव उससे बचने का प्रयत्न करता है। फिर भी एक दिन उसका आहार हो ही जाता है। वास्तव में शरीर त्यागने का नाम मृत्यु नहीं है, यह तो रूपान्तर हो जाना है। मृत्यु उसको कहते हैं, जो मानव कायर बनकर रहता है। जो कायर बनकर काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ में लालायित रहता है, अभिमानी बनकर रहता है, दूसरों को अपमानित करता है, वह संसार के क्षेत्र में कायर होता है। एक समय वह मृत्यु का आहार बन जाता है।

जहाँ उसे किसी प्रकार का प्रकाश प्राप्त नहीं होता वह अन्धकार ही अन्धकार में रमण करता रहता है। कायर वह होता है, जो मानव अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता, जिसका अपनी इन्द्रियों पर संयम नहीं होता, उसकी अप्कीर्ति होती रहती है। परिणाम स्वरूप उस प्राणी के भौतिक तत्त्व वायु में मिलते रहते हैं। प्रभु दण्डों का

स्वामी होने के नाते उस प्राणी को दण्ड ही देता रहता है। (नौवाँ पुष्प, २-६-६८ ई.)

मृत्यु का भय सभी प्राणियों को होता है। परन्तु उस प्राणी को नहीं होता जो ब्रह्मवेत्ता होता है। जो विचारक होता है, जिसके स्वप्न में भी घृणा नहीं होती। जो हृदय की प्रक्रिया को जानने वाला प्राणी होता है, उसकी संसार में मृत्यु नहीं होती, मृत्यु उन प्राणियों की नहीं होती जो अपने मानवीय हृदय तथा परमपिता परमात्मा के हृदय दोनों का समन्वय कर लेते हैं। मानव के हृदय में व्यापकवाद आ जाता है, जब इन्द्रियों के विषय में व्यापकता आ जाती है।

जैसे परमात्मा का हृदय व्यापकता में रमण करने वाला है वैसे ही मानव का हृदय व्यापक बन जाता है, तब मानव के हृदय का तथा परमात्मा के हृदय का समन्वय हो जाता है। जब हृदय-हृदय का समन्वय हो जाता है तो वही तो मानव ब्रह्म को जानने वाला बनता है। वह ब्रह्मवेत्ता पुरुष, महापुरुष कहलाया जाता है। उस मानव के हृदय में घृणा का स्रोत उत्पन्न नहीं होता। जब घृणा नहीं होती तो उसका हृदय निर्मल होता है, स्वच्छ होता है, पवित्र होता है। जितना हृदय पवित्र होता है, उतना ही मानव परमात्मा के निकट होता है। अपनी प्रवृत्तियों को दमन करने वाला जो प्राणी होता है, परमपिता परमात्मा से सदैव उसका मिलान होने लगता है। (तेईसवाँ पुष्प, २९-७-७१ ई.)

जब हम ज्ञान-विज्ञान के ऊँचे शिखर पर पहुँचकर अनुसन्धान करते हैं, तो विदित होता है कि जीवन और मृत्यु कोई पदार्थ नहीं।

केवल अज्ञानता का शब्दार्थ है। यह इसलिये कि यदि आत्मा को जीवित तथा शरीर को मृतक मान लें तो वैज्ञानिक और आध्यात्मिक दृष्टि से ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता।

आत्मा को जीवन परमात्मा से मिलता है। ज्ञानरूपी जो आनन्द है उसी का नाम जीवन है। वास्तव में जीवन नाम है ज्ञान का, विवेक का, दूसरों से प्रीति करने और परमात्मा की गोद में जाने का ।

मृत्यु वह है जो दूसरों को कष्ट देता है। द्वेष, काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ में फँसा हुआ व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त होता है। जो अभिमानी हो, जिसमें विवेक न हो, वह सदैव मृत्यु के आसन पर विश्राम करता है। जो दूसरो का भक्षण करते हैं, वे मृत्यु शैय्या पर विश्राम करते हैं।

जो दूसरों से प्रीति करते हैं और संसार, परमात्मा में निष्ठा रखते हैं, ज्ञान प्राप्त करते हैं, संसार में विवेकी पुरुषों में उसका प्रचार करते हैं, उनका जीवन धन्य है। परमात्मा जीवन की रश्मियाँ प्राणियों को सदैव देता रहता है। जो इस रश्मि को लेकर प्रकाश में चला जाये उसका जीवन है, जो उसे लेकर दुराचार करता है वह मृत्यु शैय्या पर है।

शरीर को त्यागना मृत्यु नहीं। जैसे मनुष्य धारण किये हुए वस्त्रों को त्याग देता है, ऐसे ही यह आत्मा शरीर रूपी वस्त्र को धारण करता है। अपने कर्मों के संस्कारों से उसे यह प्राप्त होता है। जब वह शरीर रहित होता है, तो वह परमात्मा की गोद में पहुँच जाता है।

उसे वास्तविक ज्ञान-विज्ञान और विवेक रूपी वस्त्र प्राप्त हो जाता है। उसके पश्चात् उसको इस वस्त्र की आवश्यकता नहीं रहती, उसका नाम जीवन है। (चौथा पुष्प, १-४-६४ ई.)

मानव की प्रतिष्ठा केवल मृत्यु में विराजमान है। मृत्यु की प्रतिष्ठा यम में, यम की प्रतिष्ठा ब्रह्म में है। इस प्रकार ब्रह्म ही संसार में सर्वत्र मृत्यु का स्रोत कहलाया जाता है। वेद विद्या पर विचार करने पर एक विद्या दूसरी में प्रतिष्ठित हुई दृष्टिपात आती है। योग पर विचार करने पर एक योग दूसरे में समाहित हुआ दृष्टिपात आने लगता है। लोक-लोकान्तरों पर विचार करने पर एक लोक दूसरे में प्रतिष्ठित हुआ दृष्टिपात आता है।

पुरुष माता के गर्भस्थल की अग्नि में समिधा बनकर प्रतिष्ठित होता है। एक-दूसरे में समाहित होने का नाम ही मृत्यु है। वास्तव में मृत्यु का अपना कोई अस्तित्त्व नहीं होता। संसार में कोई प्राणी कहीं नहीं जाता। प्रभु का एक चक्र है, जो गति कर रहा है, उसी में समाहित तथा उसी में उद्भव होता दृष्टिपात होता है।

मृत्यु के उद्गार से मानव के चिन्तित होने, हृदय में विडम्बना तथा भय के उत्पन्न हो जाने का कारण यह है कि इस संसार में जितने भी पदार्थ हैं, उनका मिलान होता है। मिलान होने से आकर्षण होता है। जब उनका विच्छेद होने लगता है तो विच्छेद से शोक उत्पन्न होता है। शोक की मात्रा एक-दूसरे तत्त्वों में उत्पन्न होने लगती हैं। वह शोक मानव के प्रत्येक परमाणु में गति उत्पन्न कर देता है।

इसी प्रकार मानव के मन का प्राणों से विच्छेद होता है। प्राणों

का आत्मा से विच्छेद होता है। परमाणुओं का विच्छेद इन इन्द्रियों से होता है। इन्द्रियों का इस शरीर से विच्छेद होता है तो इसमें एक शोकार्त भाव स्वाभाविक रूप में उत्पन्न हुआ करता है। क्योंकि यह प्रकृति का स्वभाव है कि परमात्मा या जीवात्मा के सन्निधान मात्र से स्वयम् उसमें एक महान् क्रिया उत्पन्न हो जाती है, इसका विच्छेद ही मृत्यु है।

महर्षि रेवक का उपदेश

महाराज ज्ञानश्रुति ने महर्षि रेवक से प्रश्न किया कि प्रभु ! आपका देवता कौन है ? महर्षि रेवक ने उत्तर दिया कि मेरा देव और ब्रह्म मृत्यु है, इसीलिये मैं मृत्यु को जानने के लिये सदैव तत्पर रहता हूँ।

ज्ञानश्रुति : मृत्यु के सम्बन्ध में हमें भी ज्ञान दीजिये।

रेवक : इस प्रजा में जो गति है उसका स्रोत एक चेतना है। उस चेतना का किसी काल में भी विनाश नहीं होता। इस चेतना को आत्मा भी कहते हैं। इसी चेतना के आधार पर मानव का जीवन सुगठित रहता है। इसी चेतना के कारण शरीर विकृत हो जाता है, छिन्न-भिन्न तथा पृथक्-पृथक् हो जाता है।

गर्भस्थल में रज और वीर्य की प्रधानता रहती है। जब दोनों का मिलान होकर शरीर की स्थापना होती है, तो सबसे प्रथम इनमें मन और प्राण प्रविष्ट हो जाते हैं। मन और प्राणों की प्रतिष्ठा हो जाने के कारण उसमें मन और आत्मा की आभा ओत-प्रोत हो जाती है। जीव के सन्निधान मात्र से माता के गर्भ स्थल में क्रिया आरम्भ हो जाती

है। सुन्दर मानव शरीर का निर्माण हो जाता है।

ब्रह्म का सन्निधान परमाणुओं में पहले से ही होता है। मन और प्राण के आ जाने के पश्चात् सर्वप्रथम ज्ञान-प्रयत्न आते हैं। परमाणुओं का पृथक्-पृथक् करना, प्रत्येक परमाणु का विभाजन करना, जहाँ का जो परमाणु है, वहाँ उसका मिलान करना; जैसे चक्षुओं के, श्रोत्रें के, घ्राण के, त्वचा के, उपस्थ के, ग्रीवा के, हृदय की घृति के परमाणु आदि का विभाजन एवम् वितरण करना आदि सब कार्य मन का है।

शरीर-रचना का क्रम

माता के गर्भ में रज और वीर्य के परमाणुओं का विभाजन मन के द्वारा होकर शरीर रचना होने लगती है। सबसे प्रथम मन और प्राण आते हैं। आत्मा इनके साथ आता है। इसके पश्चात् समय-समय पर ये पंचमहाभूत आ जाते हैं। इनके आ जाने पर उनके परमाणुओं को सुगठित कर दिया जाता है। उन्हीं परमाणुओं के मिलान से पिता, पुत्र, माता, पुत्री आदि बनते हैं। अर्थात् जिन परमाणुओं का मिलान हुआ है उनका हृदय से सम्बन्ध रहता है। इसलिये हृदय का ग्राही माता के पुत्र-पुत्री पिता के पुत्र-पुत्री होते हैं। आगे चलकर वही माता ममतामयी बन जाती है क्योंकि उसके हृदय का स्रोत बालक है। वह उसको पुकारता है कि हे माता ! तू मुझे छोड़कर कहाँ गयी ? मैं भी तो तेरे हृदय का अङ्कुर हूँ। तू मुझे अपने हृदय से पृथक् करके कहाँ जा रही है ? हे पिता ! तू कहाँ गया? इस प्रकार हृदय की रचना का प्रकार ममतामय होकर पुकारता है, हृदय को कम्पायमान कर देता है। ममता का स्रोत बन जाता है।

यह मानव संसार में आकर पनपता रहता है। आगे चलकर कोई वैज्ञानिक बनता है, कोई गृहस्थाश्रम में चला जाता है। कोई विद्यालयों आदि नाना क्षेत्रों में जाता हुआ नया संसार बना लेता है। इस संसार का सङ्कीर्ण जगत बन जाता है। जैसे यह माता है, यह पुत्र है आदि-आदि। इस प्रकार यह क्षेत्र बनता रहता है और पृथक होता रहता है। जैसे हम चित्रावलियों में चित्रों को देखते हैं, इसी प्रकार मानव के मनस्तत्व (मस्तिष्क) में नाना प्रकार के चित्र आते रहते हैं और पृथक् होते रहते हैं।

मानव इस संसार में भिन्न-भिन्न स्थानों पर भ्रमण करता है, तो मन और इन्द्रियों के समागम में बुद्धि का सन्निधान होकर इस संसार का चित्र ले लिया जाता है। मानव स्वप्न में उन स्थानों में भ्रमण करने लगते हैं, भोग-विलासों में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार यह जगत नवीन बनता चला जाता है। यह बड़ी विलक्षणता है। इस पर बुद्धि अनुसन्धान नहीं कर पाती है।

जब मृत्यु का काल आता है, यद्यपि मृत्यु कोई पदार्थ नहीं है, तो जिस प्रकार मन, प्राण तथा परमाणुओं का समागम होकर मिलान हुआ था उनके पृथक् होने का समय आ जाता है।

इस समय रूद्र उसके समीप होते हैं। उस समय वह जो परिवार और जगत बनाया था वे व्याकुल होने लगते हैं । परन्तु जाने वाला आत्मा किसी भी समय व्याकुल नहीं होता। इस विचित्रता को देखकर यही कहा जाता है कि उसका परिवार से स्नेह का जितना समय था वह समाप्त हो गया है। मानव का राष्ट्र से, परिवार से तथा

संसार से जो स्नेह था वह कहाँ चला गया ?

यह विचारणीय विषय है। मृत्यु देव के आने के समय सबसे प्रथम प्राणों का संङ्ग्रह तथा उनकी एकाग्रता होने लगती है। अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, देवदत्त, धनंजय, कृकल, कूर्म जो दस प्राण शरीर में कार्य कर रहे थे तथा परमाणुओं का उनसे सन्निधान होता था, उनकी एकाग्रता होने लगती है। उस समय मन भी इनके निकट आने लगता है। मन के आने पर बुद्धि भी निकट आ जाती है। जब चित्त, अहंकार भी निकट आने लगते हैं। इनके आने के पश्चात् इन्द्रियों की गति में एकाग्रता आने लगती है। ये भी उनके साथ आने लगते हैं।

मृत्यु किसको कहते हैं

जब ये सब एकत्रित हो जाते हैं, तो सबसे १. प्रथम इस शरीर से आत्मा जाता है। २. उसके पश्चात् मन और प्राण जाते हैं। ३. मन और प्राण के साथ ही नाना प्रकार की इन्द्रियों की गति चली जाती है। इसी को मृत्यु कहते हैं। वास्तव में ये सब वायु में रमण करने लगते हैं।

इस शरीर को अग्नि में प्रवेश कर देने पर जल के परमाणु जल में, अग्नि के अग्नि में, पृथ्वी के पृथ्वी में चले जाते हैं। इनका विनाश नहीं होता इनका सम्बन्ध द्यु-लोक से होता है।

हमारे शरीर में नौ द्वार हैं, इनको जान लेना चाहिये। वास्तव में मृत्यु नाम का कोई पदार्थ नहीं रहता। अपना-अपना कर्म होता है, उसी के भोग होते हैं। जिस द्वार से आत्मा का परिवार जाता है,

वैसा ही आगे यह परिवार बनाने लगता है। वैसे ही परिवार में उसका जन्म हो जाता है।

माता की ममता तभी तक रहती है जब तक इन तत्त्वों के परमाणुओं का मिलान रहता है। जब ये तत्त्व अपने-अपने स्थान को चल देते हैं तो मोह-ममता भी समाप्त होने लगती है। कुछ-कुछ मोह-ममता चित्त में विराजमान हो जाती है। उनके अङ्कुर चित्त में बहुत विशाल होते हैं। ये अङ्कुर समय समय पर इसी प्रकार उद्बुद्ध होते रहते हैं। जैसे पृथ्वी में विराजमान अङ्कुर अपने समय पर ही उपजते हैं। इस पर आवरण भी आ जाता है।

जैसे अग्नि मे तपने के पश्चात् अङ्कुर नष्ट हो जाते हैं, इसी प्रकार तपने पर ये अङ्कुर भी समाप्त हो जाते हैं।

यह ब्रह्म का इतना विशाल जगत ब्रह्म में ही समाहित हो जाता है। यह ब्रह्म ही मानव की मृत्यु है, इसीलिये ब्रह्मचारी मृत्यु को विजय कर लेता है। जो ब्रह्म को अपने में समाहित कर लेता है उसकी मृत्यु नहीं होती।

मृत्यु का जन्म केवल अज्ञान से है। जब अज्ञान नहीं रहता तो मृत्यु शब्द भी मानव के समीप नहीं रहता। अज्ञान में ही मृत्यु का भय रहता है इसीलिये ब्रह्म को मृत्यु कहा गया है। हमें ब्रह्म को जानना चाहिये, हममें ज्ञान और विवेक होना चाहिये, इसी के लिये राजा राष्ट्र को त्याग देते हैं। वानप्रस्थ व संन्यास इसीलिये हैं कि अज्ञान को नष्ट करें । हमें इस संसार को व समाज को अपना कुटुम्ब बना लेना चाहिये, इससे मृत्यु नहीं होती। वह सर्वत्र ब्रह्म को ही

देखता है। (सत्रहवाँ पुष्प, ९-६-७१ ई.)

मृत्यु शब्द अज्ञानमय है। इसीलिये ऋषि कहते हैं कि अज्ञान से मानव को दूर रहना चाहिये। जब तक मानव की बुद्धि प्रखर रहती है तथा बुद्धि में कुशलता रहती है, तब मानव में अज्ञान कदापि नहीं व्यापता।

ज्ञान वह पदार्थ है जिससे मानव मृत्यु से उपराम होने का प्रयास करता रहे अथवा अनुसन्धान करता रहे। उसे यह ज्ञान हो कि मृत्यु क्या है ?

हमें संसार में मृत्यु, से भयभीत नहीं होना चाहिये। जो मृत्यु से भयभीत होता है, वह मननशील नहीं होता। संसार में मानव को ममता-मोह नहीं करना चाहिये। यह ऐसी विशाल सीमा बन जाती है जो नष्ट नहीं हो पाती। संसार से उपराम होने का प्रयास करें। यही मृत्यु पर विजय पाना है।

एक मानव के हृदय की गति से यह चेतना चली जाती है। इसके जाने पर संसार व्याकुल होता है। उसके व्याकुल होने का कारण यह है कि वह यथार्थ को नहीं जानता। वेद कहता है कि संसार में मृत्यु का कोई अस्तित्त्व नहीं। शरीर को त्यागना तो मानव का स्वभाव है तथा मानव की प्रक्रिया है। इच्छा न होने पर भी उसका विच्छेद हो जाता है।

मृत्यु का मूल रहस्य यह है कि प्रकृति के परमाणुओं के छिन्न-भिन्न हो जाने पर इस स्थूल (शरीर) का रूपान्तर हो गया। रूपान्तर होने पर उसमें एक महत्ता की ज्योति जागरूक हो गयी। मृत्यु कहते

हैं अज्ञान को, मोह को, ममता को। माता के गर्भस्थल से हमने जन्म लिया, वह जननी है, उसके साथ चेतना कटिबद्ध कर देती है, जो ध्रुव है, निश्चित है। उस चेतना में रमण करने वाली मन की प्रक्रिया श्वास मानी जाती है। उस प्रक्रिया के कारण मृत्यु के आसन का अस्तित्व ग्रहण करने पर वास्तव में प्यार हो ही जाता है। जिस वस्तु से; जिस वस्तु का निर्माण होता है, उससे प्रायः मानव को भयभीत होना ही होता है।

मृतक के सम्बन्धी-जनों के हृदयों में ज्ञान और आत्मिक शान्ति का प्रवाह होना चाहिये। बिना ज्ञान के हम मृत्यु को नहीं जान सकते। बिना ज्ञान के हम तपस्वी भी नहीं बन सकते।

मानव माता के गर्भ से एकाकी ही आता है। यहाँ आकर उसका कुटुम्ब बन गया। नन्हीं वाटिका बन गयी। संसार का बाल रूप धारण करने पर दुःखद तथा सुखद दोनों ही प्रकार के कारण आयेंगे। आत्मा का जैसा संस्कार तथा कर्म था वह अपने आँगन में रमण कर गया। मानव को उसका शोक नहीं करना चाहिये। मृत्यु के भय से रक्षा के लिये ब्रह्मज्ञान की आवश्यकता है।

ब्रह्म, आत्मा तथा प्रकृति को जान कर तथा उसके स्वरूप को पहचान कर अपने में धारण करना है, अतिमानव बनना है, अतिमानव एक-दूसरे से सुगठित रहता है।

मृत्यु के भय से मानव कर्त्तव्य की अवहेलना कर सकता है। उसे अवहेलना नहीं करनी चाहिये क्योंकि इसी से उसकी कर्मठता बनेगी। मृत्यु का भय हो क्यों ? वह तो आनी ही है। मृत्यु किसी के समय

को दृष्टि में नहीं रखती। वह तो मृत्यु है, अज्ञान है। न जाने कब इस अज्ञानता के कारण इसका विच्छेद हो जाये। मृत्यु का शोक तो उस काल में करना चाहिये जब आत्मा की सम्पत्ति समाप्त हो जाये। आत्मा की सम्पत्ति है मानव का तप तथा उसकी आत्मिकता। उसमें धैर्य होना चाहिये तथा उसमें वेद की धारा होनी चाहिये। (नौवाँ पुष्प, ८-३-७२ ई.)

हमें अपने जीवन में अनुसन्धानवेत्ता तथा जीवन ग्राही बनना चाहिये, मृत्यु-ग्राही नहीं। मृत्यु मानव को अधोगति को ले जाता है। शरीर त्यागने का नाम ही मृत्यु नहीं। अपने कर्त्तव्यों को पालन न करने का नाम मृत्यु है। (इक्कीसवाँ पुष्प, २९-३-७० ई.)

यदि कोई मानव मृत्यु को प्राप्त करना चाहता है तो वह अपने विचारों को सङ्कीर्ण बना ले, वह मृत्यु को प्राप्त हो जायेगा। मृत्यु उसको कहते हैं जो मानव कायरपन का जीवन व्यतीत करता है। वह चाहे राजा हो या अन्य मानव। यदि उसका आत्मा धिक्कारता है, तो वह मानव मृत्यु के मुख में विराजमान रहता है। (इक्कीसवाँ पुष्प, २९-३-७९ ई.)

प्रश्न : ब्राह्मण की मृत्यु क्या है ?

उत्तर : अशुद्ध भोजन।

प्रश्न : अशुद्ध भोजन क्या है ?

उत्तर : रजोगुण, तमोगुण से सना हुआ अशुद्ध भोजन है।

प्रश्न : वह क्या है ?

उत्तर : रजोगुण, तमोगुण से मिश्रित भोजन करने से राष्ट्र में

मन, वचन, कर्म और हृदय एक रस नहीं हो पाते। इन्द्रियों और प्राणी का 'ओ३म्' के द्वारा मन्थन नहीं हो सकता। मन्थन न होने से फेन नहीं बनता। फलस्वरूप वासना रूपी दैत्य को समाप्त नहीं किया जा सकता है। (उन्नीसवाँ पुष्प, ८-३-७२ ई.)

संसार में जीवन की धाराएँ होती हैं। उन विचारधाराओं के विचार-विनियम करने का नाम ही जीवन माना गया है। प्राणी मात्र के लिये मानव को कागा-प्रकृति को त्याग देना चाहिये। सात्विक प्रकृति को ला करके अपने मानव जीवन को सात्विकता में परिणत कर देना चाहिये। (बाईसवाँ पुष्प, प्रथम-प्रवचन)

मृत्युञ्जय

जो प्राणों को जानता है, जो प्राणों की विशेषता को जानता है, अपने शरीर के अंगां में प्राणों को लाना जानता है, बाह्य-जगत और आन्तरिक जगत को जानता है, उस ब्रह्मचारी को मृत्यु विजय नहीं कर सकती क्योंकि शरीर से प्राण ही तो जाता है। प्राण ही तो पालने वाला है। प्राण ही है जो माता को पुत्र के वियोग में विकल बना रहा है। एक मानव दुखी हो रहा है।

जो प्राण के स्वरूप को जानता है अर्थात् प्राण को अपान में, अपान को व्यान में, व्यान को समान में, समान को नाग और कृकल में, नाग और कृकल को देवदत्त और धनंजय में जानता है, यह जो प्राणों का एक-दूसरे में समन्वय करने वाला जो ज्ञान-विज्ञान है, यह उदान के समीप जाता है। उदान यह कहता है, माता से पुत्र कहता है कि माता ! अब मैं अपने लोक को जा रहा हूँ।

चित्त, आत्मा और उदान तीनों मिलकर जब इस शरीर को त्यागते हैं तो उस माता को रुलाने वाला कोई नहीं होता, माता का अज्ञान रुलाता है। जिसको प्राण का ज्ञान नहीं, उसको आत्मा का ज्ञान नहीं होता। वह तो माता विरही बनकर सन्ताप करती है, रुदन करती है। पिता उसी के लिये रुदन करता है।

जो प्राणों को एक-दूसरे प्राण में समावेश करना जानता है, ज्ञान का प्रकाश हो रहा है, मन इसमें भ्रमण करता दृष्टिपात हो रहा है तो उस मानव की, उस समाज की मृत्यु नहीं होती। वह मृत्यु से पार हो जाता है।

वेद कहता है 'ब्रह्म-चरिष्यामि'। हे ब्रह्मचारी ! तू मृत्यु को विजय कर लेता है।१ मृत्यु को विजय वे करते हैं जो प्राणों को जानते हैं, जो प्राणों को एक-दूसरे में मिलान करना जानता है, वह मानव ब्रह्मचारी कहलाता है। उसके ब्रह्मचर्य की गति ध्रुवा (नीची) के स्थान पर ऊर्ध्व बन जाती है, ब्रह्मरन्ध्र में चली जाती है, ब्रह्म से उसका मिलान हो जाता है।

जब चेतना ही चेतना दृष्टिपात होती है तो शरीर को यह जानता है यह तो परमाणुवाद का शरीर है। यह परमाणुवाद एक समय पृथक्-पृथक् हो जायेगा। तो न उनके वियोग का उसे शोक होता है, न उनके संगगठन की विशेषता प्रतीत होती है। जब उसके बिछुड़ने का कोई सन्ताप नहीं होगा, रूदन नहीं होगा, विरह ही न बनेगा तो उसके आने की भी कोई प्रसन्नता नहीं होगी। इसी का नाम जीवन है।

उस मानव की मृत्यु नहीं होती और न वह माता रुदन करती है। उसे यह ज्ञान होता है कि मेरा पुत्र क्या है ? यह तो परमाणुओं का मिलान हुआ। विश्वकर्मा ने इसका निर्माण किया है।

प्राण विभक्त हो गये हैं जो विश्वभान बनकर रहते थे। मन इसमें कार्य कर रहा है। इस प्रकार का ज्ञान-विज्ञान मानव के हृदय-मस्तिष्क में समाहित हो जाता है। तो मानव अपने मन को ध्रुव (नीचा) नहीं बनाता। वह प्रकाश में ले जाता है। जहाँ प्रकाश में ले जाता है वहाँ अन्धकार नहीं होता, अज्ञान नहीं होता। जहाँ अज्ञान, अन्धकार नहीं होता, वहाँ मृत्यु का भय नहीं होता। मृत्यु उससे दूर हो जाती है, विरह समाप्त हो जाता है। (इक्कीसवाँ पुष्प, ४-५-७६ ई.)

हम मृत्युञ्जय तभी बन सकते हैं जब हमारे अन्दर ज्ञान-विवेक और महत्ता होगी। (दसवाँ पुष्प, ७-११-६८ ई.)

मृत्यु तो अज्ञान को कहते हैं जब अज्ञान नहीं होगा, जब मानव विज्ञान से परिपूर्ण बन करके प्रसारण, व्यापकवाद, ऊर्ध्व में गति करता है और आकुञ्चन विचारधाराओं के सूक्ष्म तत्त्वों को जान लेता है अथवा जो अपने में सुगठित कर लेता है याज्ञिक बनना, ध्रुवा बनना, ऊर्ध्व में जाना, आकुञ्चन करना, इसके पश्चात् गति करना, जो इस विज्ञान को जान लेता है, उसकी मृत्यु नहीं होती।

एक-एक श्वास के साथ अग्नि तत्त्व भ्रमण कर रहा है, अमृत बह रहा है। जो इस विद्या को जानता है, उसका ब्रह्मचर्य सुरक्षित रहता है, उसे कोई शस्त्र से भी छेदन नहीं कर सकता।

जब मानव नेत्रों से प्रभु की महिमा को दृष्टिपात करता है, श्रोत्रों

से अशुद्ध वाक्य श्रवण न करके सदैव महान् दर्शनों के शब्दों को, विज्ञान के शब्दों को श्रवण करता है, घ्राण से सदैव सुगन्धि ही सुगन्धि लेता है, वाणी से सदैव सत्य ही उच्चारण करता है, इस प्रकार सत्य ही दृष्टिपात करना, सत्य ही का श्वास लेना, सत्य ही श्रवण करना, सत्य ही उच्चारण करना, सत्य को ही स्पर्श करना, इस प्रकार से जब सत्य ही सत्य जीवन में आ जाता है, तो सत्य में ईश्वर है, सत्य में ही वज्र बनना है।

जब प्रत्येक इन्द्रिय में सत्य ही सत्य आ जाता है, ब्रह्मचर्य किसी भी इन्द्रिय में समाप्त नहीं होता तो उस मानव के जीवन में अमृत का भरण हो जायेगा।

वह चन्द्रमा से ही अमृत नहीं लेता, नाना लोक-लोकान्तरों से भी अमृत लेता रहता है। यह विद्या बिना तप और अनुभव के नहीं आती। इस विद्या में व्यक्ति जीवन मुक्त बन जाता है। वह अन्तरिक्ष के परमाणुओं को जानता हुआ उन परमाणुओं को एकत्रित करके उन चित्रों में प्रवेश कर जाता है, जो चित्र उसके अन्तरिक्ष में गति कर रहे हैं।

उन चित्रों को ले करके वह किसी मृतक प्राणी के शरीरों में प्रवेश करके उससे वह जीवित बन जाता है। इसी प्रकार वह शरीरों को प्राप्त होता रहता है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों को जानकर वह मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। (सत्ताईसवाँ पुष्प, ३-३-७६ ई.)

जब हम प्रभु की महत्ता पर विचार-विनियम करने लगते हैं, उसके आनन्दमय और विज्ञानमय जगत पर विचारते हैं, तो हमारा

हृदय आनन्द युक्त हो जाता है। हम अपने में उस परम ज्योति को भरण करने लगते हैं। जब वह ज्योति हम में भर जाती है, तो हमारे जीवन में अन्धकार नहीं आता। क्योंकि परमात्मा के राष्ट्र में रात्रि नहीं होती, सदैव प्रकाश रहता है।

परमात्मा सम्वत्सरों (वर्षों) का स्वामी है इसलिये उसके राष्ट्र में सम्वत्सर भी नहीं होते।

अज्ञान, संकीर्णवाद तथा पापाचार रात्रि है

प्रश्न है कि जब परमात्मा के राष्ट्र में रात्रि ही नहीं तो हम रात्रि का अनुसरण ही क्यों करें ?

इसका समाधान यह है कि यहाँ रात्रि से अभिप्राय सूर्यास्त होने के कारण आने वाली रात्रि से नहीं है। बल्कि उससे है, जब मानव के जीवन में अज्ञान व्याप्त हो जाता है तथा संकीर्णवाद और पापाचार आ जाते हैं। इस अन्धकार से हम तभी दूर हो सकते हैं जब हमारा प्रकाश से मिलान हो जाये। अर्थात् हम दूसरों की त्रुटियों को देखना छोड़ दें।

इसी प्रकाश को प्राप्त करने के लिये मानव का बार-बार जन्म होता है। जिस प्रकार विद्युत् अपने परमाणुओं द्वारा प्रकाश देती है, उसी प्रकार के अनेकों जीवाणु तथा योनियाँ इस प्रकार की भी हैं, जो उस ज्योति को प्राप्त करने के लिये अपने प्राणों को इस भौतिक अग्नि में नष्ट कर देते हैं।

अनेकों योनियाँ सदैव अन्धकार में रहती हैं। आत्मा अपने कर्मों से उस अन्धकार में चला जाता है। इसीलिये हमें अपने को उस

ज्योति से दूर नहीं करना चाहिये। उस परमपिता परमात्मा की ज्योति को जानने के लिये हमारा जन्म हुआ है। (बारहवाँ पुष्प, ३-८-७१ ई.)

वास्तविक सौन्दर्य

मानव की सुन्दरता यह है कि हमारा मन, हमारा श्वास-प्रश्वास ओ३म् के नाम से बिधा हुआ हो। इन प्राणों की डोरी बनायी जाये और 'ओ३म्' के मनके बनाये जाये; यह मन उन मनकों में सजा हुआ हो और उनमें लय हो। उस समय तुम्हारा कण्ठ, तुम्हारा सौन्दर्य, तुम्हारा तेज, तुम्हारा ब्रह्मचर्य उस मन को प्राप्त करके आत्मा को प्राप्त हो जायेगा और परमात्मा को प्राप्त हो जायेगा। वही मानव का वास्तविक सौन्दर्य है। (सातवाँ पुष्प, १२-७-६२ ई.)

परमात्मा ने आत्मा को ज्ञान दिया, उसी से वह उच्च बनता है। अतः परमात्मा की विद्या का सदुपयोग करके, वेद के अनुकूल कार्य करके हमारा जीवन सूर्य के समान तेजोमय हो जाता है। (तीसरा पुष्प, ७-४-६२ ई.)

निष्काम कर्म

तुम्हें प्रतीत हो गया होगा, द्वापर के काल में महाराजा अर्जुन ने कहा था कृष्णा से कि महाराज हम क्या करें? तो भगवान कृष्णा ने कहा था, हे अर्जुन! कर्म करता चला जा परन्तु उनके फलों की इच्छा न कर। फल की इच्छा करने ही से उस मानव की आभा समाप्त हो जाती है। मानवत्व समाप्त हो जाता है। वेद के ऋषियों ने यह कहा कि मानव को जितना भी कर्म करना है वह निष्काम कर्म

होना चाहिये। निष्काम की मीमांसा करने वाले ऋषियों ने बहुत ऊँची-ऊँची उड़ाने उड़ी हैं। जैसे माता अपने शिशु का पालन कर रही है, मानों उसका पालन कर सकती है उसको मृत्यु नहीं दे सकती। क्योंकि पालन करना तो उसका कर्त्तव्य है, निष्काम कर्म है और मृत्यु दण्ड इसलिये नहीं दें सकती है क्योंकि उसका निर्मित किया हुआ नहीं है क्योंकि उसका निर्मित किया हुआ नहीं है। जिस व्यक्ति को जो मानव निर्माण नहीं करता है उस व्यक्ति को वह नष्ट नहीं कर सकता है और न वह नष्ट होने के लिये उपयुक्त है। वह परमपिता परमात्मा उसके भविष्य को निर्धारित कर देता है, उसमें कर्मठता आ जाती है कि निष्काम कर्म योग ही परमात्मा के राष्ट्र में रमण करना है।

एक मानव अपनी आभा में गति कर रहा है अथवा राष्ट्र का पालन कर रहा है, वह राष्ट्र को कैसे ऊँचा बनाना चाहता है। राष्ट्र में विद्यमान है, यदि वह निष्काम कर्म में संलग्न है वह राष्ट्रीयत्व को ऊँचा ले जाता है और उसमें निष्काम कर्मठता है, तो वह महान् है और जब उसमें प्रजा के वैभव और प्रजा के ऐश्वर्य को अपने ऐश्वर्य में परिणत करने लगता है, वह राजा ज्ञान से शून्य हो जाता है, और जब ज्ञान और विज्ञान से शून्य हो जाता है, तो उसके जीवन में प्रकाश नहीं रहता, और जब प्रकाश नहीं रहता तो वह राष्ट्र में प्रजा को ऊँचा मार्ग नहीं दे सकता। इसलिये उसे ऊर्ध्व मार्ग देना है और वह जो मार्ग है वह उसी काल में देता है जब वह निष्काम अपना कार्य करता है। निष्काम कर्म से प्रजा का पालन कर रहा है,

नियमावलियों को निर्धारित कर रहा है, प्रजा के वैभव को सङ्ग्रह करने वाला नहीं है, तो वह राजा अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहा है और वह राजा ही नहीं देवता कहलाता है। जब हम इस पर गम्भीरता से चिन्तन करना प्रारम्भ करते हैं तो विचार आता है कि यहाँ प्रत्येक मानव को अपना निष्काम कर्म करना है। (बत्तीसवाँ पुष्प, ६-४-७८ ई.)

९ नवम अध्याय-शरीर त्यागने के पश्चात् आत्मा की गति

जब यह आत्मा शरीर को त्यागने के पश्चात् अन्तरिक्ष में जाता है, सर्वप्रथम (१) सोन्तति नाम की वायु में रमण करता है, इसके पश्चात् (२) किरणाति तत्पश्चात् (३) सोमभाम नाम की वायु में रमण करता है। ये तीनों शाखाएँ इन्द्र नाम की वायु की हैं।

इसके उपर का स्थान यम नाम की वायु का है। इनकी भी तीन शाखाएँ हैं। १-सुभय, २-रेधि तथा ३-घिरन्तति। यह आत्मा इनमें भी रमण करता है।

इस रमण करने का अभिप्राय यह है कि आत्मा को दूसरा शरीर ग्रहण करना है। इन छः प्रकार की वायुओं में रमण करने के पश्चात् उसकी पिछले शरीर की, परिवार आदि की सभी स्मृति समाप्त हो जाती है। इसके पश्चात् जैसे कर्म होते हैं, उनके अनुकूल अन्तःकरण होता है। कर्म अन्तःकरण में बीज रूप में रहते हैं और उनके संस्कारों से अगला जन्म प्राप्त होता है। (पाँचवाँ पुष्प, १९-१०-६४ ई.)

यम नाम की वायु में आत्मा और वायु का मन्थन होता है। इसके पश्चात् यदि आत्मा के सात्विक गुण अधिक हैं, तो सोन्तति वायु में चला जाता है। वहाँ पर इसकी गति विशाल बन जाती है। यदि आत्मा के साथ देववत् कर्म हैं तो देवताओं में जिनको पितर कहते हैं, रमण करने लगता है। जितने उसके देववत् कर्म होते हैं उनके अनुसार उन आत्माओं में रमण करता हुआ पुनः संसार में, आवागमन में आ जाता है। (चौदहवाँ पुष्प, २-११-७० ई.)

शरीर त्यागते समय अगली योनि का निश्चय करना

इस शरीर के नौद्वार हैं। दो चक्षु, दो घ्राण, दो श्रोत्र, एक मुख, उपस्थ और गुदा। दसवाँ द्वार योगी का होता है, जिसे ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं।

जिसका आत्मा उपस्थ और गुदा इन्द्रियों से जाता है वे मल-मूत्र के कीड़े बनते हैं और उनमें ही क्रीड़ा करते हैं।

जिनका आत्मा मुख से जाता है, वे विषैले कीड़े जैसे सर्प आदि बनते हैं।

जिनका आत्मा घ्राण से जाता है वे अगले जन्म में मनुष्य बनते हैं। घ्राण में दो स्वर होते हैं, १-एक चन्द्र स्वर, २-दूसरा सूर्य स्वर। १-जिनका आत्मा चन्द्र स्वर से जाता है वे तमोगुणी पुरुष बनते है। २-जिनका आत्मा सूर्य स्वर से जाता है वे सतोगुणी या ऊँचे कर्म करते हैं, या सतोगुणी तथा रजोगुणी दोनों प्रकार के कर्म करते हैं।

जिनका आत्मा श्रोत्रें से जाता है वे अन्तरिक्ष में विचरने वाले प्राणी बनते हैं।

जिसका आत्मा चक्षुओं से जाता है वे जलचर प्राणी बनते हैं।

जिनका आत्मा ब्रह्मरन्ध्र से जाता है वे सतोगुणी, सतोयुग के वासी कहलाते हैं। उनका आत्मा विमुक्त आत्माओं, जो मोक्ष के निकट जाने वाली आत्माएँ हैं, में रमण किया करता है। वह यदि इस संसार में जन्म लेता है तो किसी प्रकार के उत्थान के लिये ही लेता है। यह सिद्धान्त माता गार्गी जी का है। (दूसरा पुष्प, २७-९-६४ ई.)

इस शरीर के जिस द्वार से यह आत्मा का परिवार जाता है, वैसे ही लोकों में यह रमण करने लगता है।

विभिन्न द्वारों से जाने वाला आत्मा विभिन्न योनियों को प्राप्त करता है

यदि नेत्रों से जाता है तो मनुष्य लोको को प्राप्त होता है।

जो मुख से जाता है वह आश्वानि लोकों को प्राप्त होता है।

जो ब्रह्मरन्ध्र से जाता है वह देवलोकों को प्राप्त होता है।

इडा, पिंगला और सुषम्ना नाम की नाड़ियों का सम्बन्ध हृदय से है। हृदय से ब्रह्मरन्ध्र को जाने वाली पुरीतत नाम की नाड़ी द्वारा इनका सम्बन्ध हृदय से होता है। जब उससे यह आत्मा जाता है तो द्यु-लोक को, देवताओं के लोक को प्राप्त होता है। वह मोक्ष वाली आत्माओं को प्राप्त होने वाला आत्मा होता है।

उपस्थ से जाने वाला आत्मा कीट-पतंगों की योनि को प्राप्त होता है।

घ्राण से जाने वाला आत्मा गन्ध में जाने वाला जीव बनता हैं।

मुख से निकल कर मनुष्य लोको को प्राप्त होने वाला आत्मा सोमकेतु तथा इन्द्र नाम की वायु में तेरह दिन रमण करने के पश्चात् किसी माता के गर्भ में चला जाता है।

नेत्रों से जाने वाला आत्मा इन्द्र नाम की वायु में तीनों प्रकार की वायु में रमण करता हुआ, यम लोकों तथा कुवृत्ति लोकों को प्राप्त होता हुआ ऐसे शरीर में प्रविष्ट हो जाता है, जो योनियाँ गृह परिवार में अपने जीवन को आनन्दपूर्वक भोगती है तथा ऐश्वर्य को भोगती हैं

परन्तु इनका अपना कोई अस्तित्व नहीं होता, इनमें ज्ञान और विवेक नहीं होता। वह अपना स्वकीय कर्म नहीं करता, वह अपने भोगों में परिणत रहने वाला होता है।

नेत्रों में (१) सूर्य नेत्र है, (२) एक चन्द्र नेत्र है या (१) एक भारद्वाज नेत्र है। (२) दूसरा विश्वामित्र नेत्र है। इन दोनों में मित्रता होती है।

१-सूर्य नेत्र में ३६ प्रकार की नाड़ियाँ होती हैं। इनमें एक 'सुमने' नाम की नाड़ी होती है जिसका सम्बन्ध ब्रह्मरन्ध से होता है। उसकी अनेक शाखाएँ होती है।

जो आत्मा सूर्य नेत्र से जाता है, वह सूर्य लोकों को प्राप्त हो जाता है। विभिन्न प्रकार की नाड़ियों के द्वारा जाने से भी भिन्न-भिन्न प्रकार के भेदन होते हैं।

चन्द्र नेत्र में भी ३६ प्रकार की नाड़ियाँ होती हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार की नाड़ियों से जब यह आत्मा जाता है तो उसकी भिन्न-भिन्न प्रकार की गति होती है। गति होने के पश्चात् वायुमण्डल में रमण करती हुई कोई द्यु-लोक को प्राप्त होती है, कोई बृहस्पति लोक को, कोई चन्द्र लोक को।

घ्राण में भी सूर्य-स्वर और चन्द्र-स्वर होते हैं।

सूर्य-स्वर से जाने वाला आत्मा द्यु-लोक को प्राप्त होता है। चन्द्र-स्वर से जाने पर निम्न प्रकार की योनियों में जाते हैं।

घ्राण के द्वारा भी ३६ प्रकार के भेदन होते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय की ८४-८४ शाखाएँ होती हैं। इसीलिये चौरासी लाख

योनियों का निर्माण हो जाता है।

ब्रह्मरन्ध्र में ९९ प्रकार की नाड़ियों की शाखा होती है, उनकी नाना प्रकार की धाराएँ होती हैं। कोई धारा ऐसी है जिसके द्वारा सीधा स्वर्ग प्राप्त होता है। कुछ के द्वारा जाने पर गन्धर्व-लोक को प्राप्त होता है। कोई इन्द्र लोक, कोई प्रजापति के राष्ट्र में रमण करने लगते हैं। कुछ द्यु-लोक को जाते हैं एक 'प्राप्त' नाम की नाड़ी होती है जब इडा, पिंगला, सुषुम्णा का मिलान होता है और आत्मा इस द्वार से जाता है तो वह मोक्ष को प्राप्त होता है।

वाणी में २६ प्रकार की धाराएँ होती हैं। जब यह आत्मा शब्द के द्वारा जाता है तो वह द्यु-लोको में रमण करने वाले आत्माओं के साथ विराजमान हो जाता है। (सत्रहवाँ पुष्प, ९-६-७१ ई.)

महर्षि व्यास मुनि महाराज ने महर्षि पारा मुनि जी महाराज से पूछा कि यह आत्मा जब शरीर से निकलता है तो किस-किस दशा में कहाँ-कहाँ जाता है, कौन से कर्म करने से देवता बनता है, देवता कौन है ?

देवयान प्राप्ति का मार्ग

महर्षि पारा मुनि जी महाराज ने उत्तर दिया कि संसार में जब यह आत्मा शरीर में जाकर पवित्र बनने का प्रयत्न करता है, अपने जीवन को तपस्वी और यज्ञमय बनाता है, परमात्मा की महिमा का गुणगान करता हुआ जिज्ञासु बनता है और कर्म करता है तो वह देवयान में रमण करता है जहाँ देवात्माएँ रमण करती हैं।

इसके विपरीत जो तुच्छ कर्म और पापाचार करते हैं उन्हें

अश्वस्थी वायु रमण करके स्वतः ही माता के गर्भ में जाने की आवश्यकता रहती है। उन्हें देवयान में जाने का अवसर नहीं मिलता। उनके अन्तः करण में पाप एकत्रित हो जाने के कारण उन्हें माता के गर्भस्थल में फिर से स्थापित हो जाना पड़ता है, वह निम्न योनियों में जन्म ग्रहण भी करता है। (चौथा पुष्प, २८-७-६३ ई.)

अश्विनी कुमारों ने महर्षि शाण्डिल्य जी महाराज से पूछा कि प्रभु! यह आत्मा शरीर को त्यागकर कहाँ जाता है ?

महर्षि शाण्डिल्य ने कहा कि आत्मा इस शरीर को त्यागकर यम को प्राप्त हो जाता है। यम वायु को कहते हैं, इसकी तीन प्रकार की श्रेणियाँ होती हैं, १-सतोगुणी, २-रजोगुगी, ३-तमोगुणी।

यदि मानव रजोगुण में इस शरीर को त्यागता है, तो रजोगुणी यम को प्राप्त होता है। यदि आत्मा तमोगुण में शरीर को त्यागता है तो तमोगुणी और यदि सतोगुण में त्यागता है तो सतोगुणी को प्राप्त होता है। जो देवत्व को अपना लेता है, वह देवत्व को प्राप्त होता है।

यम से ऊपर का भाग देववृत्त कहा जाता है। वहाँ देवताओं की, देवाय नाम की वायु में रमण करने वाली है, वह इसको अपना लेती है।

चक्षुओं में एक विश्वामित्र है, एक भरोणिति (भारद्वाज) है। चक्षुओं के सूर्य भाग के द्वारा से जब यह आत्मा शरीर को त्यागता है तो वह आत्मा सूर्य लोक को प्राप्त हो जाता है।

जो आत्मा चन्द्रायण चक्षु से शरीर को त्यागता है तो वह चन्द्रमा को प्राप्त होता है।

श्रोत्रों में एक भारद्वाज है, एक कश्यप है।

यदि भारद्वाज से शरीर को त्यागता है तो उसकी रजोगुणी प्रवृत्ति होती है और वह प्रधान लोकों को प्राप्त होता है।

जो कश्यप द्वार से त्यागता है, तो वह आरुणी लोकों को प्राप्त होता है।

यदि यह आत्मा शरीर को मुखारविन्द से त्यागता है तो उसमें अग्नि का प्रभाव तेजस्वी होता हुआ रजोगुण को प्राप्त होता है। वह राष्ट्रीय पुरुष बन जाता है, मानव बन जाता है।

घ्राण का एक सूर्य स्वर तथा द्वितीय चन्द्र स्वर कहलाया जाता है।

जो आत्मा सूर्य स्वर से जाता है, वह प्राण की विशेषता को लेता हुआ ऊँचे कुलों में जन्म लेकर साधना में परिणत हो जाता है, वह सतोगुणी होता है।

जो चन्द्र स्वर से त्यागता है उसका आत्मा सतोगुण और तमोगुण दोनों से मिश्रित होते हुये अपने कर्त्तव्यों में इतना परिणत नहीं होता। वह कर्म तो शुद्ध-पवित्र कर सकता है परन्तु उस पर मानव का विश्वास अधिक नहीं हो पाता।

जो उपस्थ इन्द्रियों से शरीर को त्यागता है वह आत्मा इस संसार में उन यौनियों को प्राप्त होता है, जो मरने और जीने पर लगी रहती हैं। आज जीवन है, कल मृत्यु है।

जो गुदा के द्वार से त्यागता है वह आत्मा इस संसार में नारकिक लोकों को प्राप्त हो जाता है। उसे नारकिक योनियाँ प्राप्त हो

जाती हैं। नारकिक योनियाँ वे होती है जहाँ उसे अन्धकार ही अन्धकार प्राप्त होता है, प्रकाश का एक अङ्कुर भी प्राप्त नहीं होता।

जिसका आत्मा ब्रह्मरन्ध्र के द्वारा जाता है, सुषुम्णा और पिंगला के द्वारा जाता है वह आत्मा देवलोक को प्राप्त हो जाता है। वह देवताओं के समाज में चला जाता है। देवता कौन होते हैं ? जो देववत होते हैं, जो देते हैं। क्या देते हैं ? जो इनका पुरुषार्थ होता है, परिश्रम होता है, उसे देते हैं।

चक्षुओं में सूर्य प्रधान है, जिसको अग्नि कहते हैं। घ्राण में प्राण प्रधान है, मुखारविन्द में अग्नि प्रधान है, श्रोत्रों में आकाश प्रधान है, उपस्थ और गुदा के द्वारा पार्थिव और नारकिकता दोनों की प्रधानता मानी गयी है। जिस द्वार से जो आत्मा जाता है, उन्हीं प्रवृत्तियों को वह प्राप्त होता रहता है।

जब यह आत्मा शरीर को त्यागता है तो सर्व प्रथम वह वायुमण्डल में रमण करता है। वायुमण्डल में पाँच प्रकार की श्रेणियाँ होती हैं

१. एक वह जिसमें पार्थिव तत्त्व अधिक रमण करते हैं।

२. दूसरे वह जिसमें जल के परमाणु अधिक रमण करते हैं।

३. तृतीय में अग्नि के परमाणु अधिक रमण करते हैं।

४. चतृर्थ में वायु के परमाणु का आधिक्य होता है।

५. पंचम में आकाश के परमाणु अधिक रमण करते हैं।

जैसा जिसका कर्म होता है, उनमें भी किसी में अग्नि प्रधान, किसी में पृथ्वी प्रधान, किसी में वायु प्रधान है। जैसे जिसकी

प्रधानता मानव की प्रवृत्तियों में होती है। उन्हीं प्रवृत्तिओं के आधार पर इस आत्मा का शरीर त्यागने के पश्चात् मन्थन होता है और वैसी ही योनि उसको प्राप्त होती है।

जहाँ अन्तरिक्ष के परमाणु है वहाँ अन्तरिक्ष प्रधान है। उन लोकों में जब रमण करते हैं तो वह एक देवयान मार्ग कहलाया गया है। वे भी दो प्रकार के हैं एक पितृयान है, दूसरा देवयान है। (बाईसवाँ पुष्प, २८-३-७४ ई.)

यह आत्मा शरीर को छोड़कर कहाँ जाता है ? इस पर महर्षि कपिल, महर्षि व्यास, महर्षि शाण्डिल्य, महर्षि पिप्पलाद आदि ऋषियों के भिन्न-भिन्न मत हैं। यमाचार्य ने नचिकेता को उपदेश दिया था कि यह आत्मा का विषय इतना गहन है कि इसको जानते हुये अन्त में नेति-नेति कहना हमारे लिये अनिवार्य हो जाता है। कुछ सूक्ष्म सा विचार इस प्रकार देते हैं

जब आत्मा शरीर को त्यागता है तो उसकी तीन प्रकार की श्रेणियाँ होती है। १. सतोगुणी, २. रजोगुणी, ३. तमोगुणी।

आगे १. सतोगुणी की १०२,

२. रजोगुणी की १०३,

३. तमोगुणी की १५२ श्रेणियाँ होती हैं।

जैसी-जैसी श्रेणियों में यह आत्मा जाता है उसी प्रकार की योनि उसको प्राप्त होती रहती है। जैसे इस जीवात्मा के कुछ कर्म इतने तुच्छ होते हैं कि क्षण समय में जीवन तथा क्षण समय में मरण हो जाता है। इसकी पुनरावृत्ति होती रहती है। कुछ एक जन्म में ३६

वार जन्म लेते हैं तथा ३६ वार मृत्यु को प्राप्त होते हैं। कुछ का एक वर्ष में जीवन-मरण हो जाता है। कुछ ऐसी योनियाँ भी हैं, जो सहस्रों वर्षों की आयु पाते हैं।

प्रश्न है कि मानव शरीर से निकले आत्मा को मानव शरीर ही मिलता है, अथवा अन्य योनियों में भी जाना होता है।

इस पर ऋषियों ने, महर्षि यमाचार्य तथा महर्षि शाण्डिल्य ने कहा कि यह आत्मा नाना योनियों में कर्मों के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। जैसी मानव की कल्पना तथा संकल्प होते हैं, उसी प्रकार की योनियों को प्राप्त कर लेता है। ऐसे भी संस्कार होते हैं जिनसे मानव को मानव का ही जन्म प्राप्त हो जाता है जैसे शरीर को त्यागते समय जब रजोगुण और तमोगुण दोनों की सामान्यता होती है तो उस समय मानव को साधारण मानव की योनि प्राप्त हो जाती है।

जो सतोगुणी प्रधान आत्मा इस शरीर को त्यागता है वह सतोगुण के मार्ग पर लगता हुआ इस संसार में मनुष्य योनि को प्राप्त करके अग्रणीय बनता चला जाता है, मानवता को प्राप्त हो जाता है तथा आगे चलकर वह देवतावत् हो जाता है।

जो मानव योगाभ्यास करता रहता है तथा यौगिकता में ही उसका अन्तरात्मा सतोगुण से उपरामता को प्राप्त हो गया है, वह इस शरीर को त्यागता है तो उसकी ऋषिवत् के लिये पुनरावृत्ति हो जाती है। वह उसी मार्ग को प्राप्त कर लेता है, जिसे त्याग था। उसी मार्ग पर चलकर अपने देववत् जीवन को प्राप्त हो जाता है।(चौदहवाँ पुष्प,

२७-३-७० ई.)

जो आत्मा शरीर त्यागते समय सतोगुणी प्रधान तथा अग्नि तत्त्व प्रधान होती है और जो मेधावी से ऋतम्भरा तक के प्राणी होते हैं वे उन बुद्धियों को अनुसन्धान करने वाले मंगल, बुध इत्यादि मण्डलों को त्यागते हुये सूर्य-मण्डल में पहुँचते हैं। सूर्य-मण्डल को विष्णु-लोक कहा जाता है। यहाँ का राजा विष्णु कहलाता है। (नौवाँ पुष्प, २६-७-६७ ई.)

शरीर को त्यागने के पश्चात् आत्मा के साथ जाने वाले ये द्रव्य माने जाते हैं। पाँच कर्मेन्द्रियों का सूक्ष्म स्वरूप अन्तःकरण में व्यापक हो चुका होता है। इस स्थूल शरीर को त्यागने के पश्चात सूक्ष्म शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पाँच प्राण तथा पाँच प्रकृति के सूक्ष्म महाभूत को माना जाता है।

शरीर त्यागते समय जो भावनाएँ और जो भी कर्म अन्तःकरण में अंकित हो गये हैं, उनको भोगने की यह आत्मा इच्छा करता है। जैसी इस शरीर में मनुष्यों की भावना प्रवृत्ति होती है, शरीर को त्यागने के पश्चात् उसी प्रकार की विचारों वाली आत्माओं में यह अन्तरिक्ष में रमण किया करता है। अन्तरिक्ष में कई विचारों वाली आत्माएँ रमण करती हैं।

१-वे आत्माएँ जो मोक्ष के निकट पहुँचने वाली होती हैं, वे निर्मल और पवित्र होती हैं, उन्हें सतोगुणी आत्माएँ कहते हैं।

२-तमोगुणी आत्माएँ।।

३-रजोगुणी आत्माएँ।

यदि कोई आत्मा देवता के कर्म करती है तो देवत्व आत्माओं में उस समय तक रमरा करती है जब तक उसके देवत्त्व-कर्म समाप्त नहीं हो जाते। इसके पश्चात् अन्तःकरण में अंकित कर्मों को भोगने को पुनः संसार में आ पहुँचते हैं।

सिद्धान्त यह है कि जैसी भावनाएँ, जैसे कर्म करके यहाँ से जायेंगे उसी के अनुसार जन्म प्राप्त होता है। यदि कोई तमोगुरा प्रधान है और तमोगुरा से ही शरीर त्याग दिया है तो उसे तमोगुणी आत्माओं में तेरह दिन तक रमरा करने के पश्चात् पुनः जन्म धाररा करना अनिवार्य है।

यदि सतोगुणी आत्मा है और यदि उसके मन में यह विचार होता है कि शरीर त्यागने के पश्चात् भी उसे इस संसार में आना चाहिये तो उसे एक मास के पश्चात् संसार में आना अनिवार्य हो जाता है। अन्य सतोगुणी आत्माएँ सौ-सौ वर्षों तक विमुक्त आत्माओं के निकट रमरा किया करती हैं।

यह आत्मा किसी भी काल में निठल्ला नहीं रहता। तमोगुणी आत्माओं का तमोगुणी आत्माओं से मिलान होकर वे तमोगुणी आत्माओं के साथ श्रृंगकेतु नाम की वायु में तेरह दिन तक रमरा करते हैं। वे पिछले जन्मों की स्मृति को त्यागकर संसार में जन्म ले लेते हैं।

सतोगुणी आत्मा तीन प्रकार की वायु १-इन्द्र, २-मृचो तथा ३-सोमभाम में रमरा करता रहता है और वायु में जो पंचमहाभूत सूक्ष्म रूपों में रहते हैं, उन पर शासन करते हुये यह आत्मा विमुक्त

आत्माओं में विनोद करता रहता है और आनन्द भोगता रहता है। तत्पश्चात् जो इस शरीर में अनिष्ट कर्म किया उसको भोगने के लिये संसार में जन्म को प्राप्त होता है।

प्रश्न है कि शासन करने वाला आत्मा स्थूल है या सूक्ष्म ? क्योंकि प्रकृति पर शासन करने वाला तो स्थूल ही होता है।

इसका उत्तर यह है कि आत्मा में वे गुण अंकित है जिनसे प्रकृति को अपने अधीन बनाया जाता है। जैसा सूक्ष्म स्वरूप आत्मा का है, आगे चलकर प्रकृति भी इतनी सूक्ष्म बन जाती है। दोनों एक-दूसरे पर शासन करने लगते हैं। आत्मा भी सूक्ष्म प्रकृति भी सूक्ष्म, सूक्ष्म पर सूक्ष्म शासन करता है। संसार में स्थूल पर स्थूल शासन करता है। जैसे एक कृषक कृषि पर शासन करता है। अणु को, वायु को, अग्नि को और स्थूल को ही जानता है। सूक्ष्म वस्तु सूक्ष्म को ही जाना करती है, यह दर्शन कहता है। (दूसरा पुष्प, २७-९-६४ ई.)

हमारे यहाँ दो प्रकार के सिद्धान्त माने जाते हैं। एक सिद्धान्त तो इस सूक्ष्म शरीर में यह माना जाता है कि ज्योंही इस शरीर को त्यागा, त्योंही द्वितीय शरीर आत्मा को प्राप्त हो जाता है। एक शरीर को त्यागा है, दूसरा शरीर इसके लिये नियुक्त है, वह वायु में गति करता हुआ माता के गर्भस्थल में प्रवेश कर जाता है। प्रवेश होने के पश्चात् माता का गर्भाशय बलवत् होने लगता है।

द्वितीय सिद्धान्त यह माना जाता है कि कुछ अवशेष ऐसे हैं जो आत्मा अन्तरिक्ष में कुछ दिवस के लिये गति करता है और वह गति करता हुआ माताओं के शरीर में प्रवेश करता है। उसे पुनः शरीर प्राप्त

हो जाता है।

तृतीय गति यह है कि कुछ आत्माएँ ऐसी होती हैं कि जिनकी सूक्ष्म और कारण शरीर दोनों के मध्य एक अवस्था होती है। यह ऐसा है मानों कारण में प्रवेश करने जा रहा है। सूक्ष्म से यह उपराम हो गया है। यह आत्मा पितृयान में रमण करने लगता है। पितृयान में रमण करने वाले आत्माएँ देवात्माएँ कहलाते हैं। वे देवात्माएँ ऐसे होते हैं जो समय-समय पर शरीरों को प्राप्त करके इस वैदिकता का, सन्मार्ग का अनुसरण लेकर के इस संसार से चले जाते हैं। वे आत्माएँ जो शरीर में न रह करके अन्तरिक्ष में गति कर रहे हैं। इन आत्मा की कुछ अवधि होती है। इतने समय तक अन्तरिक्ष में रमण करने के पश्चात् शरीरों को प्राप्त कर सकते हैं। माता को श्रेष्ठ स्वीकार करके माता के इस शरीर में भी प्रवेश कर सकते हैं। (छब्बीसवाँ पुष्प, १५-११-७४ ई.)

कुछ आत्मा ऐसे होते हैं जो मोक्ष के निकट होते हैं परन्तु जब वे प्रकृति के इस चित्त को भ्रष्ट दृष्टिपात करते हैं, उस समय मोक्ष के निकट वाले आत्मा प्रायः संसार में जन्म ले लेते हैं और वे संसार में जन्म ले करके संसार में अथवा कुछ कार्य करके पुनः उसी गति को प्राप्त हो जाते हैं क्योंकि यह स्थूल जगत का जो कर्म है उन आत्माओं को लिपायमान नहीं कर सकता। इन आत्माओं के लिपायमान न होने के कारण इस लोक में ऊँचे से ऊँचा कर्म करके पुनः वे आत्माएँ उसी गति को प्राप्त हो जाते हैं क्योंकि उनको रजोगुण और तमोगुण कदापि नहीं व्यापता। इसीलिये उनको स्वार्थ

नहीं होता उनके लिये पर्वत और राज शैय्या एक सी होती है। ऐसे महापुरुषों को संसार का कर्म नहीं व्याप्ता।(पच्चीसवाँ पुष्प, १४-१०-७२ ई.)

जीवन-मुक्त-आत्मा

जो आत्मा प्राण में प्रविष्ट कर जाता है और परमात्मा को प्राप्त होने वाला है वह जीवन-मुक्त कहलाता है। उन आत्माओं को यह भान हो जाता है, वे इस प्रकृतिवाद के परमाणुओं को अच्छी प्रकार से जानते हैं। क्योंकि सत है, आत्मा सत् और चित्त है और परमात्मा सत्तचित् आनन्द कहलाया गया है। आत्मा सदैव आनन्द की पिपासा में रमण करता रहता है। वेद का ऋषि कहता है कि जो आत्मा इस प्रकृति के अवशेषों को, परमाणुओं को जानता है वह जान करके इस स्थूल शरीर को भी प्राप्त कर सकता है और सूक्ष्म को भी प्राप्त कर सकता है। क्योंकि परमाणुवादों से शरीर का निर्माण होता है और संकल्पमात्र से उन परमाणुओं से अपने उन शरीरों का निर्माण कर लेता है और शरीरों को प्राप्त होते रहते हैं।

मोक्ष में जीव का स्वरूप

जब सूक्ष्म शरीर होता है तो वहाँ भी आत्मा का चक्र चलता है। क्योंकि प्रकृति के अवशेष उसके समक्ष हैं तथा वहीं मण्डल सा बनाए रहते हैं, कारण शरीर में भी मन साथ रहता है, परन्तु जब आत्मा मोक्ष में जाता है तो केवल मन का इससे विच्छेद हो करके कारण और कार्य रह करके ज्ञान और प्रयत्न की आभा आत्मा के साथ रह करके मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। मन और प्राण दोनों को एक सूत्र

में लाने का नाम हमारे यहाँ मोक्ष माना गया है। (छब्बीसवाँ पुष्प, १५-११-७४ ई.)

देवयान-पितृयान

देवयान तथा पितृयान के विषय में यह संसार जानता हुआ भी नहीं जानता। जब यह आत्मा शरीर से निकलता है तो अन्तरिक्ष और देवयान में चला जाता है। जानता हुआ इसलिये जानता नहीं क्योंकि वह बुद्धि से अनुकरण करता है। वह बुद्धि से दूर का विषय है। बुद्धि से विचारने से बुद्धि शान्त हो जाती है। वाणी भी उस महिमा का गुणानान नहीं गा सकती।

देवयान उसको कहते है जहाँ देवात्माएँ रहते हैं, वहाँ वायु, अग्नि की प्रधानता वाले सूक्ष्म शरीर होते हैं। उनके अन्तःकरण में पुण्य की स्थापना होती है, वे प्रश्नोत्तर आदि सत्संग नहीं करते, वे संसार को देखते रहते हैं कि वहाँ किस वस्तु की आवश्यकता है।

वेदीय-निधि के शून्य होने पर उसको उच्च बनाने के लिये देवता स्वयम् इच्छा के अनुकूल प्रकट हो जाते हैं। उस महत्ता का प्रसार कर यहाँ से चल बसते हैं।

उदाहरणार्थ-मधुपान ऋषि का आत्मा देवयान का आत्मा था, उन्होंने वसुदेव और देवकी के यहाँ कृष्ण के रूप में जन्म लिया और यशोदा के गृह में पहुँचे।

महर्षि अटूटी (अत्रुटि) जो महर्षि कोलशती के पिता और सोमवती माता के पुत्र थें, देवयान के आत्मा बने। वे फिर अभी महर्षि दयानन्द के रूप में जन्मे। जिनके जीवन को यह रजोगुण, तमोगुण

से भरा संसार न छू सके, उनको जानो कि वे देवयान से आये हैं, देवता हैं। वे संसार में कुछ कर्म करके जायेगे तो देवयान में ही जायेंगे जैसे कृष्ण का जीवन है। (चौथा पुष्प, २७-७-६३ ई.)

पिशाच योनि उनको कहते हैं जिसके पुण्य अधिक तथा पाप सूक्ष्म होते हैं। वे यहाँ के संसार का उच्च अध्ययन करके देवयान को जाने का प्रयत्न करते हैं और देवयान से निचले स्थान में रहते हैं। (चौथा पुष्प, २८-७-६३ ई.)

आधुनिक काल में श्राद्ध पर टिप्पणी

प्रश्न है जब यह आत्मा शरीर को त्याग देता है तो उस समय श्राद्ध इस आत्मा का करते हैं या शरीर का।

वास्तव में जब यह आत्मा इस शरीर को त्याग देता है तो इसका सम्बन्ध केवल उसके कर्मों से होता है न पुत्र से, न पौत्र आदि भौतिक सम्बन्धियों से। इसलिये आत्मा के श्राद्ध का तो प्रश्न ही नहीं उठता। यदि शरीर का श्राद्ध करते हैं तो वह उसी समय करना चाहिये जब वह जीवित हो। वानप्रस्थ तथा सन्यास में इसे नाना प्रकार की सुविधाएँ देकर इनकी सेवा करनी चाहिये। मृत्यु के पश्चात् यह शरीर नष्ट हो जाता है। अतः उसके श्राद्ध का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि मृतक शरीर का श्राद्ध करना मानना ही है तो अन्त्येष्टि संस्कार करना चाहिये। इस संस्कार में, यज्ञशाला में समिधाएँ और नाना सुगन्धिदायक पदार्थों से यज्ञ करना चाहिये। यह भी हो सकता है कि इसे श्राद्ध कहा जाये कि आत्मा की शान्ति के लिये मानव को उसकी सेवा करना सबसे प्रथम कर्त्तव्य है।

जिस विद्या को उसने पान किया है उसे लेना तुम्हारा कर्त्तव्य है। यदि तुम उसकी विद्या को ग्रहण कर लोगे तो हो सकता है कि उसी स्थान में, उसी ऊँचे परिवार में से पुनः से उस विद्या के पुजारी बनें।

यहाँ ऐसा माना जाता है कि ऋषियों ने जिस विद्या का पान किया, उसको वानप्रस्थियों द्वारा सभी ने श्रवण करने का प्रयत्न किया। सबने उस विद्या को पान किया और निकाला (प्रचार किया)। उन आत्माओं का जन्म अगले जन्मों में उन्हीं संस्कारों वाले व्यक्ति के द्वारा होता है। जहाँ सूक्ष्म सी विद्या पान करने से वह विद्या पुनः से उसके द्वारा आ जाती है। उस विद्या को श्रद्धापूर्वक अपने मे रमण कर लेना चाहिये।

जो गुरुओं के वचनों का श्राद्ध करता है, यह उसका सौभाग्य है। जब इस धारणा को लेकर श्राद्ध किया जाता है कि जो आत्मा हमसे बिछुड़ जाता है और जिस आत्मा के कार्यों की ऊँची श्रृङ्खलाएँ हैं, वे संसार में पुनः से उत्थान करने के लिये आयें।

श्राद्ध मृतकों का नहीं, उन कर्मों का होना चाहिये। संसार में जीवन का श्राद्ध होता है, मृत्यु का नहीं।

श्राद्ध नाम है श्रद्धा का। जब विवेकी और ज्ञानी पुरुष पर श्रद्धा होती है तो उससे मनुष्य का उत्थान होता है। जिन ऋषियों की वाणी अमर है और जिस पर आज तक हम श्रद्धा करते चले आये हैं, वह श्राद्ध है। हमें उनका श्राद्ध करना चाहिये, जो विवेकी पुरूष हों, जिनका अपना जीवन हो, जो जीवनदाता हों। (चौथा पुष्प, १-४-६४ ई.)

आधुनिक काल की भूत-प्रेत की मान्यताओं पर टिप्पणी

आशंका : जो मानव संसार में निःस्वार्थ तथा निर्द्वन्द्व है, उनके शरीर पर न जाने क्यों ऐसे कष्टों का आक्रमण हो जाता है कि जिसका सामान्य लोगों को ज्ञान नहीं हो पाता। ऐसी दशा में मानव प्रेत योनि तथा उनके आक्रमण का अनुमान करता है।

समाधान : मानव का मन बड़ा शक्तिशाली है। इसके द्वारा मानव कुछ के कुछ संकल्प कर बैठता है। संसार में जितने भी कार्य हैं वे सब मन की संकल्प शक्ति के द्वारा होते हैं, दृढसंककल्प अवश्य पूर्ण होता है। यदि संकल्प अन्तःकरण से न किया जाये तो वह पूर्ण नहीं होता। मानव का संकल्प एक ऐसा पदार्थ है कि यदि हृदय में भी भय की धारणा हो जाती है तो वही भय का संकल्प चित्त के समक्ष उपस्थित हो जाता है, तब मानव को यह भयदायक दृश्य प्रत्यक्ष सा प्रतीत होने लगता है। यदि मानव भय के संकल्प को त्याग दे तो कुछ भी भयदायक दृश्य उपस्थित नहीं होता। ऋषियों का निर्णय भी यही है कि किसी युक्ति-प्रमाण से प्रेत योनि सिद्ध नहीं होती। अतः यह कोई पदार्थ नहीं है।

योनि तो पंचमहाभूतों के मेल से होती है, वह तो पार्थिव होती है। आग्नेय शरीर वाले जीव भी होते हैं। इनके शरीरों में अग्नि तत्त्व की प्रधानता होती है। यदि यह कहा जाये कि पार्थिव शरीर धारण करने वाले भूत होते हैं तो पार्थिव शरीर तो मनुष्य तथा असंख्य योनियों के होते हैं। वास्तव में भूत नाम तो बींते समय का है।

आशंका : अकाल मृत्यु हो जाने से आत्मा अन्तरिक्ष में भटकता

रहता है उसको भूत या प्रेत योनि कहते हैं।

समाधान : जब मानव को अज्ञानता आती है तो नाना प्रकार की तृष्णाएँ, लालसाएँ उसे सताती हैं। उसका विश्वास ही उसे चिन्तित बनाता है। यह दुख उसे अपने अज्ञान का है। जब मानव में ज्ञान हो तो वह ज्ञान वाला आत्मा किसी के शरीर में क्यों कोई प्रविष्ट नहीं हो जाता है ? माता के बिना किसी का किसी शरीर में विचरने का कोई कारण नहीं। जब तक आत्मा में पार्थिवता के गुण हैं, उसके अन्तःकरण में पार्थिवता के किये हुए कर्म हैं, उस समय तक वह बिना शरीर के संसार में नहीं रह सकता। इसलिए वह अज्ञानता के कारण अव्याहृत गति से सूक्ष्म शरीर से भ्रमण करने वाला दिव्य आत्माओं के समान भी नहीं विचर सकता।

निष्कर्ष यह है कि प्रेत उसको कहते हैं, जिस मानव की बुद्धि विपरीत चलने वाली होती है, जो धर्म के विपरीत चलता हो। भूत का नाम तो बीते समय का है।

आशंका : प्रेत योनि मानव पर आक्रमण करती है। जो आत्मा मानव शरीर में रहता हुआ किसी से पीड़ित होकर पीड़ा देने वाले से बदला लिये बिना ही शरीर त्याग देता है तो वह भूत-प्रेत बनकर बदले की भावना से दूसरों को कष्ट पहुँचाता है।

समाधान : जो आत्मा मानव शरीर में होते हुये तो दूसरों को कष्ट पहुँचा नहीं सका, वह भूत या प्रेत बनकर कैसे कष्ट पहुँचा सकता है ? यह आश्चर्यजनक बात है।

निष्कर्ष यह है कि न प्रेत योनि होती है, न अकाल मृत्यु होती

है। बिना समय के कोई समाप्त नहीं होता है, बिना कारण के कार्य नहीं होता, जब मृत्युकाल आता है तब कारणवश बेचारा आत्मा जिस स्थान से आया था वहीं चला जाता है। जैसे जिसने कर्म किये उनके भोगों के वशीभूत होकर भोगों के अनुकूल रमण करता है। (चौथा पुष्प, १६-७-६३ ई.)

१० दशम अध्याय-योग, पूर्ण योगी तथा मुक्ति

मोक्ष की प्राप्ति कैसे ?

जिस प्रकार परमात्मा यौगिक होता है, उसी प्रकार मानव भी योगी होता है। यह आत्मा मानव शरीर में आकर ज्ञान और प्रयत्न से नवीन रचना रचता है। ज्ञान के माध्यम से मन, प्रयत्न के माध्यम से प्राण का दश रूपों में विभाजन कर देता है। पूर्ण योगी उसको कहते हैं जिसकी आत्मा ज्ञान और प्रयत्न दोनों को एकाग्र करके, उनके ऊपर सवार होकर परमात्मा से मिलान कर लेता है। उसे मुक्ति कहते हैं।

ज्ञान और प्रयत्न की एकाग्रता का फल

जब तक ज्ञान और प्रयत्न दोनों कार्य करते रहते हैं, दोनों का सङ्घर्ष चलता रहता है, मन अपनी विभाजन-क्रिया को त्यागकर एकाग्र नहीं होता तब तक मुक्ति नहीं होती। यह मन एकाग्र होगा शनैः शनैः और विवेक से। जिस समय मन के पास विवेक हो जायेगा तो वह एक नवीन रचना रचेगा। बुद्धि के अङ्कुर भी इसी से उत्पन्न होते हैं। जब विवेक होगा तो यह मन प्रकृति के एक-एक कण को जानता हुआ अपनी रचना करके एकाग्र होता है। सभी चक्रों को जानता हुआ जब ज्ञान और प्रयत्न दोनों को एकाग्र करके ब्रह्मरन्ध्र में जाता है तो संसार का, प्रकृति का विज्ञान उसके समक्ष आ जाता है। जब ज्ञान और विज्ञान उसके समीप आ जाता है तो उसे प्रतीत होता है कि तू कहाँ आ गया। (नौवाँ पुष्प, २९-७-६६ ई.)

जब कोई योगी होता है तो (उसका) युग परिवर्तन हो जाता है। राष्ट्र को परिवर्तन कैसे किया जाये ? यह केवल अभ्यास का विषय है, कृतिकाओं को जागरूक करने का विषय है, यह मन और प्राण को ओजस्वी बनाने का विषय है। (बाईसवाँ पुष्प, १३-२-७४ ई.)

ब्रह्मवेत्ता उसको कहते हैं, जिसका प्रत्येक इन्द्रिय पर संयम होता है जो उनके प्रत्येक विषय को जानता है। (चौदहवाँ पुष्प, ८-११-६९ ई.)

प्रगति में बाधक आवेश

मानव की आन्तरिक प्रेरणा उसे सदैव प्रकाश के लिये बाध्य किया करती है वह संसार के नाना आवेशों में संलग्न रहता है परन्तु जब वह इन नाना आवेशों से मुक्त हो जाता है तो उसी समय उसकी अन्तरात्मा से एक ध्वनि आती है जो मानव के हृदय में धर्म अथवा मानसिक चेतानाएँ अथवा एक प्रकाश के लिये अग्रणी बनने के लिये तत्पर रहती है। जब मानव इस प्रेरणा को जान लेता है तो उसका जीवन सदैव प्रकाश में रमण करने लगता है। जब मानव अपनी वास्तविक चेतना व धारा, आन्तरिक प्रेरणा को जानने लगता है तो उसका जीवन साधारण व्यक्तियों से उपराम हो जाता है और वह अपने मानवत्व को जानने के लिये तत्पर होने लगता है।

यह संसार एक प्रकार का सागर है जिसमें नाना प्रकार की तरंगें मानव को बाध्य करती रहती हैं। मानव सदैव नाना प्रकार की प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होता रहता है। कहीं वह किसी का मान करता है और अगले ही क्षण अपमान करने लगता है। इस प्रकार की चेतना

मानव की वास्तविक चेतना नहीं है। मानव की वास्तविक चेतना तो यही कहा करती है कि यह संसार तो ऐसा ही चलता रहता है परन्तु तेरा जो लोक-परलोक है, वह कोई और वस्तु है, वह मान-अपमान से उपराम है। वह जीवन साधारण व्यक्तियों का नहीं बल्कि उनसे ऊपर के व्यक्तियों का होता है, जिन्हें महापुरुष कहा जाता है।

महापुरुष दो प्रकार के होते हैं। (१) एक वे महापुरुष जिनका जीवन सदैव ब्रह्म में तल्लीन हो। (२) दूसरे वे महापुरुष जो जनता-जनार्दन में रहते हुए अपने जीवन को उपराम कर लेते है। वे जनता जनार्दन में ही, ब्रह्ममय समाधि में तल्लीन हो जाते हैं।

ज्ञान द्वारा ही ब्रह्म प्राप्ति

ब्रह्ममय समाधि वह होती है जब मानव नौ द्वारों को जानने के लिये तत्पर हो जाता है। वह नौ द्वारों को साधना में तन्मय कर लेता है तथा उनमें प्रगति (विषयों में) नहीं होने देता है। वह ब्रह्म में तल्लीन होता हुआ अन्तरात्मा में ही हो जाता है। ब्रह्ममयी समाधि में सर्वत्र केवल ब्रह्म ही ब्रह्म प्रतीत होता है। प्रकृति लीन के कण-कण में ब्रह्म को ही देखते हैं। उनके लिये ब्रह्म से पृथक् यह संसार कोई वस्तु नहीं होती। वह ब्रह्म में ही तल्लीन होता हुआ उसी में अपने को स्वीकार करने लगता है। उस समय मानव ज्ञान रूपी अग्नि में अपने को तन्मय करके अन्तरात्मा में हवन करने लगता है। ज्ञान से ही वह ब्रह्म में रमण करता रहता है।

ब्रह्म-समाधि कैसे ?

(१) महर्षि वायु ने कहा है कि संसार में जो ज्ञान है वही ब्रह्म

को प्रिय है। क्योंकि ज्ञान-विज्ञान में ही प्रभु रमण करने वाला है। जब हम संसार के सभी ज्ञान-विज्ञान तथा विवेक में प्रभु को ओत-प्रोत होता हुआ समझ लेते हैं तो उस सामान्य समय मनुष्य न रहकर अपने को ब्रह्म में स्वीकार करने लगते हैं। हमारे लिये ब्रह्म एकमात्र रह जाता है और अपने को ब्रह्म में रमण कर देते हैं। विचारधारा में प्रभु का निवास है। अतः उन विचारधाराओं में ब्रह्म को अपने में धारण करते हुए उसकी कृति तथा दृष्टि को अपने विचारों में और अन्तरात्मा में ओत-प्रोत कर लेते हैं। इस प्रकार के महापुरुष ब्रह्म को अपने में तथा स्वयम् को ब्रह्म में तल्लीन स्वीकार करते हैं और एक समय ब्रह्म की समाधि को प्राप्त हो जाते हैं।

(२) दूसरे प्रकार के महापुरुष जनता-जनार्दन में ही ब्रह्म को स्वीकार करते हैं। जब परोपकार की भावना को लेकर वह जनता-जनार्दन में समाधि लगा देता है, अर्थात् अपने को इस प्रकार बना लेता है कि तुझे जनता में ही रमण करना है। उसे जनता द्वारा अपने दोषों को देखने की परवाह नहीं रहती, बल्कि वह इस पराकाष्ठा पर जाना चाहता है, जिससे मानव महान् बन जाता है, वह विचारों में इतना तन्मय हो जाता है कि उसका वाक्य मानव को छूने मात्र से मानव के मन पटल को प्रभावित करते हुए अपने विचार उसमें तन्मय होते हुए उसमें समाधिस्थ हो जाता है। ''जनता में समाधिस्थ होना सबसे विचित्र है। क्योंकि इसमें मानव को नीचे जाने का भय रहता है।'' किन्तु महापुरुषों को इसका भय नहीं होता। वे जब जनता में ही जनार्दन को (और उसको) अपने में स्वीकार कर

लेता है, तो जनता उसे अपना प्रिय बना लेती है। वही उसकी समाधि है।

महापुरुष कैसे बनते हैं ?

"संसार में महापुरुष वही होता है जो दुर्गुणों को दृष्टिपात नहीं करता, मानव के गुणों का दिग्दर्शन करता है।" वह मानव एक दिन महत्ता का दिग्दर्शन करने वाला बन जाता है अर्थात् महान् बन जाता है।

तपस्या

व्यक्ति, परिवार और समाज के उत्थान के लिये तपस्या अनिवार्य है।

आत्मबल, तपोबल और राष्ट्रबल तीनों के एक सूत्र में आ जाने पर समाज और राष्ट्र स्वर्गमय बन जाते हैं।

एक समय महाराजा अश्वपति अपने आसन पर विराजमान थे। न्यायालय में न्याय हो रहा था। परन्तु न्याय कर्त्ता महाराजा अश्वपति की वाणी में अमोघता दृष्टिपात नहीं हुई। यह विचारा कि मैं न्याय कर रहा हूँ अथवा वह न्याय की जो आभा है यह इतनी विचित्र थी, दृष्टिपात नहीं आ रही थी। जब हृदय में यह आकाङ्क्षा उत्पन्न हुई तो राजा ने विचारा कि अब मैं क्या करूँ ? क्योंकि न्याय करता हूँ। न्याय में दूरिता प्राणी (पापी व्यक्ति) विशेषकर आकर चले जा रहे हैं। परन्तु न्याय तो वह होना चाहिये कि एक स्थान में न्याय किया और दूसरे स्थान में न्याय की सुगन्धि चली गयी। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्र पामर (नीच पापी) हो जायेगा। इस राष्ट्र में सुन्दरता नहीं

रहेगी। क्योंकि जब मैं न्याय करता हूँ तो न्याय की आभा मुझे आभायित होती दृष्टिपात नहीं आ रही है। उन्होंने अपने मन्त्रियों को एकत्रित किया। महामन्त्री उस समय बहुत तपस्वी थे। उनसे प्रश्न किया हे मन्त्री! मेरा आत्मा यह पुकार रहा है कि जब मैं न्याय करता हूँ तो न्याय की सुगन्धि उत्पन्न नहीं होती। प्राणी विशेषकर दोषी हो जाते हैं। मुझे यह प्रतीत होता हैं कि मेरा न्याय कोई सुगन्धि से युक्त नहीं है। महामन्त्री ने कहा कि चलो आचार्यों से इसका प्रश्न करें।

उन्होंने आदि ऋषियों को निमन्त्रण दिया और उनके मध्य में यह वार्ता प्रकट की। तपस्वियों ने यह कहा कि इसमें तप की सूक्ष्मता है। तो राजा ने कहा तो प्रभु! मैं तप करने जाऊँ राष्ट्र को त्याग दूँ ? क्योंकि ऐसे राजा से कोई अभिप्राय नहीं है कि जिस राजा के राष्ट्र में दोष बलवती होते रहें, दुराचार बलवती होता रहे, और सदाचार की सूक्ष्मता हो जाये। राजा ने अपनी राष्ट्र स्थली को त्याग दिया, पत्नी के द्वार पर पहुँचे और कहा कि तुम गायत्री छन्दों में तपो और मै भी तप करने जा रहा हूँ।

महाराजा अश्वपति तप करने चले गये। हिमालय की कन्दराओं में ऋषि-मुनियों से मिलान करते हुए एकान्त स्थान में विराजमान हो गये, गायत्री छन्दों के गर्भ में परिणत हो गये, गान गाने लगे, छन्दावली अपने हृदय में समाहित करने लगे। मौन हो गये, अपनी आत्मा को शोधन करने लगे, प्राणायाम करते थे। उसकी आभा को जानने का प्रयास किया, मन पवित्रता में धारणा हो गया। यह कर्म प्रारम्भ रहा और राजा महान् तप मे परिणत हो गये। ऋषि-मुनियों

की आज्ञानुसार भयंकर वनों की वनस्पतियों को पान कर उदर की पूर्ति करते थे। जिस पर किसी प्राणी का किसी प्रकार का अधिकार न हो। नाना प्रकार की वनस्पतियों को पान करने के पश्चात् राजा का तप बलवान हो गया। वह लगभग छः वर्ष तक तो मौन रहे। उसके पश्चात् दो वर्ष तक गायत्री छन्दों का पठन पाठन किया। उसी में मनसा, वाचा, कर्मणा में लगभग बाहर वर्ष तक उन्होंने ब्रह्मचर्य का पालन किया। ब्रह्मचर्य का तात्पर्य क्या कि ब्रह्म में रत रहना, ब्रह्म का चिन्तन करना, ब्रह्म की आभा को चरना। इस प्रकार बारह वर्ष तक कठोर तप किया और जब तप में यह विशेषता हो गयी कि उनकी वाणी में अमोघता आ गयी। जो वे वाक्य उच्चारण करते थे तो भयंक र वनों में विचरण करने वाले मृगराज और सिंहराज उनके वेदज्ञान को, उनकी ब्रह्म-विद्या को एकान्त स्थान में, एक पङ्क्ति में विराजमान हो करके जब तक श्रवण नहीं कर लेते तो राजा के हृदय की अन्तरात्मा में शान्ति की स्थापना नहीं होती। उन्होंने यह विचार लिया कि अब मेरा तप नितान्त पूर्ण बन गया है।

महाराजा अश्वपति ने इस प्रकार का कठोर तप करने के पश्चात् अपनी नगरी को प्रस्थान किया। जब वे न्याय करने लगे तो न्याय की सुगन्धि उत्पन्न होने लगी। जिस मार्ग का जो अपराधी होता उस मार्ग के अपराधियों में एक आभा उत्पन्न हो जाती। तो विचार-विनिमय क्या कि मानव को तप में रमण करना है। तप कहते हैं इन्द्रियों का शोधन करना। इन्द्रियों के विषय को ब्रह्म के आंगन में रमण करना। जब रमण कर जाते हैं तो सुगन्धि हो जाती है, मानव

का जीवन आभा में परिपूर्ण हो जाता है। (उन्तीसवाँ पुष्प, २-५-७५ ई.)

तप का फल

महर्षि याज्ञवल्क्य के अनुसार हमारी आन्तरिक चेतना हमें सदैव तपस्वी, महान् तथा विचित्र बनाने के लिये बाध्य करती रहती है। सभी मानव तथा देवकन्याओं को तपस्या करनी चाहिये अर्थात् अपने जीवन पर संयम रखना चाहिये और चिन्तन को महान् तथा धर्मयुक्त रखना चाहिये। तपस्या के बिना मानव समाज तथा संसार शून्य रहता है। ब्रह्मचारी तपकर गृहस्थ में प्रविट होता है। सूर्य तपकर पृथ्वी को तपाता है। वृष्टि होकर उस पर सुन्दर-सुन्दर वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं। माता तपकर सुन्दर बालक को जन्म देती है। (दसवाँ पुष्प, ६-११-६८ ई.)

एक समय महर्षि दधीचि के आश्रम में एक सभा हुई, जिसमें ब्रह्मवेत्ता ऋषि आयुर्वेद के विशेषज्ञ महापण्डित अश्विनी कुमार भी उपस्थित थे। महर्षि दधीचि के ब्रह्मज्ञान के शिष्य थे। उस समय महर्षि दधीचि ने एक प्रश्न रखा तथा उसका समर्थन महर्षि जमदग्नि ने किया। महर्षि भारद्वाज इस सभा के सभापति थे।

प्रश्न : यह संसार सब प्रकार से सुखद (सुखी) रहना चाहिये। मानव के दुःखद (दुःखी) होने का क्या कारण है तथा वह कैसे सुखद (सुखी) और उन्नत बन सकता है ?

तपस्या से मन सुन्दर बनता है

सभापति : महर्षि भारद्वाज ने उन्नति के लिये विचारधारा रखते

हुए कहा कि यदि मानव को सुखी तथा उन्नत बनना है तो उसे अपनी इन्द्रियों पर अनुसन्धान करना चाहिये। यौगिक प्रक्रियाओं में जाकर यौगिक साधना में जाना चाहिये। यौगिक साधना वह है जिसमें मानव ब्रह्म को प्राप्त करके ब्रह्मवेता बनता चला जाता है। जो मानव यौगिक साधना में जाकर साधक बनना चाहता है उसको चाहिये कि वह अपने मन को संयम में लाये। मन को संयम तथा उपरामता में लाने के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक श्वाँस के साथ ब्रह्म का स्मरण हो। ब्रह्म की चेतना का स्मरण करना ही मानव की आत्मपद की चेतना को जागरूकता में लाना है। इस जागरूक चेतना से एक महत्ता का दिग्दर्शन होता है। उसी के द्वारा मानव में मानवता के सुन्दर-सुन्दर अङ्कुर उत्पन्न होते हैं। आचार्यों ने मानव के लिये तप की बड़ी मीमांसा की है। मानव का मन तपने से सुन्दर बनता है। (इक्कीसवाँ पुष्प, २०-७-७० ई.)

आत्मिक शिक्षा ही शिक्षा है। मानव शरीर में जो चेतना है, उसको जानने का नाम ही योग है। (बीसवाँ पुष्प, २९-३-७३ ई.)

योग की परिभाषा में योग का देवता -'ओ३म्' है इसीलिये 'ओ३म्' रूपी सूत्र में प्रत्येक परमाणु पिरोया जाता है। (अट्ठाईसवाँ पुष्प,पृष्ठ २१)

प्रभु चिन्तन से आत्मा का उत्थान

योग की नाना प्रकार की प्रतिभाएँ होती हैं। जैसे एक मानव अपने विचारों से दूसरों को प्रभावित करता है, यह भी योग है। महर्षि पातञ्जलि ने केवल एक ही प्रतिभा प्रकट की है। अपनी प्रवृत्तियों का

निरोध कर लो। यह निरोध तभी होगा जब इन्द्रियों पर संयम होगा, संयम होगा परमात्मा के चिन्तन से। अतः परमात्मा का चिन्तन किया जाये, अध्ययन किया जाये और निदिध्यासक (पुनः चिन्तन) किया जाये। आत्मा का उत्थान तभी होता है जब मानव इस जगत से उदासीन हो जाता है। उदासीन होने के पश्चात् वैदिक परम्परा को अपनाने में सफल हो जाता है। जब

व्यक्ति आत्ममुखी हो जाता है तो उसका आत्मा निर्मल हो जाता है। उसमें किसी प्रकार का विडम्बनावाद या निराशावाद नहीं होता। उस समय मानव यौगिक प्रक्रियाओं में शीघ्रता से सफल हो जाता है।(बीसवाँ पुष्प, १८-२-७० ई.)

यदि मानव चाहे तो वह योगी बनकर, समाधिस्थ होकर; मूलाधार, नाभिचक्र, हृदयचक्र, कण्ठचक्र, घ्राणचक्र, त्रिवेणीचक्र, ब्रह्मरन्ध्रचक्र होता हुआ शून्य चक्र में रमण करता हुआ पृथ्वी मण्डल से सूर्यादि लोकों में पहुँच सकता है। जहाँ विष्णु समान तेजस्वी आत्मा ही निवास करती हैं, वहाँ हम आत्मा के आधार से विष्णु समान विष्णु बन सकते हैं। (प्रथम पुष्प, ६-४-६२ ई.)

योगी बनने की पात्रता

आत्म-दोष निरीक्षण : योगी बनने के लिये सर्वप्रथम अपने विचारों को यथार्थ बनाना है, अपनी त्रुटियों को खोजना है, दूसरों की त्रुटियों को नहीं देखना है। जब हम अपनी त्रुटियों को अच्छी प्रकार खोजने लगेंगे तो उसके पश्चात् धारणा, ध्यान, समाधि में लय होने लगेंगे। इनके द्वारा मन को जानने लगते हैं कि वह कितना तीव्र

चलने वाला है। जिस मानव ने अपनी त्रुटियों को नहीं जाना और कहता है कि परमात्मा की सर्व-विद्याओं को जानने वाला हूँ तो वह उसका केवल अहंकार है। जब मानव अपनी त्रुटियों को देखने लगता है तो उसमें गम्भीरता आ जाती है। (तीसरा पुष्प, ९-१२-६२ ई.)

आहार-व्यवहार की शुद्धता

योगी कभी ऊँचे-ऊँचे गृहां में नहीं पाये जाते, वे तो विलक्षण स्थानों में ही पाये जाते हैं। सूक्ष्म शरीर वाली जीवात्माओं को प्राप्त करने के लिये मानव को जिज्ञासु बनना होगा, अपने आहार-व्यवहार को शुद्ध करना होगा तथा अपने ज्ञान का अन्तर्द्वन्द्व समाप्त करना होगा। (तेरहवाँ पुष्प, २३-८-६९ ई.)

जब मानव संसार में क्षुधा-पीड़ित व्यक्ति को दृष्टिपात कर सकता है और वह योग की कल्पना करें तो यह असम्भव है।(चौदहवाँ पुष्प, २-११-७६ ई.)

माँसाहारी योगी नहीं बन सकता

माँस का भक्षण करने वाले यदि योग में पहुँचना चाहते हैं तो यह असम्भव है। जो मानव यम-नियम का पालन करने वाला नहीं होता, प्राणायाम में जिसकी गति नहीं होती, उसका हृदय और मानवता तपी हुई नहीं होती, तो वह संसार में योगी नहीं कहलाया जा सकता। यौगिक सिद्धान्त सदैव मानवता से सुगठित रहता है। क्योंकि योगी यह जानता है कि मन को कैसे साधक बनाया जा सकता है, तथा प्रवृत्तियों को कैसे साधना में लाया जाता है। मानव के अन्तःकरण में जो मल, विक्षेप, आवरण आ जाते हैं, उनको नष्ट

करने के लिये साधन की आवश्यकता है। साधक वह होता है जो प्रत्येक इन्द्रिय पर संयम करने वाला होता है। जिसके प्राण की गति में ब्रह्मचर्य का मिश्रण होकर ब्रह्मचर्य की ऊर्ध्वगति बन जाती है, उस समय मन और प्राणों की सन्धि हो जाती है। दोनों की सन्धि में रमण करने वाला महापुरुष इस भौतिक जगत में विचलित नहीं होता। विचलित वह होता है, जो अपने जीवन को अपने उदर के लिये कृतिक बना लेता है, तथा द्रव्य को एकत्रित करने का साधन बना लेता है। इस प्रकार के मानव संसार में यौगिक परम्परा को किसी काल में भी नहीं ला सकते। योगी तो कन्दराओं में रहने वाला होता है, वहीं वह चला जाता है। (बीसवाँ पुष्प, १९-२-७० ई.)

सात्विक अल्पाहार अनिवार्य है

जब मानव विशेष मात्रा में अन्न का पान कर लेता है, उदर का भरण कर लेता है, तो वह योगी नहीं बन सकता। जैसे योग का कार्य सूक्ष्म है, ऐसे ही योग का आहार भी सूक्ष्म है और योगी का व्यापार भी सूक्ष्म है, तभी वेद का अध्ययन भी बन जाता है। वेदमन्त्र दिव्यता में परिणत हो जाते हैं क्योंकि वेद प्रकाश है और योग का कुन्दन माना जाता है। (बाईसवाँ पुष्प, १३-२-७४ ई.)

योगी कौन होता है?

योगी वह होता है, जो इस संसार में उदासीन होता हुआ और अपनेपन में, अपने में समाहित रहता है, और जनता-जनार्दन में जनार्दन को दृष्टिपात करता है। (बाईसवाँ पुष्प, २२-९-७३ ई.)

जैसे कृषक अपने खेतों में बीज स्थापित करने से पूर्व विचार

बनाता है, उसके योग्य अपने खेत को बनाता है, तब उसमें बीज स्थापित करता है। इसी प्रकार हमें अपने विचारों को सुदृढ़ बनाकर उसी के अनुसार अपने को बनाने का प्रयास करना है। जीवन तभी बनता है जब हम अपने जीवन में प्रत्येक तरंग को, परमात्मा को समर्पित कर देते हैं। उस समय हमारा जीवन एक महत्ता में परिणत होता चला जाता है। (सत्रहवाँ पुष्प, २३-२-७२ ई.)

मानव जो भी आहार करता है, वह सब उसके विचारों पर निर्भर करता है। मानव वनस्पतियों की सुगन्धि का पान करता है तथा उनका आहार करता है। उन वनस्पतियों को जानकर हमें आयुर्वेद की दृष्टि से अपने जीवन को दीर्घायु बनाने का प्रयास करना चाहिये जिससे हम उस यौगिक महत्व को जानने का प्रयास करें। योगी तभी बनता है जब वह नाना प्रकार की उन वनस्पतियों तथा औषधियों का पान करता है, जिनमें महत्ता और प्रबलता होती है तथा विचार होता है।(सत्रहवाँ पुष्प, २३-२-७२ ई.)

पवित्र अन्न से पवित्र मन

जो मानव यौगिक क्षेत्र में जाने का प्रयास करता है, सबसे प्रथम उसका अपने मन पर अधिकार होना चाहिये। मन की प्रक्रिया आहारों के ऊपर होती है। जैसा आहार होता है, वैसी ही मन की प्रक्रिया होती है। इसीलिये हमें अन्न को पवित्र बनाना है। अन्न कई प्रकार का होता है, जैसे स्थूल, सूक्ष्म और कारण। जैसे शरीर तीन प्रकार के होते हैं, उसी प्रकार इनका अन्न भी तीन प्रकार का होता है। यदि मानव को शरीर में विचरण करते हुए स्वतन्त्र रहना है तो हमें उस

अन्न को पान करना होगा, जिस पर किसी का अधिकार नहीं होता। जब किसी के आहार को पान करेंगे तो हमें उन प्राणियों का गुण गाना भी स्वाभाविक बन जाता है। पवित्र अन्न से पवित्र मन बन जाने पर पवित्र बुद्धि बन जाती है। १-बुद्धि में, २-मेधा, ३-ऋतम्भरा, ४-प्रज्ञा वाली बुद्धि की जो तरंगें उत्पन्न होती हैं वे स्वच्छ रूपों में दृष्टिपात करती रहती हैं।(पन्द्रहवाँ पुष्प, ११-११-७२ ई.)

निद्रा पर विजय कैसे?

योगी को निद्रा पर विजय करना है। निद्रा का शरीर प्रकृति की जड़ता के जड़ तत्त्वों से बना है। उसमें जड़ता का स्वभाव बना हुआ है। जब तक हम उसके स्वभाव की जड़ता को नहीं जानेंगे, उसकी उपरामता तक नहीं पहुँचेंगे तब तक निद्रा को विजय नहीं कर सकते। निद्रा उस काल में विजय होती है जब जड़ता को जान लेते हैं। आलस्य और प्रमाद के स्वरूप को भिन्न-भिन्न रूपों में दृष्टिपात करने लगते हैं। जड़ता प्रकृति में बनी हुई है, प्रकृति सबसे प्रथम आती है, उसके पश्चात् आत्मा। प्रकृति सत् है तथा जीवात्मा सत्-चित्त है। निद्रा का स्वरूप केवल जड़ता में बना हुआ है, चेतना में कदापि नहीं होता। जब जड़ता के स्वरूप को यह आत्मा जान लेता है तो वह अपने स्वरूप चेतना को जान लेता है। तब उसको निद्रा कदापि प्रभावित नहीं कर सकती। (पन्द्रहवाँ पुष्प, ११-११-७२ ई.)

मन-बुद्धि का समन्वय कैसे

जब मानव का आहार पवित्र बन जायेगा तो हमारे चित्त की प्रक्रिया ऊँची बनेगी। चित्त में जो सँस्कारों का समूह है, उसमें आत्मा

विराजमान हो जाता है। यह आत्मा सन्निधानमात्र से चित्त को क्रिया दे रहा है, शून्य को चेतन बना रहा है। वह सन्निधान केवल सँस्कारों से ऐसे कटिबद्ध हो गया है, स्वतः ही उसका स्वभाव बन गया है कि उसको चेतना दे परन्तु जब हम मन के, अन्न के दोषों को समाप्त करेंगे तो उसके पश्चात मन और बुद्धि दोनों का समन्वय हो जायेगा।(पन्द्रहवाँ पुष्प, ११-११-७२ ई.)

आत्मा का भोजन प्राण, श्रोत्र तथा नेत्रों के द्वारा प्राप्त होता है। जब हमारा हृदय और मन पवित्र होते हैं तो घ्राण के द्वारा वायुमण्डल से शुद्ध परमाणु आते हैं जो हृदय को ऊर्ध्व बनाने वाले होते हैं। ये परमाणु मन्द सुगन्ध के द्वारा आते हैं। रूप और वर्ण की आभा नेत्रों के द्वारा तथा शब्दों की आभा श्रोत्रों के द्वारा आती है। हमें नेत्रों और श्रोत्रों पर अपना नियन्त्रण करना होगा। रजोगुणी और तमोगुणी वासना के कारण मानव इस संसार में पतित हो जाता है तथा वह अपने स्वरूप को अपने में समाप्त कर देता है। मन तभी पवित्र बन सकता है जब अन्न पवित्र होगा। (बीसवाँ पुष्प, २८-३-७३ ई.)

आत्म-समर्पण से प्रभु प्राप्ति

संसार में वाक्य उच्चारण करना और योगी बनना, ये दो वाक्य हैं। यदि तुम योगी बनना चाहते हो तो तुममें अपने को समर्पित करने की शक्ति होनी चाहिये। जब तक अपने को समर्पित नहीं करोगे योगी नहीं बन सकते। जब सबसे प्रथम हम अपने को प्रभु के समक्ष समर्पित कर देते हैं तो हममें यौगिक तरंगें ओत-प्रोत होने लगती हैं।

जब बालक क्षुधा से पीड़ित होकर अपने को माता को समर्पित कर देता है। तो उस बालक को माता अपनी लोरियों का दुग्ध पान कराती है। जब पिपासा शान्त होने लगती है तो उसको आनन्द प्राप्त होने लगता है। इसी प्रकार जब हम अपने को प्रभु के समक्ष समर्पित कर देते हैं, अपनी सब कामनाओं को समर्पित कर देते हैं और प्रभु को कण-कण में दृष्टिपात करने लगते हैं तो उस समय वह प्रभु जो हृदयग्रही है, चैतन्य है, देवता है, देवताओं का भी महादेव है, वह अपने पुत्र को अपने में धारण कर लेते हैं और आनन्दमय जो आनन्द है, जिसको परमानन्द कहते हैं, उस सोम को प्रदान कर देते हैं। (सत्रहवाँ पुष्प, २२-२-७२ ई.)

योग के शिक्षक एवँ शिक्षार्थी

पुरातन काल में जब जिज्ञासु गुरु के द्वारा आत्मवेत्ता बनने के लिये जाता, उस समय छः छः माह तक उन्हें वृक्षों का पंचांग दिया जाता था। योग की कल्पना साधारण प्राणी नहीं कर सकता। जब योग के क्षेत्र में जाना विचारोगे, उस समय तुम्हें यह प्रतीत होगा, कि प्रभु के राष्ट्र में योगी के लिये ऐसे-ऐसे विचार और ऐसी-ऐसी गति योगी की होती है कि साधारण आत्मा तो बुद्धि में विचार-विनिमय भी नहीं कर पाता। श्री परमपूज्य ब्रह्मचारी कृष्णदत्त जी महाराज को किसी जन्म में उनके गुरुदेव केवल वट-वृक्ष और जाल-वृक्ष का पंचांग देते थे, इससे मानव की तमोगुणी प्रवृत्ति समाप्त हो जाती थी। जैसे अग्नि में अन्न को तपा देने पर अङ्कुर समाप्त हो जाते हैं, इसी प्रकार योगीजन जब यौगिक मार्ग पर चलता है तो उसका आहार-

व्यवहार इस प्रकार का होना चाहिये, कि वह उन वस्तुओं का पान करे जिससे आत्मा का उत्थान हो। रजोगुण-तमोगुण का विनाश हो जाये। मल, विक्षेप, आवरण रहें ही नहीं। जब मल, विक्षेप, आवरण नहीं रहेंगे तो आत्मा का उत्थान होता रहेगा। दशों प्राणों को एकाग्र मन से एकत्रित करते हुए, उनकी गति कण्ठ के ऊपरले, हृदय के ऊपरले भाग में आ जाती है। ब्रह्मरन्ध्र और कण्ठ के मध्य, नाभि और कण्ठ के मध्य तक प्राण की अव्याहृत गति रहती है। (पच्चीसवाँ पुष्प, १४-८-७२ ई.)

आसन का महत्त्व

प्राचीन काल में योगी साधना के लिये 'स्वातांग आचगन (आजगण) केतु' नाम की औषधि का आसन बनाते थे, जिसमें पृथ्वी की विद्युत् को अपने में धारण करने की शक्ति होती है। जैसे क्षत्रिय सङ्ग्राम में जाता है तो कवच और खड्ग धारण करता है, इसी प्रकार योगी भी मन्त्रों और साधना के कवच को धारण करता है। प्रत्येक इन्द्रिय के द्वारा कवच धारण किया जाता है। वह इन्द्रियों के संकीर्ण गुणों को त्याग करके व्यापक ज्ञानरूपी कवच को धारण करता है। जब वह कवच धारण किया जाता है तो उसको हमारे यहाँ 'ब्रह्म-अस्तित्व' कहा जाता है। जब प्रत्येक इन्द्रिय कवच धारण कर लेती है तो साधक साधना के आसन पर विराजमान है, और उपदेश पान करता है। योगी मध्य में विराजमान होकर साधना, करता है। वह जो वाणी से कहता है, वह उसके मन में प्रतिष्ठित हो जाता है।

साधना से दोषों की शान्ति

जब योगी साधना करता है तो उसके मन की आभा को मन में धारण कर लेता है। धारण करने के पश्चात् वह योगी बनता है और अपने प्राण को ब्रह्मरन्ध्र से लेकर मूलाधार तक, और मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक प्राणों का आवागमन हो जाता है। मन के साथ गमन करता है; आत्मा उन प्राणों के ऊपर विश्राम करता है। जब यह आवागमन करता है तो शरीर में जितने भी दोषारोपण होते हैं उन्हें शान्त कर देता है जैसे अग्नि में अन्न तप करके उपजने योग्य नहीं रहता, इसी प्रकार साधना से वह अन्तःकरण के नाना जन्मान्तरों के संस्कारों को जागरूक करता है और उन्हें दिव्य ज्योति के द्वारा दृष्टिपात करता है।

उषर्बुध कैसे बनते हैं?

दिव्य ज्योति उसे कहते हैं कि यह नेत्र जो बाह्य-जगत को दृष्टिपात करते हैं, जब मन ज्ञान को लेकर अन्तर्मुख हो जाता है तो उस आन्तरिक मुख से, आन्तरिक ज्ञान-चक्षु से नाना जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों को यह दृष्टिपात करता है कि कौन-कौन सा भोग है? यह भोग जो उसके समीप आता रहता है, उसे भोगता रहता है और मन उस कर्म को नहीं कर पाता। प्रायः उस मन के साथ एक सूत्र में आने के पश्चात् विभक्त होना समाप्त हो जाता है। विभक्त करने वाला उसमें लय हो जाता है, तो मन में वे संस्कार नहीं बन पाते। सभी संस्कारों को भोगने के पश्चात् जब कोई भी कर्म नहीं रह जाता तो वह वास्तविक कारण को प्राप्त करता है। उसके पश्चात् वह वास्तविक सोम को प्राप्त करता है। उसको प्राप्त करने के पश्चात् वह परमात्मा

के प्रकाश में रमण करने लगता है, वह परमात्मा का प्रकाश ही अमरावती है। उसके प्राप्त करने के पश्चात् मानव को सोम (ज्ञान तथा प्रभु) प्राप्त हो जाता है। उस मानव को उषर्बुध कहते हैं, वह जीवन मुक्त कहा जाता है। (अट्ठाईसवाँ पुष्प, १७-११-७५ ई.)

साधना

जो अपने मानवीय क्षेत्र को संयम में बनाता है वह साधना कहलाती है। प्रत्येक इन्द्रिय का जो विषय है, उसके संकीर्णवाद को न ले करके व्यापकवाद, जो उसका मूल क्षेत्र है, उसको अपनाने का नाम 'साधना' है। (अट्ठाईसवाँ पुष्प, पृष्ठ-१०)

मन और प्राण दोनों को एक सूत्र में लाने का नाम साधना है।

अन्न-दोष से साधना नष्ट हो जाती है

साधना में जो रूढ़ि बनती है, उसमें जो अभिमान आता है, विडम्बना आती है, वह अन्न के दोष से आती है। इसलिये अन्न पवित्र होना चाहिये। जब अन्न का दोष आ जाता है, तो साधना में अश्लीलता आ जाती है, अभिमान आ जाता है, कहीं निराशा आ जाती है; तो मानव निराश होकर अपने में यह स्वीकार करता है कि मैं क्या कर सकता हूँ संसार में। (सत्ताईसवाँ पुष्प, २-३-७६ ई.)

साधक मान-अपमान को समान करके यमों का पालन करे

इस शरीर की प्रत्येक आभा को जानने का नाम दर्शन है। इन्द्रियों पर संयम करके उनकी तरंगों को स्थिर करने का नाम साधना तथा योग है। तरंगों को स्थिर किये बिना योगसिद्ध नहीं बन सकता। हम अपनी वाणी, नेत्र, श्रोत्र, त्वचा आदि प्रत्येक इन्द्रिय का

अध्ययन करके ऊर्ध्वगति को ले जाते हैं , इन्द्रियों के विषयों को मन में स्थिर कर लेते हैं तथा मन को प्राण में, फिर मन प्राण से आत्मा में स्थिर कर लेते हैं तो आत्मा प्रभु का साक्षात्कार कर लेता है। साधना में प्रथम १-अहिंसा, २-सत्य, ३-अस्तेय, ४-ब्रह्मचर्य, ५-अपरिग्रह आते हैं। इन पर विचार करने से योगसिद्ध आत्मा हो जाते हैं। जो साधक बनना चाहता है, उसे चाहिये कि मान-अपमान में सामान्य रहे। विचारशीलता में रमण करे तथा विचार अधिक करे।अर्थात् एकान्त में विराजमान होकर प्रभु की आभा को विचारे कि प्रभु तू क्या है, कैसा विचित्र है ? ये लोक-लोकान्तर तथा वनस्पतियाँ कैसी हैं ? जब इस प्रकार प्रभु से मिलान हो जाता है तो हमारा जीवन नम्रतामय बन जाता है। मानव को नम्र बनकर इतना सुन्दर होना चाहिये जैसे वाटिका में पुष्प सुगन्धि देता है। हमें विचारों की सुगन्धि में परिणत होना चाहिये।(बीसवाँ पुष्प, २८-३-७३ ई.)

कर्त्तव्य परायणता में अभिमान का त्याग

योग मार्ग पर जाने के लिये सर्वप्रथम काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ का विनाश किया जाता है। आशा के अनुसार कार्य होना या न होना, दोनों ही यौगिक क्षेत्र में बाधक हैं। अतः दोनों को त्यागे जिससे कठिनाई न होने पाये। जब इन्द्रियों के विषय को विचारने लगता है, तो साधक साधना में परिणत होने लगता है। वह काम, क्रोधाग्नि को शान्त करने के लिये शान्त होकर प्रकृति के क्षेत्र में माता वसुन्धरा की उपासना करता है कि हे माता ! मैं नाना प्रकार की धृष्टता को त्यागने का प्रयास करूँगा। १-स्वाध्याय, २-अहिंसा, ३-

सत्य, ४-अस्तेय, ५-ब्रह्मचर्य से नाना प्रकार के साधन बनाकर प्रभु का, तथा वैदिक ज्ञान का आश्रित बनकर, 'ओ३म्' रूपी धागे में प्रत्येक इन्द्रिय तथा उनके विषय को पिरोना चाहता हूँ। मन और प्राण का समन्वय तभी होगा जब संसार में नाना प्रकार के कार्यों को त्यागकर कर्त्तव्यवाद पर आ जायेंगे। कर्त्तव्यवाद उसको कहा जाता है, जब परोपकार को निरभिमानी होकर किया जाये। यदि कर्त्तव्य पारायणता में अभिमान आ गया तो वह कर्त्तव्यवाद नहीं रहता, केवल विडम्बना रह जाती है। वह विडम्बना मानव के सुकृतों का हनन कर लेती है। (बीसवाँ पुष्प, २९-३-७३ ई.)

उद्देश्य पूर्ति के लिये जीवन निर्मल हो

योगाभ्यास करने के लिये निदिध्यासन किया जाता है। निदिध्यासन उसे कहते हैं कि शारीरिक विज्ञान तथा इन्द्रियों की आभा के विज्ञान को साकल्य बनाये। साकल्य सामग्री को कहते हैं, नाना प्रकार की औषधियों को सामग्री कहते हैं। इन्द्रियों के नाना विषयों का साकल्य अथवा सामग्री बनाकर हृदय रूपी वेदी में, ज्ञान की अग्नि में स्वाह कर देना है। जब हम इस प्रकार स्वाहा कर देते हैं तो हमारा जीवन पवित्र और निर्मल बन जाता है तथा इस संसार में मानव का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। (बीसवाँ पुष्प, २९-३-७३ ई.)

अष्टाँग योग

मानव का इस संसार में आने का उद्देश्य यह है कि वह अपनी ध्रुवागति को ऊर्ध्व बनाये। कोई भी मानव अपनी निम्नगति नहीं चाहता, प्रत्येक यह चाहता है कि मेरी ऊर्ध्वगति हो, तथा मैं लोक-

लोकान्तरों का यात्री बनूँ, तथा योग में मेरी विशाल गति हो।

यम

अहिंसा

जो मानव साधना के पथ पर चलना चाहता है वह सबसे प्रथम अहिंसा को अपनाता है, अहिंसा का अध्ययन करता है। अहिंसा का प्रादुर्भाव मानव के हृदय से होता है। इसीलिये हृदय को स्वच्छ निर्मल, और पवित्र बनाना है। हृदय तभी पवित्र होता है, जब मन पवित्र होता है। मन तभी पवित्र हो सकता है जब उसका शोधन किया जाये। मन पर आधिपत्य करने के लिये सर्वप्रथम 'अहिंसा' को अपनाना है। अहिंसा उसे कहा जाता है कि मानव के मन, वचन, कर्म में अशुद्धता के स्थान पर स्वच्छता हो। इस त्रिविध पवित्रता के आ जाने पर हृदय स्वतः पवित्र हो जाता है। जब हृदय पवित्र हो जाता है तो मन की आभा के ऊपर हमारा अध्ययन होता है। संसार को जानने के लिये मन की गति ऊर्ध्व बनाकर स्थिर करना होगा। मन की गति के स्थिर हुए बिना योग सिद्ध नहीं हो सकता। (बीसवाँ पुष्प, २८-७-७३ ई.)

अहिंसा प्रतिष्ठा

एक समय हमने अपने पुज्यपाद गुरुदेव से कहा कि प्रभु ! ये जो हिंसक प्राणी हैं ये तो मानव का भक्षण कर जाते हैं, परन्तु यह आपके चरणों में ओत-प्रोत हैं। पूज्यपाद गुरुदेव ने कहा कि हे वत्स! ये जो हिंसक प्राणी हैं, जब मानव परमपिता परमात्मा के गान गाने

में इतना रक्त हो जाता है अथवा वह प्रभु को इतना समर्पित कर देता है कि उसकी प्रत्येक इन्द्रिय मुक्त हो जाती है, मुक्त होने का अभिप्राय क्या ? मुक्त होने का अभिप्राय यह कि प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषयों से मुक्त हो जाती हैं, प्रत्येक इन्द्रिय संकीर्णता को त्याग देती है। वाणी अग्नि रूप बन गया, घ्राण प्राण रूप बन गया, श्रोत दिशा रूप बन गयी, चक्षु आदित्य रूप बन गये और मन चन्द्रमा रूप बन गया, मानों प्रत्येक इन्द्रिय अपने देवता में प्रतिष्ठित हो गयी। जब प्रत्येक इन्द्रिय अपने देवता में सिमट जाती है तो उसके द्वारा हिंसा नाम की कोई वस्तु नहीं रहती। क्योंकि वे देवता सर्वत्र ब्रह्माण्ड में अपना कार्य कर रहे हैं।

तुम्हें यह प्रतीत होगा जब यह वाणी अग्नि स्वरूप बन जाती है तो कौन सा प्राणी ऐसा है जिसमें अग्नि कार्य नहीं कर रही। वह जो मानव की अग्नि है वह व्यापक बन करके और उसका जो सङ्कीर्णवाद, मिथ्या का जो विषय था, वह समाप्त हो गया। क्यों, यह जो वाणी है इसका स्वभाव है मिथ्या में जाना। मिथ्या क्या है ? इस नाना प्रकार के प्रपंच की गाथा गाने लगती है। यह जो प्रपंच है, इसकी गाथा जब वाणी गाने लगती है, जिनमें कोई रहस्य नहीं होता, तो वाणी को इससे मुक्त कराना है। जब अग्नि की गाथा गाने लगती हैं कि मैं अग्नि रूप हूँ, मेरा तेज ही स्वभाव है तो वह वाणी उन विषयों पर नियुक्त हो जाती है।

इसी प्रकार जब घ्राण मुक्त हो गया, घ्राण मन्द सुगन्ध और दुर्गन्ध को ग्रहण करता है। जब यह इससे मुक्त हो जाती है और यह

स्वीकार करती है कि मैं तो प्राण हूँ। नाभि केन्द्र से प्राण चलता है और ब्रह्मरन्ध्र में रमण करता हुआ घ्राण के द्वारा बाह्य चला जाता है और उन्हीं द्वारों से करोड़ों परमाणुओं को त्याग करके परमाणुओं को अपने आन्तरिक जगत में लाता है। आवागमन का जगत है। नाना प्रकार के परमाणुओं का आवागमन लगा हुआ है इस प्राण, इस घ्राण के द्वारा लगा हुआ है। जब अपने में यह स्वीकार कर लेता है कि मैं तो वही प्राण हूँ जो नाभि-केन्द्र से चला है, मेरी इस मन्द सुगन्ध में निष्ठा क्यों हो जाये ? जब इस प्रकार का विचार उसका बन जाता है तो घ्राण अपने विषय से मुक्त हो करके प्राण बन जाता है।

इसी प्रकार श्रोत्र इन्द्रिय है। जब ये श्रोत्र इन्द्रिय श्रवण करती है तो मिथ्या शब्दों में यह आसक्त हो जाती है। कहीं विषय वासनाओं की चर्चाएँ श्रवण करके मग्न हो रही हैं, और भी नाना वाक्यों को श्रवण करके कहीं राष्ट्रीय वाक्यों को श्रवण करके प्रसन्न हो रही हैं, कहीं दर्शनों का अध्ययन करने में वह अपना अन्न स्वीकार करती है, तो वेद का ऋषि यह कहता है, जहाँ 'श्रोत्रणी ब्रह्मे कृताः अचुताम् (असुताम्) महे असम्भवाः असुतम् विश्वस्ते गृह।'' वेद का ऋषि कहता है कि वे जो श्रोत्र इन्द्रिय है यह नाना प्रकार के विषयों में आसक्त है। उनसे मुक्त होना चाहती है। इसका जो मुक्त होता है वह श्रोत्र दिशाएँ बन गयीं। अब उनका मुक्त होना ही दिशाएँ बनना है। क्योंकि दिशाओं से शब्द आता है, इसी शब्द का ग्रहण किया जाता है। दिशाओं से मेरा सम्बन्ध है। मेरा मिथ्यावादी प्रपंच प्रकृतिवाद से

मेरा विशेष सम्बन्ध नहीं रहना चाहिये। मेरी जो मुक्ति है श्रोत्रें की जो मुक्ति है, मानो व्यापकवाद वाली दिशाओं को जानना है। क्योंकि वेद का ऋषि कहता है कि जब शब्द वाणी से उच्चारण होता है एक क्षण समय में दश योजन ऊर्ध्व गति में वही शब्द इस पृथ्वी के सत्रह समय (१७ बार) परिक्रमा कर जाता है। कितना विशाल यह शब्द है। शब्द का स्थान दिशाओं के उपरान्त अन्तरिक्ष माना गया है, अन्तरिक्ष का जो गुण है वह शब्द है, शब्द ही उसमें ओत-प्रोत रहता है। शब्दों का जो प्रतिनिधि है वह श्रोत्र इन्द्रियाँ है। श्रोत्रें का जो देवता है वह दिशाएँ हैं। जब मानव दिशाओं से मुक्त हो करके दिशाओं में चला गया, व्यापक शब्द बन गया, मुक्त हो गया तो वही श्रोत्र दिशा बन करके अपने में अनुभव कर रहा है कि मैं तो दिशा हूँ, मैं ही दक्षिणा हूँ, मैं ही प्राचीदिग् हूँ, मैं ही उदीचीदिग् हूँ, मैं ही ध्रुवादिग् हूँ, मैं ही उर्ध्वादिग हूँ। इस प्रकार जब इन श्रोत्रों का दिशाओं से सम्बन्ध हो जाता है तो यह अपने विषय से मुक्त हो जाती हैं। उनका बन्धन नष्ट हो गया है।

इसके पश्चात् चक्षु हैं। चक्षु नाना प्रकार के पदार्थों को पान कर रहे हैं और अपना एक नवीन कुटुम्ब बना रही हैं। यह नवीन कुटुम्ब क्या है? यह मेरी माता है, यह पिता है, यह प्रपिता है, यह महापिता है, नाना अपने कुटुम्ब को बनाता रहता है, यह पुत्र पुत्री है। नवीन कुटुम्ब बनाता रहता है। नेत्रों से दृष्टिपात कर रहा है और नवीन कुटुम्ब बनाता रहता है। जब इन विषयों से यह मुक्त होना चाहता है, आदित्य रूप बनना चाहता है आदित्य नाम सूर्य का है ये ही चक्षु

आदित्य रूप बनना चाहते हैं। जब ये आदित्य रूप में प्रवेश कर जाते हैं तो इसका व्यापक रूप बन गया, वही निर्माणवेत्ता बन गया। वेद का ऋषि कहता है ''आदित्याम् ब्रह्मे कृताः औषधा व्रति अस्तो'' वेद का ऋषि कह रहा है कि यही तो आदित्य वनस्पतियों का निर्माण करने वाला है। अरे! यहि तो आदित्य है जो वनस्पतियों को जीवन प्रदान कर रहा है। यही तो आदित्य है जो माता के गर्भ स्थल में बालक को तपा रहा है। यही तो आदित्य है जो मेरी प्यारी माता बसुन्धरा के गर्भ में खाद्य और खनिज पदार्थों का निर्माण कर रहा है। तो यह जो चक्षु रूप है, यह जब आदित्य में प्रवेश कर जाते हैं तो इसका जो सङ्कीर्णपन है, यह मेरी पत्नी है, यह मेरा कुटुम्ब है, इसका जो विषय है उससे यह चक्षु मुक्त हो करके आदित्य स्वरूप बन जाते हैं। जब चक्षु मुक्त हो करके आदित्य बन जाते हैं तो क्या सुन्दरता आती है मानव के द्वारा। इन इन्द्रियों का मुक्त होना ही मोक्ष के द्वार पर जाना है।

आगे वेद का ऋषि कहता है कि यह जो मन है यह इन्द्रियों का विवेक बना हुआ है, यही मन है जो चन्द्रमा रूप बनना चाहता है। मन रसों का स्वादन कर रहा है, वाणी के द्वारा नाना प्रकार के पदार्थ आ रहे हैं, यह मन ही तो उनका स्वादन कर रहा है। ग्रीवा के द्वारा नाना प्रकार का स्वादन पान कर रहा है। इसको मन भी त्यागना चाहता है। इसका जो मौलिक क्षेत्र है वह चन्द्रमा है। चन्द्रमा रस देता है, वह अमृत की वर्षा कर रहा है। यह मन जब चन्द्रमा स्वरूप बन जाता है तो वह भी अमृतमय बन जाता है और यह नाना

प्रकार के प्रपंच को त्याग करके अपने सखा के द्वार पर जाने को तत्पर हो जाता है। यह मन चन्द्रमा स्वरूप बन जाता है। चन्द्रमा रस देता है, कान्तियों के द्वारा अमृत की वृष्टि कर रहा है, यह चन्द्रमा रसों के स्वादन करने वाला है, नाना प्रकार की आभाओं को प्रदान करता है।

मैंने पुरातन काल में कहा है कि माता के गर्भ स्थल में, माता की रसना के निचले विभाग में एक 'चन्द्रकेतु' नाम की नाड़ी होती है उस नाड़ी का सम्बन्ध 'पुरातक' नाम की नाड़ी से होता है और 'पुरातक' नाम की नाड़ी का सम्बन्ध माता की लोरियों से होता है और लोरियों का सम्बन्ध माता के गर्भ स्थल में जो जरायुज है, उस बालक की नाभि से उन नाड़ियों का सम्बन्ध होता है। वहाँ से वह आहार करता है। वही चन्द्रमा वही उसे रस का पान कर रहा है। आयुर्वेदाचार्यो ने वहुत ऊँची उड़ान उड़ी है। आज मैं आयुर्वेद की उड़ान उड़ना नहीं चाहता। विचार क्या कि रसों का स्वादन करने वाला यह चन्द्रमा रस दे रहा है।

कृषक जब पृथ्वी वसुन्धरा के गर्भ में उसकी स्थापना करता है तो उस पृथ्वी के गर्भ में अमृत की वर्षा करता है। पूर्णिमा के दिवस में यह सम्पूर्ण कलाओं से युक्त होता है चन्द्रमा, और इस पृथ्वी को रस से भर देता है। मानव को सोम का पान करा देता है। जब यह मन इन संसार के विषयों से मानों इस सङ्कीर्णता से जब मुक्त होता है तो यह चन्द्रमा स्वरूप बन जाता है।

तो मुनिबरो ! ये इन्द्रियों के देवता हैं और अपने-अपने देवता में

जब ये इन्द्रियाँ प्रतिष्ठित हो जाती हैं तो मानव को मोक्ष का द्वार प्राप्त होने लगता है। यह 'आत्म गृह कृताः।' वेद का आचार्य कहता है कि यह आत्मा स्वयम् चेतना बन करके अपने सखा के द्वार पर चला जाता है। जैसे माता का प्रिय बालक क्षुधा से पीड़ित हो रहा है और जब माता अपनी लोरियों का पान करा देती है, अमृतमय दुग्ध का पान करा देती है जो उस समय बालक प्रसन्न हो जाता है। वह माता अपने हृदय से हृदय का जब मिलान कर देती है तो बालक की क्षुधा शान्त हो जाती है। उसका रुदनपन, व्याकुलपन समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार जब ये इन्द्रियाँ अपने विषय से मुक्त हो जाती हैं, अपने देवताओं में चली जाती हैं तो आत्मा अपने चेतन स्वरूप में रमण करता हुआ वह परमपिता परमात्मा की आभा को प्राप्त कर लेता है।

बेटा ! यह तो मानवीय दर्शन है। मैं मानवीय दर्शन की गम्भीरता में जाना नहीं चाहता हूँ। हमारा यह विचार चल रहा था कि हमारे पूज्यपाद गरुदेव ने यह निर्णय कराया कि जब प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने देवता में प्रतिष्ठित हो जाती है तो उसमें हिंसक-हिंसक नहीं रहता। वह ''अहिंसा परमोधर्मी'' बन जाता है। उस प्राणी की छाया में जो हिंसक प्राणी भी आता है वह भी अहिंसक बन करके चरणों में ओत-प्रोत हो जाता है। जब वाणी से, इन देवताओं की आभा से वातावरण इतना विचित्र बन जाता है, पवित्र बन जाता है तो वे तरंगें आश्रम में रमण करती हैं। वे तरंगें हिंसक प्राणी को छूती हैं तो वह 'अहिंसा परमोधर्मी बन जाता है। मैं साधनाओं में जाना नहीं चाहता हूँ। जब योगाभ्यास साधना में मानव परिणत होता है, नौ द्वारों पर

संयम कर लेता है तो सर्पराज भी उसके चरणों में ओत-प्रोत हो जाते हैं। मुझे वह काल स्मरण आता रहता है जब ऋषिजन साधना करते इन्द्रियों को मुक्त करने के लिये, तो उस समय वायु मण्डल, अन्तरिक्ष लोक, लोक-लोकान्तर उनके लिये खिलावाड़ सा प्रतीत होता है। मानों उसमें यातायात, ऋषि मुनियों का सुगमता से विचरण करने वाला आत्मा होता है। (तीसवाँ पुष्प, २३-९-७५ ई.)

अहिंसा मानव को सुदृढ़ बनाती है

'अहिंसा परमो धर्मः'' का अभिप्राय यह है कि मानव में दृढ़ता तथा कार्य करने की शक्ति होनी चाहिये। जब कार्य करने की शक्ति के साथ दृढ़ता होती है तो कार्य में सफलता प्राप्त हो ही जाती है। संसार में हिंसा मानव को भ्रष्ट कर देती है तथा अहिंसा सुदृढ़ बनाती है। कटुता मानव के सुकृत को नष्ट कर देती है, कटुता में हिंसा होती है। हिंसा राष्ट्र के राष्ट्र नष्ट कर देती है, उसके भयंकर परिणाम होते हैं। (२४-२-७२ ई.)

जब मानव के विचार ''अहिंसा परमो धर्मः'' से सने हुए होते हैं तो उसके हृदय में एक भी परमाणु में हिंसक भाव नहीं रहते। वे ही परमाणु हिंसक प्राणियों के अन्तःकरण को छुआ करते हैं और उनकी अन्तरात्मा को छूते हैं तो उनका हिंसकभाव समाप्त हो जाता है और वे 'अहिंसा परमो धर्मः' को मानने के लिये तत्पर हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि मानव के विचारों तथा हृदय के संकल्पों के समक्ष हिंसक प्राणी भी 'अहिंसा परमो धर्मः' का पालन करने वाले बन जाते हैं।

(दसवाँ पुष्प, ९-११-६८ ई.)

महर्षि श्रृंगी जी ने ऋत् और सत् पर १०० वर्ष तक अध्ययन करने के पश्चात् अहिंसा को अपने अधीन करके लिखा था कि संसार में 'अहिंसा परमो धर्मः' उसी काल में बनता है जब आत्मा का प्रकाश आत्मा को प्रकाशित करता रहता है। जब एक मानव आत्मा के तप से प्रकृति के आवरणों को त्यागने के पश्चात् अपनी साधना और तप के द्वारा अपने को इतना बलिष्ठ बना लेता है कि हिंसक प्राणी भी उसके शरीर की सुगन्ध को अपने श्वास से जान लेता है। हिंसक प्राणियों की घ्राण-शक्ति बहुत बलवती होती है। उनमें एक विशेष सत्ता होती है। जिसको हिंसक प्राणी अच्छी प्रकार अध्ययनशील बना लेते हैं, अहिंसा की सुगन्धि को भी वे जानने लगते हैं। उस सुगन्ध, नेत्रों की ज्योति तथा उनकी तरंगों के आधार पर वे अपने स्वभाव के अनुकूल बना लेते हैं।

महर्षि श्री श्रृंगी जी महाराज की लेखनी से सिद्ध होता है कि यदि इन सब वस्तुओं को मानव अध्ययन कर लेता है तो आत्मा का भाव आत्मा को भासने लगता है। आगे इनका कथन है कि ये सब मन की ही तरंगें हैं क्योंकि भय, ईर्ष्या आदि जितना भी संसार का कृत्य है यह सब प्रकृति से उत्पन्न होता है। अतः हमें प्रकृति के स्वभाव को ही परिवर्तन करना है। प्रकृति के स्वभाव को परिवर्तित करने वाला प्राणी ही मन की आभा तथा तरंगों द्वारा मन को मन से प्रभावित करता है। परन्तु यहाँ प्रकृति की विच्छिन्नता हो जाती है। अनेकों आचार्यों ने अपने विचार इस सम्बन्ध में इसलिये भी व्यक्त

नहीं किये कि कहीं समाज में किसी प्रकार की भ्रान्ति उत्पन्न न हो जाये, क्योंकि अज्ञानता मानव के हृदय में होती है। वह नाना व्याख्यानों से समाप्त नहीं हो सकती। अज्ञानता तो उसी काल में समाप्त होती है, जब मानव अपने को प्रभु के समर्पित कर देता है। जिस समय गुरु ब्रह्माजी महाराज ऋत् और सत् पर व्याख्यान आरम्भ करते थे, तो मृगराज तथा पक्षी भी शान्त हो जाते थे क्योंकि उनके विचार इतने तपे हुए तथा महान् थे। (अट्ठारहवाँ पुष्प, १३-४-७२ ई.)

सत्य

अहिंसा के पश्चात् सत्य को विचारें। सत्य ही ब्रह्म है, सत्य ही जगत है। सत्य का कदापि अभाव नहीं होता। अहिंसा के सिद्ध हो जाने पर सत्य स्वतः ही आ जाता है। सत्य वह होता है जिसमें निस्वार्थता हो। सत्य वाक्य में कोई रहस्य न हो। यदि कोई सत्य कभी असत्यता में परिणत हो जाये तो उससे कोई लाभ नहीं क्योंकि उससे अपमान होता है। ऐसा सत्य जिसके उच्चारण करने से अपमान होता है वह सत्य मानव को असत्यता में परिणत करने वाला होता है। सत्य ही ब्रह्म है जो प्रकृति के कण-कण में व्याप्त हो रहा है।

मानव का सिद्धान्त होना चाहिये कि सत्य को सत्य मानने में या उसके उच्चारण करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये।(दूसरा पुष्प, ३-४-६२ ई.)

अस्तेय

तीसरे स्थान पर 'अस्तेय' आता है। मन, वचन, कर्म एक तुल्य हों। हम स्वप्न में भी अशुद्ध कल्पना न कर सकें, उसे अस्तेय कहा जाता है।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य : केवल रसों की रक्षा करने का नाम ही ब्रह्मचर्य नहीं है। ब्रह्मचारी वह है जो ब्रह्म का चिन्तन करता है। (बारहवाँ पुष्प, ८-४-६१ ई.)

भोग-विलास का जीवन बनाने से इस संसार में कोई लाभ नहीं होता। भोग-विलास का जीवन अस्थिर जीवन होता है, उसमें कोई महत्ता नहीं होती, परन्तु तपोमय जीवन वाले सहस्रों वर्षों तक की आयु भोगने वाले प्राणी होते हैं। भोगी विलासी का जीवन क्षणिक होता है। उसके जीवन की आभा नष्ट हो जाती है। (अट्ठाईसवाँ पुष्प ११-१२-७४ ई.)

यह महापुरुषों का कथन है कि कंचन और कामिनी में अधिक लिप्त हो जाना ही मानव की मृत्यु है। जातीय अभिमान में, अधिक लिप्त होना मानव को रूढ़िवादी बना देता है। जातीयता में कंचन में और कामिनी में ब्रह्म नहीं रहता। ब्रह्म तो इस आत्मा में ओत-प्रोत रहता है। परन्तु उसकी अतीतता में और कृतिता में ही मानव के सुकृत का प्रायः हनन होता रहता है। कामिनी उसको कहते हैं कि जिसमें ज्ञान और विवेक नहीं होता, अर्थात् जो उदासीन नहीं होता। कामिनी वह होती है जो कामातुर रहती है। उसकी कामना में

सङ्कीर्णता तथा अन्धवासना रहती है। एक कन्या कदापि कामिनी नहीं होती। परन्तु यदि उसका धृष्टवत (सतीत्व) नष्ट हो जाये तो वह पुरुष के सुकृत को नष्ट कर देती है।(तेरहवाँ पुष्प, १८-१-७० ई.)

सनत् कुमार ने कहा कि स्मृति से बढ़कर ब्रह्मचर्य है। यह ब्रह्मचर्य ओज और तेज का देने वाला है। यह ब्रह्मचर्य ब्रह्म में रमण करा देता है। आज तुम ब्रह्मचारी बनो, ब्रह्मचर्य की रक्षा करो। यदि हम ब्रह्मचर्य की रक्षा नहीं करते तो हमारा जीवन नाम मात्र है, यह कोई मानवता नहीं है। हे नारद ! यहाँ माता गार्गी ने भी ब्रह्मचर्य की बढ़ी प्रशंसा की है, और कहा है कि ब्रह्मचारी मनुष्य संसार में ऊँचा कहा जाता है, तेजस्वी कहा जाता है, आदित्य कहा जाता है, मृत्युंजय नाम से कहा जाता है, उसको रुद्र कहते हैं। आज इस ब्रह्मचर्य की रक्षा करो। ब्रह्मचर्य से मनुष्य मृत्यु को विजय कर लेता है। हे नारद ! आज तुम ब्रह्मचारी बनो। ब्रह्मचारियों की अनेक वार्ताएँ हैं।

लोमश मुनि ने जीवन भर ब्रह्मचर्य की रक्षा की। देखो, अन्त में कितनी आयु वाले बने और मोक्ष को प्राप्त किया। ब्रह्मचर्य की रक्षा करने वाले महर्षि अगस्त तीन आचमन में समुद्र पान करने वाले बने। आज मनुष्य ने इस रहस्य को जाना नहीं। (तीसरा पुष्प-पृष्ठ १३५)

ब्रह्मचर्य पालन का अभिप्राय है कि मानव को प्रत्येक श्वास के साथ में ब्रह्म का चिन्तन होना चाहिये। तू बारह वर्ष तक प्रत्येक श्वास के साथ में ब्रह्म का चिन्तन कर। एक भी श्वास तुम्हारा ऐसा न हो।

माला उसी काल में कहलाती है, जब एक धागे में मनके पिरोये हुए होते हैं। इसी प्रकार तुम अपनी एक माला को निर्धारित करो। प्रत्येक श्वास तुम्हारे मनके हैं। उन मनकों को तुम एक सूत्र में पिरोने का प्रयास करो। महर्षि वशिष्ठ ने बारह वर्ष तक श्वास के एक भी मनके को धागे से दूर नहीं होने दिया और वे ब्रह्मवेत्ता बन गये।

अपरिग्रह

जिस काल में मानव माया के पीछे पड़ जाता है तो उसका जीवन क्षणभङ्गुर बन जाता है। उस समय मानव का जीवन आज नहीं तो कल अवश्य समाप्त हो जायेगा। द्रव्य पास होने पर भी मानव को प्रभु की आज्ञा के अनुकूल करना चाहिये, और द्रव्य का सदुपयोग करना चाहिये। इसके विपरीत होने पर उसका जीवन क्षण-भङ्गुर रह जायेगा। (तीसरा पुष्प, ७-४-६२ ई.)

सबसे प्रथम तृष्णा को वशीभूत करना चाहिये। तृष्णा से दो तरंगें उत्पन्न होती हें। १-मान और २. अपमान की। मान और अपमान को ऋषियों ने त्यागा। ज्ञान और यौगिकता द्वारा इस पर नियन्त्रण किया। नियन्त्रण की प्रक्रिया को मैं प्रकट करता हूँ।

वह सबसे प्रथम अपने आहार को सूक्ष्म बनाता है। वह अपने आहार को पवित्र बनाने का प्रयत्न करता है। क्योंकि आहार से ही विचार उत्पन्न होते हैं। जब विचार बने तो तृष्णा पर नियन्त्रण होने लगा, तो मान-अपमान भी मानव के सूक्ष्म बन जाते हैं।

तृष्णा से ही काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह इत्यादियों का जन्म

होता है। तृष्णा जब बलवती बन जाती है मानव की, तो इस तृष्णा में एक भयंकर अग्नि होती है और वह जो अग्नि है, वह मानव के पुण्यों को निगलती रहती है। तृष्णा कहते हैं, 'अति कामना का बलवती हो जाना'।

वेद का प्राण 'ओ३म्' है

अन्तरात्मा का मन, बचन, कर्म से एक हो जाना ही अहिंसा की सिद्धि है। हमें प्रभु में ऋत् का अनुसन्धान करके ब्रह्मचर्य धारण करना है तथा धर्म के दश लक्षणों[1] को जीवन में ओत-प्रोत करना है। जब तक इन्द्रियों के रस का मन्थन नहीं किया जाता, तब तक कोई अनुसन्धान नहीं हो सकता। मन कामनाओं का केन्द्र तथा प्रकृति का सूक्ष्मतम तत्त्व है। इसकी दशों प्राणों से सन्धि करना है। वासनाओं पर विजय पाने के लिये प्राणों द्वारा प्रकृति को अपने शासन में लाना अनिवार्य है। प्रकृति के कण-कण में मन और प्राण कार्य कर रहे हैं। सृष्टि की रचना प्राण द्वारा होती है तथा 'नाग' प्राण द्वारा मन इसका विभाजन करता है। मन और प्राण को 'ओ३म्' रूपी धागे में पिरोया जाता है। उससे मानव एक दिव्य-शक्ति प्राप्त करता है। 'ओ३म्' के सूत्र में पिरोने के लिये ज्ञान और विवेक दोनों ही अनिवार्य हैं। वेद और प्रकाश का प्राण 'ओ३म्' ही है।(उन्नीसवाँ पुष्प, ८-३-७२ ई.)

मानवेतर योनियाँ भोग योनि हैं, कर्म योनि नहीं

सिंह आदि माँसाहारी जीवों की मानव की भाँति कर्म योनि नहीं है, केवल भोग योनि है। कर्म करने का अधिकार न होने के कारण अपने आहार के लिये दूसरे जीवों का वध करने से उन्हें पाप नहीं

लगता। परमात्मा के न्याय के अनुसार उनका भोजन इसी प्रकार का है। यह तो सत्य है कि किसी भी हिंसात्मक उपाय से या स्वभावतः जब जीव अपने शरीर से पृथक् किया जाता है तो उसको स्वाभाविक पीड़ा होती है परन्तु कर्मों का विधान तथा भोग ही कुछ इस प्रकार का बनाया है कि सिंह का हिंसा करना तथा जीव का पीड़ा पाना भी कर्त्तव्य हो जाता है। (तीसरा पुष्प, १७-७-६५ ई.)

"अहिंसा परमो धर्मः" का सिद्धान्त यह है कि यदि हम किसी की रक्षा न करेंगे तो हमारी भी संसार में कोई रक्षा न करेगा। अन्तःकरण और प्रवृत्ति के साथ-साथ मानव जीवन का सञ्चार होता है।(सातवाँ पुष्प, १८-७-६५ ई.)

नियम

(१) शौच वाह्य-पवित्रता

तप का मूल मन है और मन का मूल अन्न है। (बीसवाँ पुष्प, २८-३-७३ ई)

योग में प्रविष्ट होने के लिये सर्व प्रथम अन्न पवित्र होना चाहिये। महर्षि दधीचि ने अश्विनी कुमारों से यही कहा था कि सुन्दर विचारों के लिये सुन्दर मन की आवश्यकता है।

महर्षि याज्ञवल्क्य महाराज ने भी कहा है कि मन-शोधन करने तथा उसकी प्रक्रिया को ऊँचा बनाने के लिये हमें पवित्र अन्न की आवश्यकता है।

महर्षि गौतम जी महाराज को उनके पूज्य पिता श्री वरुण महाराज ने कहा था कि "हुत-प्रहुत" को नहीं जाना, तो जाना ही

क्या ? इसको अन्न-जल कहा जाता है। जल के आश्रित प्राण रहते हैं तथा अन्न के आश्रित ही मन की तृष्णा रहती है। अतः हमें सर्व प्रथम अन्न का शोधन करना चाहिये। इसके पश्चात् हमारे मन और प्राण दोनों मिलकर सुगठित हो जाते हैं, तो इसी का नाम योग है। (बीसवाँ पुष्प, १८-२-७० ई.)

जितना भी अन्नादि को दूषित करते रहोगे, उतना प्रकृति के आँगन में रमण करते रहोगे और नाना प्रकार की योनियाँ अशुद्ध से अशुद्ध प्राप्त होती रहेंगी। जितना अन्न के दोषों को दूर करते रहोगे, शुद्ध-पवित्र बनते रहोगे, उतना आत्मसाक्षात्कार के योग्य बनोगे। (पच्चीसवाँ पुष्प, ११-११-७२ ई.)

आन्तरिक पवित्रता

हमें संकल्प धारण करना चाहिये। १. कोई वाक्य मिथ्या उच्चारण नहीं करूँगा। २. किसी प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट नहीं दूँगा। ३. मैं परमात्मा का पूजन करूँगा। ४. देवता और आत्मवैज्ञानिक बनूँगा। ५. अप्रिय पदार्थों का पान नहीं करूँगा। ६. माता, पिता, गुरु, वानप्रस्थियों तथा सन्यासियों की सेवा करूँगा। ७. राष्ट्र पर निष्ठा रखूँगा। ८. अपने शरीर को ब्रह्मचर्य रूपी गहने से सजाऊँगा।

संकल्प के साथ-साथ विवेक तथा परिश्रम भी होना चाहिये। यदि पुरुषार्थ और सøल्प मन-वचन-कर्म से हृदय से होता है तो वह ऊँचे शिखर पर पहुँचा देता है। (चौथा पुष्प, १-४-६३ ई.)

मानव सद्गुणी कैसे बने

हमें दूसरों के दुर्गुणों को दृष्टिपात न करके गुणों को ही देखना चाहिये इससे जीवन में पवित्रता आती है, यदि किसी व्यक्ति में दुर्गुण ही दिखायी देते हैं, अर्थात् उसमें गुण के दर्शन ही नहीं होते तो उसको त्याग देना चाहिये। त्यागने से तात्पर्य उसके दुर्व्यसनों से अपने को पृथक् कर लेना चाहिये। (चौदहवाँ पुष्प, ८-११-६९ ई.)

जो मानव कागा प्रकृति के होते हैं, दूसरों की त्रुटियों को ही देखा करते हैं वे स्वयम् अपनी ही हानि करते हैं। उनका जीवन आत्मग्लानि से अकृत हो जाता है। कागा प्रकृति में न जाकर विचारों में व्यापकता लानी चाहिये। (तेरहवाँ पुष्प, ९-११-६९ ई.)

मनुष्य दूसरों की निन्दा में आनन्द लेता है, तथा अपनी निन्दा सुनने में कष्ट होता है। अपने कष्ट को देखकर ही दूसरों के कष्ट को समझ लेना चाहिये। (तेरहवाँ पुष्प, ९-११-६९ ई.)

मानव को अपने जीनव में पक्षपात को त्यागते हुए तथा हृदय से द्वेष और माया को नष्ट करते हुए, उन्नति के पथ पर अग्रसर होना चाहिये। (तेरहवाँ पुष्प, ९-११-६९ ई.)

संसार में मानव का एक ही कर्त्तव्य है कि दुर्गुणों का त्यागना तथा शुभ कर्मों को अपनाना। (उन्नीसवाँ पुष्प, ३१-१-७० ई.)

जो मानव अपने हृदय में पाप-भावना को लाता है, उसका सुकृत नष्ट हो जाता है। (उन्नीसवाँ पुष्प, २६-२-७२ ई.)

जो मानव दूसरों को हानि पहुँचाता है, उसकी स्वयम् हानि हो जाती है। वह हानि का पुतला बन करके संसार में नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। (तीसरा पुष्प, ८-३-६२ ई.)

मानव स्वार्थवश दूसरों की निन्दा करता है तथा त्रुटियों को निकालता है। इस प्रकार वह स्वयम् त्रुटियों को ग्रहण कर लेता है। अच्छाइयों को ग्रहण करने से वह एक समय अच्छाइयों का पुतला बन जाता है। (तीसरा पुष्प, ८-३-६२ ई.)

आदि गुरु पूज्यपाद श्री ब्रह्मा जी महाराज ने कहा था कि मानव को सत्य से शुद्ध कार्य करने चाहिये। जब मानव सत्य पर आश्रित होकर शुद्ध कार्य करता है, तब सत्य से शुद्ध वाणी न जाने किस-किस आत्माओं का उत्थान कर देती है। (तीसरा पुष्प, १७-७-६३ ई.)

मानव को अपनी वाणी से भी सुगन्धि करनी चाहिये। वाणी उसकी सुगन्धियुक्त होती है, जिसमें मधुरता तथा यथार्थता होती है। उसकी वाणी ज्ञान से सजी होने के कारण वातावरण को पवित्र तथा हृदय को उद्गम बना देती है। यदि मानव का हृदय पवित्र नहीं होगा तो उस वाणी का कुछ भी नहीं बन पाता।

जो मानव अन्तःकरण से वार्ता करता है वह सर्वश्रेष्ठ होता हैं, इसके विपरीत वार्ता करने वाला बौद्धिक पाप करता है। जो मानव अपने तुच्छ स्वार्थ के वशीभूत होकर अपने मन के प्रभाव में आकर नाना प्रकार के मिथ्या उच्चारण करता है वह अपने जीवन को नष्ट करता चला जाता है। इससे आत्मा का हनन होता है। (तीसरा पुष्प, १७-७-६३ ई.)

मन, वचन, कर्म से सत्यवाणी हो

शब्दों का उच्चारण भी अधिकार तथा अनाधिकार को विचार कर करना चाहिये। शब्द विद्युत् का कार्य करता है। विद्युत् का कार्य करता हुआ जिस अन्तःकरण को वह छूता है, वही पवित्र होता चला जाता है। शब्द की गति का तप संसार में एक महान् तप कहलाया गया है। उसकी महत्ता मानव के मस्तिष्क में प्राप्त होती रहती है। ऋषि-मुनियों के मस्तिष्क में वह विषय ऐसे स्थान को प्राप्त होता रहता है, जिसकी आभा को जानने के पश्चात् मानव का जीवन महत्ता में परिणत होता रहता है। (अट्ठारहवाँ पुष्प, १३-४-७२ ई.)

जब कोई मानव शब्दोच्चारण करता है तो वह शब्द महत्वपूर्ण तभी हो सकता है, जब उसमें उच्चारण-कर्ता की तन-मन-धन की प्रवृत्ति संलग्न हो। किन्तु जब शब्द उच्चारण करते समय उसमें मानव का मानसिक संकलन न हो तो वह शब्द शक्तिशाली नहीं होता। इसका कारण यह है कि मानव किसी शब्द का उच्चारण करते समय अपने जीवन का ही प्रतिपादन किया करता है। यदि वे सत्य वाक्य न हों और संकलन सहित न हों तो उसमें चरित्र तथा परिचय की उन वाक्यों में कोई सार्थकता नहीं होती। इसीलिये हम जो वाक्य उच्चरण करना चाहते हैं, वह हृदय से होना चाहिये। हृदय की जो आन्तरिक वेदना है, इसके साथ शब्द की रचना होती है, तो वह रचना विचित्र होती हैं, उसमें ईश्वरवाद होता है। ईश्वर की जितनी रचना है, वह सब सत्य के गर्भ में निहित रहती है। यदि उसकी रचना में सत्य नहीं होगा, तो उस रचना की कोई सार्थकता नहीं होगी।(दसवाँ पुष्प, ९-११-६८ ई.)

मन के रहस्य को जानो

संसार में मानवता की आवश्यकता तो होती है। उसके साथ-साथ ज्ञान की प्रतिभा का आत्मा में प्रकाश होना बहुत अनिवार्य है। इस प्रकाश पर विचार-विनिमय करने वाला आत्मवेत्ता कहलाता है। वह मानवता पर विचार करता है। मन के ऊपर उसका अनुसन्धान होता है, अनुकरण होता है। मन की प्रक्रिया को जानना मानव का कर्तव्य है। मन की प्रक्रियाओं को जानने से मानव एक विशाल वैज्ञानिक बन जाता है। (सोलहवाँ पुष्प, ३-८-७१ ई.)

हमें इस शरीर की अन्धकारमयी गुफा में ज्ञान की वह अग्नि प्रज्वलित करनी चाहिये, जिससे यह गुफा न रहकर ऊँचा सुहावना गृह बन जाये, और हमें आनन्द प्राप्त हो। (सातवाँ पुष्प, ८-११-६३ ई.)

शरीर रूपी गृह को जानो

ऋषि-मुनि एक ही घोषणा करते थे कि हे मानव ! जिस गृह में तुम सदैव रमण करते हो, जिस गृह को तुम सजातीय बनाते हो उस गृह को अच्छी प्रकार जान लो। यही तुम्हारा जीवन कहलाया गया है। हम जिस गृह में रमण करते हैं, जिस गृह में आहार करते हैं तथा जिस गृह के लिए वस्त्र धारण करते हैं, उस गृह को हम यह नहीं जानते कि गृह में क्या-क्या वस्तुएँ हैं ? कितना ज्ञान है ? कितना विज्ञान है? कितनी धाराएँ हैं? प्रत्येक मानव को यह जानना चाहिये कि हमारे गृह में क्या है? तथा हमें किस प्रकार का सुकृत प्राप्त होगा। किस प्रकार के गृह में रमण करते हुए हम मानवता को

सजातीय बना सकते हैं ? इस गृह को जानने का प्रयास करो, जिसमें नेत्र संसार को दृष्टिपात कर रहे हैं, प्राण मन्द-सुगन्ध को ग्रहण करती है, हस्त अपना कार्य कर रहे हैं, दिशाओं के देवता श्रोत्र बने हुए हैं। हमें प्रत्येक इन्द्रिय के विषय को जानकर इनकी सामग्री बनाकर एकत्रित करके अपने हृदय को जानना चाहिये। (तेईसवाँ पुष्प, ४-१०-७१ ई.)

सन्तोष

तृष्णा के त्यागने से काम, क्रोधादि समाप्त हो जाते हैं। तृष्णा उसको कहते हैं कि आज्ञा के अनुसार कार्य हो जाने पर भी और न होने पर भी इच्छा और बलवती होती है। (बीसवाँ पुष्प, २९-३-७३ ई.)

जैसे वायु के वेग से वृक्ष में कम्पनता आ जाती है किन्तु वह स्थिर रहता है, अपनी छाया को नहीं त्यागता, इसी प्रकार जो ऊँचे पुरुष होते हैं, वे इस संसार में वायु रूपी विचार से विचलित नहीं होते। विचार रूपी वायु मानव को विचलित करा देती है। यदि विचलित हो गये तो जीवन समाप्त हो जायेगा। (चौथा पुष्प, ९--७-६४ ई.)

सहनशील बनो

प्रत्येक मानव को गणेश के समान बनना चाहिये। यदि कोई मानव कटु वचन भी उच्चारण कर जाये, तो उसको सहन कर लेना चाहिये। और सहन करके उस पर मनन करना चाहिये। (दूसरा पुष्प, ७-३-६२ ई.)

आत्मविश्वासी बनो

जीवन में हताश वे ही प्राणी होते हैं, जो आत्म विश्वासी नहीं होते। जिनमें आत्मा और मन की सूक्ष्मताएँ होती हैं, वह अपने मानवत्व का मन्थन नहीं करता। जिसे अपनी प्रवृत्तियों पर विश्वास नहीं होता, आत्मा का ज्ञान नहीं होता वह जीवन सदैव विडम्बना में व्यतीत करता है। (नौवाँ पुष्प, १८-७-६७ ई.)

विपत्ति में गम्भीर धैर्यशाली बनो

जो मानव आपत्तियों में अपने महान् विचारों को त्याग देता है, संसार में उससे अधिक कोई पापी नहीं होता। उसका कारण यह है कि यह तो केवल प्रकृति का तथा मनुष्यों के विचारों का आक्रमण है। यदि इन आक्रमणों से वह मानव अपनी वृत्तियों से हिल गया या उसकी शान्त मुद्रा क्रोध में आ गयी तो उसका मानवत्व कोई महत्वदायक नहीं। जो किया हुआ कर्म है, उसको भोगना प्रत्येक मानव का कर्तव्य है। उसे आनन्दपूर्वक यह समझकर भोगना चाहिये कि कर्म हमने किया है, न करते तो न भोगते। (चौथा पुष्प, १९-७-६४ ई.)

सौभाग्यशाली को मानव जीवन मिलता है

सिद्धान्त यह है कि पाप शान्त नहीं होते, वे भोगने ही पड़ते हैं। (सातवाँ पुष्प, २२-८-६२ ई.)

मानव योनि का प्रभु के नियमों के अनुसार मिलना इस बात का द्योतक है कि हम अभागे नहीं हैं। विष्णु की भाँति हम भी शेषनाग की शय्या पर शयन कर सकते हैं। यह तभी सम्भव है, जब हमारे

सर्व पदार्थ, पंच भौतिक तन्मात्राएँ हमारे हृदय में शान्तिदायक बन कर कार्य करेंगी। इसका न होने का कारण हमारे कर्म हैं, क्योंकि हम प्रभु के नियन्त्रण में कार्य नहीं करते। प्रकृति के ये नाना आवेश, नाना चमत्कार जब हमारे समक्ष आते हैं, तो हम इतने तुच्छ बन जाते हैं कि प्रभु के नियमों के विपरीत चलने लगते हैं। इसके विपरीत जब ब्रह्मचारी बन जाते हैं, तो हमारा जीवन उच्च विलक्षण बन जाता है। प्रभु वायु मण्डल, सूर्य, चन्द्र मण्डल, नाना लोकों में शान्ति तथा माधुर्य प्रदान करे जिससे हम प्रभु के नियन्त्रण में प्रभु के अनुकूल कार्य कर सकें। (सातवाँ पुष्प, १२-७-७२ ई.)

विपत्ति में भी शान्तिपूर्वक कर्तव्य परायण रहो

जब मानव पर नाना प्रकार की आपत्तियाँ तथा अज्ञान छा जाये, तो उसे किसी प्रकार अशान्त नहीं होना चाहिये। बल्कि अपने कर्तव्य पर दृढ़ रह कर शान्ति से इस संसार-सागर से पार होते चले जायें। जब मानव अपने कर्तव्य पर दृढ़ रहता है, तो एक समय वह आता है, जब वह परिपूर्ण होकर अपनी समस्याओं को पूर्ण कर लेता है और अपने जीवन को उच्च बना लेता है। जहाँ अशान्ति हुआ करती है, वहाँ मानव का उत्थान किसी प्रकार भी नहीं हो सकता। जिस समय आत्मिक शान्ति मिल जाती है उस समय मानव उच्च बन जाता है, उसका उत्थान हो जाता है। ज्ञान मार्ग ही ऐसा है जिसको ग्रहण करके आत्मिक शान्ति मिलती है। ज्ञान वेद विद्या से आता है, वेद-विद्या हमारे लिये परमात्मा ने प्रकाशित की है, जिसको पाकर मानव अपने जीवन को ऊँचा बना लेता है। उस स्थिति को प्राप्त कर लेता

है, जो वास्तविक है। इस स्थिति को प्राप्त कर मानव परमात्मा में रमण करने वाला बन जाता है। (तीसरा पुष्प, ८-३-६२ ई.)

उन्नति की सिद्धि का पथ

वास्तव में ऊँचा बनने से ही (ऊँचे) बनेंगे। जब तक मन की गतियों को नहीं जाना जायेगा, अपनी मानवता पर दृष्टि नहीं पहुँचाई जायेगी, अपने आहार-व्यवहारों को नहीं विचारेगें तब तक मानव की आत्मा में शान्ति प्राप्त नहीं होगी। मानव जो कर्म करता है, भोगना ही पड़ता है। शान्ति को लिये शुद्ध-व्यवहारों को नहीं विचारेगें तब तक मानव की आत्मा में शान्ति प्राप्त नहीं होगी। मानव जो कर्म करता है, भोगना ही पड़ता है। शान्ति के लिये मानव को शुद्ध आहर, स्वच्छ व्यवहार और नाना बौद्धिक पापों से बचने का प्रयत्न करना चाहिये। यह मानव के चलने के लिये प्रथम श्रेणी है। (पाँचवाँ पुष्प, १९-८-६२ ई.)

हमें यह जानना चाहिये कि कर्मठता ही जीवन है, अकर्मठता ही मृत्यु है। (तेरहवाँ पुष्प, १८-१-७० ई.)

किसी भी मानव या देवकन्या को यदि अपने जीवन में ऊँचा बनना है तो परिश्रम आवश्यक है। भगवान कृष्ण ने भी यही कहा कि भाई! परमात्मा को जानने के लिये निष्काम कर्म और इन्द्रियों को शासन में करना है। मन की तीव्रगति और अनतःकरण को जानना है। (सातवाँ पुष्प, २२-८-६२ ई.०

जो मानव द्रव्य एकत्रित करने में नाना प्रकार के पाप किया करते हैं, वे इस योनि को तो आनन्द से भोग जाते हैं, किन्तु आगे

उनको ऐसी योनियाँ मिलती हैं, जहाँ प्रकाश का अङ्कुर भी नहीं मिलता। वे पिछले जन्मों के पुण्यों को यहीं दे जाते है। (पाँचवाँ, पुष्प, १८-८-६२ ई.)

अर्जित धन के चार भाग

मनुष्य जो द्रव्य कमाता है, उसके चार भाग कर देने चाहियेँ तभी वह सन्तोष और आनन्द का जीवन बिता सकता है।

१-पहला भाग उनको देना चाहिये जिनसे लिया है, वे हैं माता-पिता जिन्होंने पाल कर उच्च बनाया है।

२-दूसरा भाग वेदों के विद्वानों, वेदों का प्रचार करने वालों, सदाचारी ब्राह्मण, अतिथियों तथा महान् योगियों की सेवा में लगाना चाहिये, या दान देना चाहिये यह परलोक में प्राप्त होगा।

३-तीसरा भाग ऋण का भुगतान करने में देना चाहिये।

४-चौथा भाग अपने तथा परिवार के पालन पोषण के लिये रखना चाहिये।

तप

योग : महर्षि पातंजलि महाराज का वाक्य है कि ''चित्त वृत्ति निरोधः योगः'' (योगश्चित्तवृत्ति निरोधः। समाधिपाद-१ सूत्र-२) चित्त की वृतियों को एकाग्र करना ही योग है। उसे ज्ञान से करो या विज्ञान से करो। इन्द्रियों का सम्बन्ध मन से होता है, मन का चित्त से होता है तो चित्त एक विशाल रूप धारण कर लेता है। इससे आगे चलकर श्रेणियाँ बनती हैं। जैसे १-माधूक श्रेणी, २-अनूक श्रेणी, ३-चन्द्रणी श्रेणी, ४-मनइंचति श्रेणी, ५-ब्रह्म श्रेणी, ६-रागोणी श्रेणी, ७-

अधिनायक श्रेणी या ८-ब्रह्मरन्ध्र श्रेणी आदि अनेकों हैं। (चौथा पुष्प, १९-७-६४ ई.)

प्रश्न : तप की मीमांसा क्या है ? जो मानव तपस्वी बनना चाहता है उसके पास कौन सी ऐसी प्रतिभा है, जिसके द्वारा वह तप को प्राप्त हो जाता है ?

उत्तर : वह तप है कि प्रत्येक इन्द्रिय को संयम में रखना, आहार और व्यवहार सुन्दर होना। उसका वाणी पर संयम हो तथा प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने संयम में हो। ऐसा मानव संसार में साधक बनने तथा यौगिक प्रक्रिया के यौगिक आसन पर, यौगिक मार्ग पर जाने के लिये वह अपनी एक प्रतिभा बनाता है। उस प्रतिभा से ही जगत को उन्नत बनाया जाता है।

१-तप की मीमांसा करने मे सर्वप्रथम आहार है, उसमें हिंसा नहीं होनी चाहिये। जब मानव किसी प्राणी को नष्ट करता है, तो उसके प्राण दूर चले जाते हैं, उसके रक्त और माँस के कण-कण में हिंसा ओत-प्रोत हो जाती है। जब मानव उस हिंसा भरे आहार को पान करता है तो उसमें जो भ्रष्ट-हिंसक सूक्ष्म परमाणु होते हैं, वे मानव की प्रकृति को नष्ट-भ्रष्ट करते चले जाते हैं। अतः यौगिक प्रक्रियाओं की साधना में जाने के लिये मानव को 'अहिंसा परमो धर्मः' की वेदी पर इतना चला जाना चाहिये कि हिंसक प्राणी भी उसके लिये सामान्य हो जाये। ऐसी विचारधारा ही जगत को उन्नत बनाती चली जाती है। (ईक्कीसवाँ पुष्प, २०-७-७० ई.)

इन्द्र बनें

हमें अपनी इन्द्रियों का स्वामी बनने के लिये तप करना है, तभी उनका शोधन हो पायेगा। श्रोत्रोन्द्रिय का देवता ये दिशाएँ (आकाश) हैं, घ्राण का देवता पृथ्वी है, प्राणों का बिछौना जल तथा ओढ़ना अन्न है। मन का बिछौना अन्न है क्योंकि अन्न की प्रतिभा से मन की उत्पत्ति होती है, उससे स्मरण शक्ति आती है। स्मरण-शक्ति ज्ञान का केन्द्र है। इसलिये मानव को योगी बनने के लिये मन और प्राण की एक सन्धि करनी है। मन से शक्तिशाली कोई वस्तु है तो वह प्राण है। इन्द्रियों का स्वामी मन है। मन का शोधन अन्न के द्वारा करके उसको प्राण में परिणत कर देना है। जब यह मन प्राण में संलग्न हो जाता है, फिर कहीं नहीं जाता। महर्षि कपिल जी ने तो अपने नास्तिकवाद में मन और प्राण को ही संसार का रूप बताया था। निष्कर्ष यह है कि मानव जीवन का उत्तमता से शोधन करते हुए यज्ञवेदी सदृश इस मानव जीवन को स्वीकार करके इस यज्ञवेदी को पवित्र बनाये। महान् उत्तम बनायें, जिससे इस संसार सागर से पार हो जाये। हमारा इस संसार में आने का यही उद्देश्य है कि मानव जीवन को उन्नत बनाना, त्यागी व तपस्वी बना कर मन और प्राणों को एकाग्र करना है। (चौदहवाँ पुष्प, १२-८-७० ई.)

वेद कहता है कि मानव को तपना चाहिये।१ समुद्र में जल तपता है तो सुन्दर वृष्टि होती है। सूर्य-चन्द्र सभी तपते हैं। आपो तपता है, तो प्राण अपनी सुन्दर गति से रमण करते हैं। जब मानव तपस्या में परिणत हो जाता है, तो उसके जीवन में उद्बुद्धता तथा उद्गमता आ जाती है। वह उद्गीत गाता है तथा यज्ञशाला में उद्गाता

और अध्वर्यु बनता है। माता तपकर प्रिय बालक को जन्म देती है। (चौदहवाँ पुष्प, १२-८-७० ई.)

अध्ययन का नाम अनुशासन है। जब साधक इन्द्रियों पर अनुशासन कर लेता है, उन्हें अर्न्तमुखी कर लेता है, तो उसमें अहिंसा स्वतः उत्पन्न हो जाती है। इन्द्रियों पर अनुशासन के पश्चात् उनका रस द्यु-लोक को प्राप्त हो जाता है। इन्द्रियों का मन्थन करके जो फोम (झाग) बनता है, उससे अज्ञान रूपी दैत्य को समाप्त किया जाता है। (बीसवाँ पुष्प, २९-३-७३ ई.)

यज्ञ की महत्ता

आज मैं तुम्हें कुछ वार्ताएँ प्रकट कराने आया हूँ। जो प्रारम्भ का मन्त्र कह रहा है, वेद का ऋषि कह रहा है ''याज्यां ब्रहो कृताः असवान वृही व्रताः'' वेद का ऋषि यह कहता है, आचार्य कह रहा है कि मानव को याज्ञिक कर्मों में परिणत हो जाना चाहिये। क्योंकि याग मानव का कर्तव्य है। यह ऐसा अपरोक्ष कर्म है जिसमें मानव की प्रवृत्ति नहीं बनती। एक मानव याग कर रहा है, हूत कर रहा है, प्रूत कर रहा है। यह दोनों ही कार्य इस प्रकार के हैं जिससे समाज और मानवता तथा वायु मण्डल इससे पवित्र होते हैं। मानव के मुखारविन्द से जब शब्द उच्चारण होते हैं, उन शब्दों के साथ चित्रण होता रहता है जो अन्तरिक्ष में गति करता है। अन्तरिक्ष में जो अशुद्धवाद है उसे नष्ट करता है। इसलिये याग में मानव के विचरने से ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें रूढ़ि-वृत्ति पास नहीं आतीं। यही स्वरूप है जो मानव को आध्यात्मिकवाद में परिणत कर देता है।

इससे पूर्व शब्दों में मैं भगवान राम की चर्चाएँ कर रहा था। भगवान राम की चर्चा करते हुए ऐसा उच्चारण कर रहे थें कि उन्होंने संसार को विजय करने के पश्चात् अपना एक याग किया। जिसको राजसूययाग कहते हैं। याग के पश्चात् भगवान राम ऋषियों के मध्य बिराजमान हैं। महर्षि वशिष्ठ, महर्षि विभाण्डक और महर्षि भारद्वाज आदि ऋषिवर विराजमान हो गये। उनके मध्य में राम, लक्ष्मण और सीता हैं। भगवान राम ने कहा कि मैं इस याग का भौतिक रूप ही जानता रहा हूँ। इसका यदि और कोई स्वरूप है तो वर्णन कीजिये। महर्षि भारद्वाज और महर्षि विभाण्डक ने कहा कि इसके दो स्वरूप हैं-एक तो आध्यात्मिक वाद है और एक भौतिकवाद है। भौतिकवाद तो यह कि परमाणु गति करता है, अशुद्ध परमाणुओं को निगलता है। अपना स्वरूप जो परमाणु शुद्ध हो करके याग में से साकल्य बन करके उनका प्रसारण करता है, तो वह वायु मण्डल को शोधन करता है, शोधन तो वनस्पतियाँ भी किया करती हैं।

परमात्मा का याग जैसे एक मानव सुगन्धि के द्वारा याग रचा रहा है, यह बुद्धिमानों का कर्तव्य है। आदि ब्रह्मा ने, आदि-आदि महापुरुषों ने यह निर्णय दिया कि इस याग में जैसे मानव निर्द्वन्द्व है, इसी प्रकार सुगन्धि युक्त होना चाहिए। सुगन्धि-युक्त कैसे बनेगा ? अग्नि में साकल्य का दाह कर। सुगन्धियों के दाह को याग कहते हैं। वह सुगन्धि को वायु- मण्डल में प्रसारित करता है, सुगन्धि करता है। भगवान राम से विभाण्डक जी कहते हैं, कि हे राजन्! तुम्हारा जो जन्म है वह सूर्य वंश में हुआ है। तुम्हारी जो प्रखर बुद्धि है वह

विचित्र है। परम्परा से तुम्हें यह प्रभु की अनुपम देन है, इसमें जीवन की सार्थकता निहित रहती है। हे राम! उसका एक तो यह स्वरूप है। जब यजमान साकल्य देता है अग्नि को, वह वायु मण्डल में प्रसारित करता है। उसके विचार जो पवित्र हैं, निस्वार्थ हैं, वे वायु मण्डल में प्रसारित होते हैं। इसी प्रकार एक आध्यात्मिक जो अग्रही है, वह यह है कि जब हम इस याग को कर्म काण्ड से युक्त करते हैं यही कर्म काण्ड हम अपने शरीर में भी दृष्टिपात करते हैं। जैसे एक यजमान है, ब्रह्मा है, उद्गाता है, अध्वर्यु है और होताजन हैं; और जब याग करते हैं, एक मन्त्रार्थ उच्चारण कर रहा है, एक मन्त्रार्थ को दृष्टिपात कर रहा है, दूसरा यज्ञ का स्वामी बना हुआ है और चतुर्थ कर्म काण्ड का अधिपति माना गया है। जो अपने-अपने कार्यों में रत रहता है। इसी प्रकार मानव अपनी प्रवृत्ति को ऊर्ध्व गति में ले जाता है, ऊर्ध्वगति में ले जाता हुआ शरीर में स्वतः याग होता है। जब मानव आध्यात्मिक याग के लिये जिसे पांचक-याग कहते हैं।

महर्षि याज्ञवल्क्य महाराज ने उस याग को पांचक याग माना है। पांचक याग का अभिप्राय यह है कि वह जो पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं अथवा पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं, कर्मेन्द्रियों का जो विषय है वह ज्ञानेन्द्रियों में प्रसारित हो जाता है अथवा उसमें निहित हो जाता है। जैसे मानव कर्म करता है, क्रियाओं से वह क्रिया न रह करके क्रियाओं की जो आभा है वह ज्ञान में परिणत हो जाती है। वह ज्ञान से कर्मकाण्ड में परिणत हो जाता है और ज्ञानेन्द्रियों का जो विषय है, वह जो पांचक साकल्य बन गया है यह ज्ञान रूपी अपने विचारों में, अन्तरात्मा में

हूत कर रहा है।

अन्तरात्मा में कैसे ? शान्त मुद्रा में विराजमान है। उसके पश्चात् जब उसकी तरंगें, उसकी आभाएँ, उसका जो विषय हैं वह उस विषय को अन्तरात्मा में ध्यानावस्थित होता है उस विषय को ले करके। वह जो ज्ञान रूपी अग्नि प्रज्वलित हो रही है उसमें वह हूत कर रहा है, उसमें स्वाहा दे रहा है, वह बाह्य संसार को समाप्त करके, आन्तरिक जगत को दृष्टिपात कर रहा है, उसको पांचक याग माना है। पांचक याग का अभिप्राय यह है कि हमारे यहाँ पाँच इन्द्रियों के विषय को ले करके, उनका साकल्य बना करके उसको जब स्वाहा कहता है तो उस योगी का अन्तरात्मा प्रचण्ड हो जाता है। उस समय जो विभक्त करने वाली शक्ति है, विभाजन होने वाली शक्ति है, दोनों एक सूत्र में पिरोये जाते हैं, एक माला के मनके बन करके वह अन्तरात्मा में हूत हो रहा है। आत्मा, मन, बुद्धि और प्राण जब तीनों एक माला के मनके बन करके एक माला में पिरो दिया जाता है, तो यह पांचक याग बन जाता है।

जब महर्षि विभाण्डक ऋषि ने भगवान राम को यह दृष्टिपात कराया तो उनका अन्तरात्मा गद्गद हो गया। विचार-विनिमय यह कि हमारे यहाँ दो प्रकार के स्वरूप माने जाते हैं। एक आध्यात्मिक और दूसरा भौतिकवाद। इनमें यह विशेषता है कि आध्यात्मिक और भौतिक में रूढ़ि नहीं है। क्योंकि याग ही एक ऐसा शब्द है, ऐसा कर्म है, जिसमें रूढ़ि दृष्टिपात नहीं आती। एक मानव अपने गृह में इसे बहुत ऊर्ध्व में कह रहा है परन्तु उसके द्वारा नाना प्रकार के पदार्थ

विराजमान हैं। नाना मित्र आते हैं, भोजन इत्यादि को पान करते हैं। पदार्थों का पान कर रहे हैं परन्तु उसमें रूढ़ि बन जाती है। वह अपने शत्रुओं को निमन्त्रण नहीं देता और जिस समय मानव याग करता है तो शत्रुओं को बिना निमन्त्रण के भी वह वस्तु उनको प्राप्त हो जाती है तो उसमें रूढ़ि नहीं रही। क्योंकि रूढ़ि का अभिप्राय यह है कि जो सङ्कीर्णवाद हैं। उसमें रूढ़ि रहती हैं। एक मानव अपने मित्रें के यहाँ ब्रह्मयाग कर रहा है, ब्रह्म विचारों का याग कर रहा है। वे विचार तो वायुमण्डल में प्रसारित हो रहे हैं। उन विचारों में याग नहीं है, उन विचारों में पदार्थों की सुगन्धि नहीं है। विचार की तो है परन्तु यह ऊर्ध्वगति वाला योगी विचारता है कि वह विचार मेरे मस्तिष्क में भी आयेंगे। जिस समय यह मानव ब्रह्मयाग कर रहा है अपने गृह में तो उसके द्वारा रूढ़ि नहीं होती है। ब्रह्मयाग करने से पूर्व यदि मानव के मस्तिष्क में रूढ़ि न रहे अर्थात् संसार में मेरा कोई शत्रु नहीं सर्वत्र जगत मेरा मित्र है, प्राणीमात्र मेरे मित्र हैं तो वह रूढ़ि नहीं बनती है। एक स्थान में तो ब्रह्मयाग है, एक स्थान में उसका बाह्य जगत है, बाह्य व्यापार है, उस बाह्य व्यापार में शत्रुता के अङ्कुर उसके हृदय में निहित रहते हैं तो उस याग में भी रूढ़ि बन सकती है परन्तु सुगन्धि का जो याग किया जाता है उसमें रूढ़ि कदापि नहीं बनती। आज हम यौगिक क्षेत्र में जाने का प्रयास करें, आज हम पांचक-याग करने वाले बनें। (उन्तीसवाँ पुष्प, २३-५-७५ ई.)

पंचक यज्ञ

पंचक यज्ञ में आत्मा को शुद्ध किया जाता है। महर्षि पातंजलि

आदि ऋषियों ने जो तप की व्याख्या करते हुए चित्त की वृत्तियों का निरोध करने की बात कहीं है वही ''पंवक यज्ञ'' कहलाता है। आत्मा को शुद्ध करने में हृदय को शान्त किया जाता है। चित्त उस समय शान्त हो जाता है, जब मानव में क्रोध ममता, मोह और अभिमान न रहे। इन सबके समाप्त होने पर तप ही तप आ जाता है। तप का तात्पर्य यह है कि प्राण की अग्नि में इन्द्रियों को तपाना। इन्द्रियों को संयम में लाने वाला पुरुष इन्द्रियों को संयम में लाकर शुद्ध कर लेता है। इस प्रकार वह पंचक यज्ञ करने वाला पुरुष गायत्री छन्दों का विवेकी बन जाता है। गायत्री छन्दों का अभिप्राय यह है कि गायत्री तो गायी जाती है तथा छन्दों को धारण किया जाता है। आभाओं का जन्म होकर चित्त में जो तरंगें उत्पन्न होती हैं, उनका नाम छन्दावली है। उन तरंगों को अन्तःकरण में ही समाविष्ट कर लेना चाहिये। (इक्कीसवाँ पुष्प, पृ. ६६)

मानव की सर्वप्रथम श्रेणी (कर्त्तव्य) यह है कि वह विधाता से १-वाणी, २-श्रोत्र, ३-चक्षु, ४-त्वचा, ५-भुजाओं, ६-उपस्थ इन्द्रियों तथा ७-पदों में बल माँगे। (पाँचवाँ पुष्प, १९-७-६२ ई.)

यहाँ मानव दुरित के लिये नहीं आता। वह इस वाणी से यथार्थ उच्चारण करने के लिये आता है। जो मानव यहाँ अशुद्ध उच्चारण करते हैं, अगले जन्म में परमात्मा उनसे इस वाणी को छीन लेते हैं। अतः अशुद्ध उच्चारण नहीं करना चाहिये, इससे मानवता नष्ट होती है। इसी प्रकार मानव की प्रत्येक इन्द्रिय यज्ञमयी होनी चाहिये। प्रत्येक इन्द्रिय से शुभकामना तथा शुद्ध तरंगें उत्पन्न होनी चाहिये। शब्द शुद्ध हों,

महत्ता वाले हों तथा विचार वाले हों। हमारी घ्राणेन्द्रिय सदा यज्ञ की सुगन्धि को पान करती रहे। हमारी त्वचा सदैव संसार में स्नेह-युक्त और ज्ञान-युक्त स्पृश्यता को ग्रहण करती रहें। रसना में शुद्ध वातावरण वाला अन्न हो, शुद्ध वाक्य हों, इस प्रकार जब प्रत्येक इन्द्रिय अपना-अपना कार्य शुद्ध रूपों में करती है तो यज्ञमय बन करके उसकी इसी यज्ञ तक नहीं, देवताओं के यज्ञ में, द्यु-लोक में उसका वास होता है। इसीलिये द्यु-लोक की समिधा मानव का विचार है। ज्ञानरूपी अग्नि के द्वारा जब विचारों का उच्चारण किया जाता है तो वह अग्नि से सना हुआ विचार मानव को द्यु-लोक को प्राप्त करा देता है। (सत्रहवाँ पुष्प, २५-२-७२ ई.)

जिस प्रकार एक बुद्धिमान वेद-मन्त्रों को मन्थन करके उनका सरल से सरल अनुवाद कर लेता है, इसी प्रकार हमें अपने जीवन को इतना सरल अनुवाद कर लेना है, हमें अपने जीवन को इतना सरल और नम्र बना लेना चाहिये कि हम महान् और विचित्र बनते चले जायें।(तीसरा पुष्प, १२-३-६२ ई.)

मानव में आत्मा को जानकर आत्मवेत्ता बनने की इच्छा रहती है। जितने कर्त्तव्य हृदय को कष्ट देने वाले होते हैं, उनसे आत्मा का ह्रास होता है। यदि हम संसार में उज्ज्वल और महान् बनना चाहते हैं तो हमें आत्मा का हनन नहीं करना चाहिये। आत्मा का हनन वे करते हैं, जिनका इन्द्रियों पर संयम नहीं होता और जो मान-अपमान में संलग्न हो जाते हैं। यह मान अपमान ही मानव की मृत्यु कहलाती है। परमात्मा को न जानने से जनता-जनार्दन में, हम अपनेपन में ही

अपना अनुभव करने लगते हैं कि मेरा अभिमान नष्ट हो गया, मेरा अपमान हो गया, मेरा मान होना चाहिये। वास्तव में मान-अपमान तो एक सूत्र में ही पिरोये हुए हैं, इनसे मानव ऊँचा नहीं बनता। मानव तभी ऊँचा बन सकता है, जब वह परमात्मा के आँगन में जाकर निरभिमानी और उदार हो जाता है। मान-अपमान की तरंगें उसको छू नहीं पातीं, वही तो महापुरुष कहलाया गया है। संसार में मानव को दो ही वस्तुएँ मिलती हैं, मान या अपमान। यदि मानव इस मान-अपमान में सुगठित हो गया तो जानों कि वह जन्म-जन्मान्तरों का पथिक बनता है। जन्म-जन्मान्तरों में ले जाकर मान-अपमान की प्रतिभा मानव को नरक के द्वार पर ले जाती है। वास्तव में मानव का नरक का द्वार तो तब बन जाता है, जब वह अपने कर्त्तव्य से स्वयम् निराश हो जाता है। यह कर्त्तव्य से निराशा ही तो मृत्यु है तथा यही नारकीय बनता है। (सत्रहवाँ पुष्प, १७-१२-६९ ई.)

हे मानव ! यदि तुम निरोध ही करना चाहते हो तो उस इच्छा का प्रयोग अपने मान अपमान को शान्त करने में करो। यदि घृणा करनी है तो अपने काम, क्रोध, मद, लोभ से करो। (सातवाँ पुष्प, २२-८-६२ ई.)

संसार में जितना भी मानवीय विज्ञान है वह मानव के हृदय में है। मानव शरीर में मन और प्राण के समन्वय का नाम योग है। योगी बनने से पूर्व मानव को संसार की नाना प्रकार की प्रक्रियाएँ, प्रकृति के वातावरण तथा उसकी चंचलताओं को अपने हृदय में समाहित करना होगा। जब इन्द्रियों के विषय का निरोध करते हुए मन और

प्राणों का समन्वय हो जाता है तो वह मानव योग-सिद्ध हो जाता है, वह योगी कहलाता है। योगी की दृष्टि में हिंसा-अहिंसा कुछ नहीं रहती, वह सदैव आनन्द मार्ग के लिये लालायित रहता है। प्रकृति के ऊपर उसका शासन होता है। योगी की प्रखर बुद्धि होती है तथा प्रखर विचार होते हैं और वह महत्ता में रमण करने लगता है। हिंसक प्राणी भी उसको कष्ट नहीं दे सकते।(बीसवाँ पुष्प, २९-३-७३ ई.)

स्वाध्याय

जिस मानव ने आध्यात्मिक क्षेत्र में आ करके आध्यात्मिक ज्ञान-विज्ञान को नहीं जाना और उच्चारण ही उच्चारण करता है तो यह उसका केवल वाणी का रस रह गया है। शेष इन्द्रियों, श्रोत्रों, नेत्रों, उपस्थ इन्द्रिय, गुदा इन सबका विषय शान्त कर केवल वाणी का विषय लेकर आगे बढ़ा है। जो लोग केवल वाणी का विषय लेकर आगे बढ़ते हैं, वे ज्ञान और विज्ञान में अधूरे रहते हैं। ज्ञानी तो बन जाते हैं परन्तु आध्यात्मिक वैज्ञानिक नहीं बनते। संसार में कार्य तभी चलेगा जब मानव के द्वारा आध्यात्मिक विज्ञान होगा। आध्यात्मिक विज्ञान उसी काल में आयेगा जब हम किसी विषय को जानने के लिये शनैः शनैः योगी बनेंगे, तपस्वी बनेंगे।(तीसरा पुष्प, ९-१२-६२ ई.)

हमें जानकारी प्राप्त करने में किसी भी समय हताश नहीं होना चाहिये। चाहे हम राष्ट्रवाद में रहें, भौतिकवाद में रहें या आध्यात्मिकवाद में। शनैः शनैः ज्ञान करते-करते अन्त में यौगिकता में पहुँच जायेंगे। इससे उन पर अधिकारी बन जायेगे। हमें प्रभु का

चिन्तन करने में सदैव संलग्न रहना चाहिये। यदि हम भौतिक-विज्ञानवेत्ता बनें तो उसमें भी हताश न होकर शनैः शनैः जानकारी बढाते चले जाने पर एक समय अवश्य ही ऊँचे शिखर पर पहुँच जायेंगे। यदि सार्वभौम बनकर प्रकृति को जानना चाहते हो तो प्रकृति के गर्भ से दूर हो करके परमात्मा के गर्भ की याचना करें। वहाँ पहुँच कर प्रकृति को अच्छी प्रकार जान सकें।(आठवाँ पुष्प, अप्रैल ६५ ई.)

हमें ज्ञान से विष्णु बनना चाहिये। हमारे पास वह ज्ञान होना चाहिये जिनसे हमारी आत्मा में शान्ति प्राप्त हो जाये, आत्मिकता और राष्ट्रीयता प्राप्त हो जाये। हमें ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त करना चाहिये जिस से नाना प्रकार के यन्त्रों का आविष्कार कर सकें और जीवन को यथार्थ में ऊँचा बना सकें। जब मनुष्य को ज्ञान और विज्ञान हो जाता है तो उसे संसार में कोई इच्छा नहीं रहती, वह पवित्र बन जाता है और संसार से पार हो जाता है। (चौथा पुष्प, १७-४-६४ ई.)

पठन-पाठन की पद्धति को आर्ष कहते हैं, जो सदैव नवीन बनी रहती है। इसमें कभी भी वृद्धपन नहीं आता, इसमें नवीन बनता चला जाता है। मानव अपनी मानवता और उद्देश्यों का पालन करते हुए इस संसार सागर से पार हो जाता है। (नौवाँ पुष्प, १७-१०-६७ ई.)

प्रभु-ज्ञान के विषय में महर्षि कणाद और महर्षि पतंजलि ने यहाँ तक कहा है कि यदि मानव की सहस्रों वर्षों की आयु हो और वह विद्यार्थी ही बना रहे, अध्ययन ही करता रहे, विचार करता रहे तो वह अवस्था भी सूक्ष्म है। केवल अक्षरों का बोधि होने से ही प्रभु को नहीं पा लेता या ज्ञानी नहीं बन जाता। ज्ञानी तभी बनता है जब

प्रत्येक इन्द्रिय से सुगन्धि उत्पन्न होने लगती है तब मानव जीवन सर्वोच्च बन जाता है। उसके जीवन में सतोगुण की तरंगें उत्पन्न हो जाती हैं। वह परमात्मा के गर्भ तथा उसकी महिमा का पात्र बन जाता है। (नौवाँ पुष्प, २९-७-६७ ई.)

अध्ययन करना तथा अक्षरों का बोधि होना, दोनों में अन्तर है। अध्ययन उसे कहते हैं जब चंचलता में जाकर प्रत्येक विषय पर विचार किया जाता है। जैसे जब नेत्रों में सतोगुणी प्रवृत्ति होती है तो उनसे ३००७ प्रकार की धाराओं का जन्म होता है। जब रजोगुणी होती है तो ६५५२ का तथा तमोगुणी में ९००० प्रकार की धाराओं को जन्म होता है। इससे मानव के सुकृत का हनन हो जाता है। अतः नेत्रों की ज्योति की अग्नि की धाराओं को आन्तरिक जगत में समेटना है, उनको समेटने के पश्चात् आगे विचारते हैं।

वाणी का अध्ययन करने में क्रोध में शब्दोच्चारण करने से अरबों-खरबों तरंगें वायुमण्डल में मिश्रित हो जाती हैं। सतोगुण में वाक्य उच्चारण करने पर एक अरब छ्याणवे करोड़ उनत्तीस लाख (१,९६,२९,००,०००) तरंगें उत्पन्न होती हैं। इसी प्रकार त्वचा आदि अन्य इन्द्रियों के विषय को अध्ययन करें। अध्ययन का नाम ही अनुशासन है।

यौगिक आसन प्राणायाम आदि करने से पूर्व उन पर अध्ययन करना चाहिये। इससे मस्तिष्क में विवेक आता रहेगा। बिना अध्ययन किये इनके करने से कोई लाभ नहीं होता। जैसे सर्वांग कृति आसन है। शान्त मुद्रा में इसका अध्ययन किया जाये तो यह सिद्ध हो जाता

है।

जिस औषधि का पान करना चाहते हैं, उसके विषय में ज्ञान होना चाहिये कि उसमें कितनी विद्युत् है, कितने जल के परमाणु हैं ? प्रत्येक वस्तु के साक्षात्कार करने का नाम ही योग है। इसके लिये मन और प्राण का अध्ययन आवश्यक है। (बीसवाँ पुष्प, २९-३-७३ ई.)

परमात्मा बुद्धि से अगोचर है

परमात्मा को जाने बिना, उसको कण-कण में दृष्टिपात किये बिना हम अपनी अन्तरात्मा को चेतनामय नहीं कर सकते। जब तक मानव में नाना प्रकार के आडम्बर तथा भौतिक प्रक्रियाएँ रहती हैं, तब तक वह अन्तर्मुंखी नहीं हो पाता, क्योंकि उसकी प्रवृत्ति बाह्य हो जाती है। उसका अन्तर्मुखी जीवन ह्रास होने लगता है, इसीलिये हमें अन्तर्मुंखी होना चाहिये। (सत्रहवाँ पुष्प, १७-१२-६९ ई.)

वेद कहता है कि बुद्धि से हम उस परमपिता परमात्मा की चेतना का निर्णय नहीं कर पायेंगें। प्रकृति के कणों को अवश्य जान सकते हैं। (ईक्कीसवाँ पुष्प, पृ. ६६)

मानव प्रथम आत्मा को जाने

भगवान कृष्ण जी ने बर्बरीक से कहा था कि ईश्वर का आज तक कोई अनुसन्धान नहीं कर सका। ईश्वर को वही जानता है जो अपने पर अनुसन्धान कर लेता है। जो अपने पर अनुसन्धान नहीं कर पाता, वह संसार में प्रभु का अनुसन्धान भी नहीं कर पाता। अतः हम अपना अनुसन्धान करें। अपना अनुसन्धान किये बिना एक प्राणी दूसरे

प्राणी को भी नहीं जान पाता, ईश्वर तो बहुत ही दूर है। (२९-७-७३ ई.)

मानव हृदय में ज्ञान की भी एक विडम्बना होती है। उसके क्षेत्र में जाने पर भी मानव को सान्त्वना की आवश्यकता होती है। क्योंकि जब मानव ज्ञान की पराकाष्ठा पर चला जाता है तो वह कहीं-कहीं नास्तिकता में आने लगता है। ब्रह्म को अपने से दूर करने लगता है। उस समय उसे सान्त्वना तथा विनोद की आवश्यकता होती है। वह विनोद बड़ा साम्य होता है तथा परमात्मा के क्षेत्र के निकट ही रहता है।

तपस्या के अभाव में नास्तिकता

'ईश्वर है या नहीं इस प्रकार के सन्देहात्मक विचार मानव के मन में उस समय आते हैं जब उसमें आत्मिक बल नहीं होता। जब आत्मा तपा हुआ नहीं होता तो नास्तिकता के विचार हृदय में समाहित हो जाते हैं। (चौदहवाँ पुष्प, २-८-७० ई.)

ईश्वर प्रणिधान या समर्पण

यदि एक मानव शीत से आक्रान्त हो, वह अग्नि के समीप जाये तो उसका शीत पृथक् हो जायेगा क्योंकि उसमें अग्नि के गुण आ जायेंगे। इसी प्रकार योगी परमात्मा के समीप जाता है। वह परमात्मा के गुणों में रमण करता हुआ, उन गुणों को धारण करता चला जाता है। वह योगी संसार में परमात्मा के नियम के विरुद्ध न तो कोई कार्य करता है और न कर सकता है। (तीसरा पुष्प, १७-७-६३ ई.)

इस संसार मे जो आत्मतत्व को जान लेता है, वह सब कुछ

जान लेता है। (दूसरा पुष्प, २०-१०-६४ ई.)

जो जिसके निकट पहुँच जाता है, वह उसके विरुद्ध कोई कार्य नहीं कर सकता। यह सार्वभौम सिद्धान्त है। (दूसरा पुष्प, ३-४-६२ ई.)

यह सिद्धान्त है कि पाप शान्त नहीं होते, वे भोगने ही पड़ते हैं। जब शिष्य जिज्ञासु बन जाता है और यह मान लेता है कि तेरे जो पाप हैं वे गुरु के अर्पण हैं, तो पाप तो उसी को भोगने पड़ते हैं, परन्तु उसके मन का संकल्प हो जाता है कि तेरे तो पाप हैं, वे गुरु के अर्पण हैं, तेरे पास कुछ नहीं। इस प्रकार वह योगी और जिज्ञासु बन जाता है। (सातवाँ पुष्प, २२-८-६२ ई.)

योग के वास्तविक अर्थ को जाने बिना मानव में कुछ अन्धकार आ जाता है। कोई मस्तिष्क में प्रकाश को लाने की चेष्टा करता है, कोई नेत्रों में, तो कोई हृदय में, कोई मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक इसकी प्रतिभा को लाने का प्रयास करता है। वास्तव में योग के मार्ग पर जाने के लिये सबसे प्रथम हमें परमात्मा में आस्था होनी चाहिये। जब परमात्मा हमें कण-कण में भासने लगता है तो हमारी प्रवृत्ति ब्रह्म में संलग्न होने लग जाती है। इसके पश्चात् हम जो कार्य करते हैं, उस पर आस्था होनी चाहिये।

जब तक अपनी अन्तरात्मा पर ही विश्वास नहीं होगा तब तक मानव यौगिक प्रक्रियाओं में तथा परमात्मा की चेतना में कैसे रमण कर सकता है? अतः हमें अपनी आत्मा पर विश्वास होना चाहिये। आत्मामय ही मानव का जीवन है। क्योंकि यही आत्मा विभुवत् में

परिणत रहता है। यह आत्मा हमारे शरीर में इस प्रकार रहता है जैसे विद्युत् रहती है, अग्नि रहती है, वायु रहती है। शरीर का प्रत्येक अंग आत्मा में तथा उसकी चेतना में पिरोया हुआ है। इसीलिये आत्मा को चेतनावत् कहा गया है।

यह सर्व संसार ही योगवत् है, योग नाम मिलन का है। मानव कोई न कोई मिलान प्रायः करता ही रहता है, अर्थात् योग करता ही रहता है। परन्तु सबसे उत्तम योग उसे कहा जाता है जिसमें परमात्मा के मार्ग को जाने में सफलता को प्राप्त हो जाता है। जब तक मानव १-स्थूल, २-सूक्ष्म, ३-कारण शरीर की प्रतिभा को नहीं जानता तब तक योगी-प्रतिभा का वर्णन करना उसके लिये असम्भव है। भगवान राम ने महर्षि वशिष्ठ जी महाराज से कहा था कि मैं योग जानना चाहता हूँ।

योगी कौन है

महर्षि वशिष्ठ जी महाराज ने कहा कि योगी उसे कहा जाता है जो अपने को ब्रह्म की निष्ठा में सदैव निष्ठित रखता है। हृदय में ही ब्रह्म को दृष्टिपात करता है, हृदय ही उसका जगत है तथा हृदय को ब्रह्म का स्थान मानता है।

भगवान राम ने कहा, क्या हृदय में ब्रह्म की व योगी की प्रतिष्ठा है?

महर्षि वशिष्ठ जी महाराज : योगी तो उसे ही कहा जाता है जो परमात्मा को कण-कण में, व्यापक रूप में दृष्टिपात कर लेता है। अन्त में योगी का अन्तर्मन खो जाता है और यह कहता है कि यह

सर्वजगत (ब्रह्ममय) है। जब योगी की इस प्रकार की पराकाष्ठा हो जाती है तो वह महान् हो जाता है। (सत्रहवाँ पुष्प, १७-१२-६९ ई.)

नाना प्रकार की विचारधाराओं को जानने के पश्चात् हमारा जीवन सदैव उस महान् प्रभु के आनन्द में संलग्न हो जाना चाहिये क्योंकि बिना प्रभु के हम कोई कार्य सफलता से नहीं कर सकते। जितनी भी हमारे जीवन की प्रतिभा है उस सबके आनन्द का केन्द्र केवल ब्रह्म माना गया है। (उन्नीसवाँ पुष्प, ३१-१-७० ई.)

जब मानव कण-कण में प्रभु को दृष्टिपात करने लगता है तो वह पाप कर्म नहीं कर सकता। जो मानव अज्ञानतावश परमात्मा से दूर हो जाता है तभी वह पाप कर्म कर सकता है। वह छिपकर पाप कर्म कर सकता है किन्तु परमात्मा सर्वव्यापक है, उससे कहीं नहीं छिप सकता। मानव को पापों से भयभीत होना चाहिये। वह अपने पर दया करे, दूसरों पर दया करने से पूर्व अपने पर दया करें। अपने पर वह दयालु तभी बन सकता है जब उसे अपने ऊपर पूर्ण विश्वास हो जाता है। परमात्मा को कण-कण में स्वीकार करता है, उस समय उसमें ऐसी प्रतिभा बन जाती है कि वह अपने ऊपर दयालु बन जाता है, उस समय उसके हृदय में शान्ति समाहित हो जाती है। वहाँ उस आनन्द का अनुभव करने लगता है, जहाँ उसे जाना है, जिसे पारलौकिक आनन्द कहते हैं। उसे भौतिक लोक को त्याग करके परलोक को जाना है। (बारहवाँ पुष्प, ५-३-६९ ई.)

स्तुति का फल

निर्भयता में ब्रह्म का स्वरूप है। निर्भयता तभी आ सकती है जब

उसके विचार शुद्ध होते हैं। उसमें महत्ता का दिग्दर्शन होने लगता है। मानव ''अहिंसा परमो धर्मः'' का प्रतीक बन जाता है। परमात्मा का गुणगान गाने से हृदय में आनन्द की तरंगें उत्पन्न होने लगती हैं। (तेरहवाँ पुष्प, १८-१-७० ई.)

परमात्मा आनन्द का इतना महान् स्रोत है कि जब उसकी महिमा का वर्णन करने लगते हैं तो इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं, वे कोई कार्य नहीं कर पातीं। जहाँ तक वाणी कार्य करती है, वहाँ तक शब्दों से उच्चारण करना हमारे लिये कल्याणकारी है। जब महिमा का गुणगान गाने लगते हैं तो यह हृदय और मस्तिष्क परमात्मा में ही ओत-प्रोत प्रतीत होते हैं। मानव को मान-अपमान और नाना प्रकार की विडम्बना और शत्रुता को त्यागकर उसकी महिमा का गुणगान गाना चहिए। (तेरहवाँ पुष्प, १८-१-७६ ई.)

आसन

''परिकांचनम् धृतिः'' नाम का आसन होता है जिसको 'परिभि' नाम का आसन भी कहते हैं। साधारण वाणी में इनको 'पद्मासन' और 'सिद्धासन' कहते हैं। जब हम इसका प्रतिपादन करते हैं तो इस ब्रह्मचर्य को प्राण और मन की एकता में ला करके उन नाड़ियों का तारतम्य लगा देते हैं। इससे ब्रह्मचर्य की ऊर्ध्वगति बनकर मस्तिष्क अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र के निचले विभाग का जो स्थल है उसमें ब्रह्मचर्य की गति स्थिर हो जाती है। (सत्रहवाँ पुष्प, २५-२-७२ ई.)

नदी के तट पर ही तपस्या होती है, क्योंकि आपो-ज्योति, जल में ज्योति होती है। वह ब्रह्म का स्वरूप बनकर रहती है। तो ज्योति

का दिग्दर्शन करता रहता है, उस ज्योति का सम्बन्ध मानव के मन से होता है और मन का स्वभाव जल के समान होता है।

ऋषि-मुनियों ने और ब्रह्मा जी महाराज ने ब्राह्म मुहूर्त की वेला में पुलकित होकर सन्ध्या के लिये आग्रह किया। यह वेला रजोगुण और तमोगुण से परे कहलाती है। इस पवित्र वेला में जो वायुमण्डल में वायु रमण करती है वह इतनी पवित्र और अमूल्य होती है कि हमारे हृदय को पवित्र बना सकती है किन्तु यह तभी हो सकता है जब प्रभु की अनुपम कृपा हमारे ऊपर छायी हुई हो।

प्रातःकाल में ब्रह्मचारी व ब्रह्मचारिणी अपने ब्रह्मचर्य की ऊर्ध्वागति को बनाते हुए उसे मस्तिष्क में धारण कर ब्रह्मरन्ध्र और त्रिवेणी स्थानों में रमण करते हुए पवित्र बनें, इससे हमारा हृदय इतना पवित्र बन सकता है जैसे स्वच्छ सूर्य की किरणों तथा चन्द्रमा की कान्ति। (पाँचवाँ पुष्प, १८-१०-६४ ई.)

प्राणायाम

प्रत्येक मानव को प्राणायाम करना चाहिए। जो प्राणायाम करता है, उस मानव का जीवन सुन्दर बनता रहता है। प्राणायाम करने के लिये पवित्र आसन हो। आसन कुशा का हो, जहाँ आसन हो वहाँ सुगन्धियुक्त हो। उस काल में मानव को शनैः शनैः प्राणायाम करना चाहिये। सबसे प्रथम रेचक करना चाहिये, उसके पश्चात् कुम्भक करना चाहिये, कुम्भक के पश्चात् पूरक करना चाहिये। शनैः शनैः अपने प्राण को ऊर्ध्व में ले जाना, शनैः शनैः निचली स्थली में त्यागना, शनैः शनैः उसको अपने में यथाशक्ति कुम्भक कर लेना और

रेचक कर लेना, बाहर त्याग करके रेचक में शान्त हो जाना।

ऐसे प्राणायाम करते हुए मानव को अपनी प्राण की गति को ऊर्ध्व बनाने के लिये सदैव तत्पर रहना चाहिये। यह अभ्यास जब प्राणी को होता है, वह अन्त में भी इसी विचार को लेकर के जब मानव शरीर को त्यागता है तो प्राण के द्वारा इस शरीर को त्यागा जाता है तो उस मानव की आत्मा देवलोक को प्राप्त होती है। (सत्ताईसवाँ पुष्प, २-५-७६ ई.)

हम यौगिक बनें, योग के क्षेत्र में प्राणायाम करने वाले बनें, प्राण की गति को जानने वाले बनें। मानव का एक वशिष्ठ स्वर है। एक विश्वामित्र स्वर है, एक को सूर्य-स्वर तथा दूसरे को चन्द्र-स्वर कहा जाता हैं। ये दोनों स्वर सूर्य की गति के आधार पर चला करते हैं, कुछ चन्द्रमा के आधार पर चलते हैं। प्रकृति में दो प्रकार की गति है, एक ऊष्ण तथा दूसरी शीतल।

इन दोनों प्रकार की गति को जानने वाला, स्वरों को, प्राणों को जानने वाला व्यक्ति समय को जान जाता है, कितना समय हुआ है। कितने समय में इनको गमन करना है, कितने समय में कौनसा स्वर चलता है तथा कितने समय में इसका परिवर्तन होना है।

इन स्वरों में भी नाना प्रकार के भेद हैं। जैसे १-चन्द्रमा के साथ पुष्य नक्षत्र है और ज्येष्ठा नक्षत्र है और ज्येष्ठा नक्षत्र का मिलान है। उसकी सीधी किरण इसमें आ रही हैं, तो उस समय चन्द्र स्वर का समय ढाई घड़ी (अर्थात् एक घण्टा) रहेगा।

२-यदि चन्द्र स्वर के साथ शनि कर प्रकोप है और सूर्य की

छाया आ रही है और पृथ्वी की गति मन्द होती है, उस समय स्वर की जो गति है वह लगभग १३ और ८ घड़ी के मध्य रहती है।

३-जब चन्द्र स्वर का समय आता है चन्द्र स्वर के आधार पर सूर्य स्वर के गर्भ में यदि पुष्य नक्षत्र है, स्वाति (नक्षत्र) की छाया है, पृथ्वी की गति तीव्र होती है, उस समय सूर्य स्वर की गति ढ़ाई घड़ी रहती है।

४-यदि सूर्य की किरणों के गर्भ में शनि की छाया है और पुष्य नक्षत्र उसके गर्भ में विराजमान है और चन्द्रमा की गति मन्द है और पृथ्वी की गति उस काल भी रहती है, उस समय चन्द्र स्वर की गति १३-१३ घड़ी तक चली जाती है, १४ घड़ी तक भी चली जाती है।

उस मानव का सौभाग्य है जिसकी सूर्य की गति तीव्र होती है क्योंकि वह मानव विशेष स्वस्थ रहता है। इसीलिये हमारे यहाँ साधना करने वाले योगियों का नियम है कि वे सूर्य स्वर को विशेष गति पर लाते हैं, सूर्य स्वर को लाने वाला स्वस्थ रहता है। चन्द्र स्वर की गति वाला जो होता है उसके स्वास्थ्य में गति कुछ मन्द होती है, प्राण की गति मन्द होती है।

योगी और आचार्यों का कहना है कि जो मानव सूर्य स्वर को जानने वाला है, सूर्य स्वर से प्राणायाम करता है, उसके शरीर में किसी भी प्रकार का रोग नहीं होता। योगियों के शरीर इसीलिये बलिष्ठ होते हैं क्योंकि वे प्राणायाम करते हैं, प्राण की गति जानते हैं, स्वर विज्ञान को जानते हैं।

स्वरों का मिलान नाभि केन्द्र से लिया जाता है। यह नाभिकेन्द्र

से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक चलता है। उस ब्रह्मरन्ध्र में लगभग २३६ पँखुड़ियाँ होती हैं। उन पँखुड़ियों में जब प्राण की अधिक विशेषकर गति होती है तो वे पँखुड़ियाँ गति करती हैं। तब प्राण की गति सूर्य स्वर में विशेषकर होती है क्योंकि प्राण की गति विशेष उस पँखुड़ी की गति चक्र से टकराती है। यदि प्राण की गति मन्द हो जाती है तो सूर्य में अवेरहत (आवृत) हो जाती है, तमोगुणी प्रवृत्ति बलवती हो जाती है।

हमारे ऋषि मुनियों ने स्वर विज्ञान को जाना। स्वर-विज्ञान को जानने के पश्चात् पृथ्वी की गति को जाना। पृथ्वी की गति को जान करके चन्द्रमा से मिलान किया। चन्द्रमा से मिलान करके सूर्य और पुष्य-नक्षत्र, इस सर्व नक्षत्रें की गति को जान करके इस संसार को नापने का प्रयास किया और प्रयास करके वे महान् वैज्ञानिक और योगी बने। योग और विज्ञान दोनों एक ही सूत्र के मनके हैं। क्योंकि इसको हम भौतिकवाद में ले करके आध्यात्मिक क्षेत्र में परिणत कर देते हैं। स्वर-विज्ञान ऐसा विज्ञान है कि जो मानव इसके ज्ञाता योगी के समीप जाता है, वह उसके भविष्य की चर्चा को भी जानता है। उसके भविष्य के साथ-साथ उसके वर्तमान को भी जानता है। उसकी मनोनीत जो भावना है स्वरों को देखकर उसकी गति का निर्णय दे देता है कि यह प्राणी इस अमुक कार्य के लिये मेरे द्वार पर आया है।

एक सप्ताह में सात दिवस होते हैं। इन सात दिवसों में किसी दिवस में प्रकृति का कोई तत्त्व विशेष गति करता है और किसी में

अवरुद्ध होकर मध्यम करता है, किसी में विशेषतः, किसी में तीव्र गति करने वाला। यह पृथ्वी का चक्र भी स्वर-विज्ञान के ऊपर आधारित रहता है। यह जो पृथ्वी का आधार, वह प्राण है और यह प्राण इस मानवीय शरीर में भी कार्य कर रहा है। इसी प्रकार स्वर-विज्ञान से ही पृथ्वी की गति को जाना जाता है।१

ऋषि कहता है कि जब मानव स्वर-विज्ञान पर जाता है तो तब नाभिकेन्द्र से प्राण चलता है, वह ब्रह्मरन्ध्र में जाता है। ब्रह्मरन्ध्र में ऐसी-ऐसी पङ्खुड़ियाँ लगी हुई हैं, जिनमें से परमाणुओं की उद्बुद्धता होती रहती है, तरंगें चलती रहती हैं। इन तरंगों को लेकर जब प्राण बाह्य-जगत में जाता है तो यह जितना भी ब्रह्माण्ड है, जितने भी लोक-लोकान्तर हैं, उनमें जो तरंगें उत्पन्न होती हैं; उनमें जो परमाणु उत्पन्न होते हैं वे उस योगी के ब्रह्मरन्ध्र से उन पङ्खुड़ियों में परमाणु उत्पन्न होते हैं। कोई मण्डल ऐसा नहीं जिसमें वे परमाणु निहित न हों। वे परमाणु उत्पन्न होते रहते हैं। इसलिये उसमें पंचमहाभौतिक जो परमाणु हैं, उन्हीं परमाणुओं के अन्तर्गत प्रत्येक लोक-लोकान्तर गति कर रहा है, वह ब्रह्माण्ड गति कर रहा है।

ब्रह्मरन्ध्र में जो पङ्खुड़ियाँ हैं योगी उन पङ्खुड़ियों को जानता है और जान करके जो पंचमहाभौतिक परमाणु हैं इनके ऊपर यह आधिपत्य कर लेता है। ये पंचमहाभूत प्रकृति का एक चक्र है, सर्वप्रकृति के निर्माण की सामग्री है। उस सामग्री को जानने वाला योगी यह जानता है कि कौन से लोक में कौनसा तत्त्व प्रधान है।

पङ्खुड़ियों का परिचय

जहाँ त्रिवेणी स्थल है, वहाँ दो कृतिकाएँ होती हैं, जब मन और प्राण का उन पर आक्रमण होता है तो इनकी सहकारिता से दोनों कृतिकाएँ एक दूसरी नाड़ी से मिलान करना प्रारम्भ कर देती हैं। उन नाड़ियों का सम्बन्ध पङ्खुड़ियों से होता है। ब्रह्मरन्ध्र की जो पङ्खुड़ियाँ हैं, ब्रह्मरन्ध्र के ऊर्ध्व क्षेत्र में एक स्थली होती है जिसे हमारे यहाँ योग की परिभाषा में 'दियारक' स्थली कहते हैं, जिसमें परमाणुओं का समूह होता है और वह पातरूप में रहता है। वह पातरूप में जब इड़ा, पिंगगला, सुषुम्णा तीन नाड़ियाँ मिलकर के उससे मिलान होता है तो उससे एक रस आता है। ब्रह्मरन्ध्र में यह रस शुष्क हो करके 'स्वारस' के रूप में स्वाधिष्ठान चक्र में आता है। जब वह रस आता है तो पङ्खुड़ियों के चक्र में वह संचय बन करके प्राण में मिश्रण हो जाता है। प्राण में मिश्रण हो करके प्राण से जब गति करता हुआ, उस रस का एक बिन्दु शुष्क करके ऐसा आकार परमाणुओं का बन जाता है, जैसे यह मानव का स्थूल शरीर होता है। और वह प्राण में मिश्रण हो जाता है।

उस एक विभाग से लगभग एक अरब परमाणुओं का जन्म हुआ। एक अरब परमाणुओं में से ३६-३६ सौ की स्थिति होती है। एक अरब पचहत्तर करोड़, छत्तीस लाख, बावन हजार, पाँच सौ परमाणुओं की स्थिति होती है। इन परमाणुओं में एक 'स्वातु' परमाणु होता है। उस स्वातु परमाणु के अन्तर्गत एक-एक परमाणु के अन्तर्गत छत्तीस लाख परमाणु उसकी परिक्रया करते हैं।

एक 'स्वानात्रित' नाम का परमाणु है। उसके साथ एक अरब

छत्तीस लाख परमाणु गति करते हैं। इसी प्रकार जैसे मानव का आकार का यह शरीर बना हुआ है, उसी आकार वाले पहले सूक्ष्म परमाणुओं का आकार बनता है। उसके पश्चात् उतने ही आकार में एक परमाणु के अन्तर्गत करोड़ों की गणना में गति करते हैं, वैसे ही उसी सीमा में मानव के शरीर का आकार बना हुआ है।

वह शरीर इस श्वास की गति के साथ में अन्तरिक्ष में गति करता रहता है। स्वर वैज्ञानिक जानता है कि स्वर के साथ कितना परमाणुवाद चला गया है। जो इन परमाणुओं की गणना कर लेता है अथवा उनके आकारों को जान लेता है उस योगी को इन सूक्ष्म, स्थूल और कारण शरीर को धारण करने में देरी नहीं लगती। उन परमाणुओं से स्वयम् अपने आकार रूप को धारण कर लेते हैं।

मानव की प्रत्येक इन्द्रिय में क्या-क्या, कैसी-कैसी तरंगें उत्पन्न हो रही हैं, उनको योगी ही जानता है। योगी मानव के मस्तिष्क को दृष्टिपात करके जानता है कि वह कौन से गुणों वाला है। वह नेत्रों को दृष्टिपात करके जानता है कि इसमें ये गुण हैं। नासिका को, श्रोत्रों को, भुजाओं को, अङ्गुलियों को, अणुओं, अंजली आदि हस्तों की जो दश अनियाँ है, इन सबके गुणों को जान करके, इनको दृष्टिपात करके, योगी यह जानता है कि उसमें इतने गुण हैं, इतने अवगुण हैं। व्यक्ति इस प्रकार की तरंगों वाला है। क्योंकि उसने अपने ऊपर अनुसन्धान किया है।(अट्ठाईसवाँ पुष्प, पृ. १६)

प्राणों द्वारा चिकित्सा

हमारे यहाँ चिकित्सा भी प्राणों द्वारा होती है। तीन प्रकार की

चिकित्सा होती है। १-औषधि द्वारा, २-जल के द्वारा, ३-प्राणों के द्वारा।

ये तीनों प्रकार की चिकित्सा हमारे यहाँ परम्परा से चली आती हैं। जितनी चिकित्सा है वह सब प्राण के अन्तर्गत आती है क्योंकि औषधि में प्राण-शक्ति है। इसलिये वह चिकित्सा भी प्राण के द्वारा उद्बुद्ध होती है। जो प्राण क्रिया को जानता है, उन्हें यह जो जल की और औषधियों की प्रतिक्रिया है, वे साक्षात् हो जाती हैं। (सत्ताईसवाँ पुष्प, २-५-७० ई.)

प्राण चिकित्सा क्यों?

यह प्राण बहुत शक्तिशाली है। इसलिये हमारे यहाँ बहुत पुरातन काल से प्राण की चिकित्सा होती रही है। जहाँ ऋषि-मुनियों ने यह विचारा कि जिस औषधि में भी प्राण हैं, वहाँ प्राकृतिकता में भी प्राण हैं। इसीलिये प्राण चिकित्सा से उत्तम संसार में कोई चिकित्सा नहीं है। प्रत्येक मानव को यह ज्ञान होना चाहिये कि हमारा जो प्राण तत्त्व है, वह कितना विशाल है। (सत्ताईसवाँ पुष्प, ४-५-७६ ई.)

योगाभ्यास उसी को कहते हैं, जिसमें मन और प्राण की गति का समावेश किया जाता है।इसमें मन और प्राणों को मिलान करने की क्षमता होती है। जब मन और प्राण दोनों सुचारु रूप से एक गति में आ जाते हैं, उस समय मानव की गति चंचल नहीं हो पाती। प्रश्न है कि मन इतनी गति वाला है कि उसको कोई संसार का मानव एकत्रित नहीं कर सकता।

प्राण द्वारा ही मन की एकाग्रता

इसका उत्तर यह है कि यदि कोई मन को एकाग्र करना चाहता है तो उसे केवल प्राण के आश्रित ही किया जा सकता है। इसलिये ऋषियों ने कहा है कि यदि मन को एकाग्र करना है तो इसका समावेश प्राण में कर दो। बिना प्राण में किये इसकी गति कदापि धीमी नहीं होगी। (सोलहवाँ पुष्प, १७-१०-७१ ई.)

योगी जब अपने प्राणों को एकाग्र मुद्रा में बना लेते हैं तो वे जल पर ऐसे चले जाते हैं, जैसे यह पार्थिव शरीर वाला पृथ्वी पर चला करता है। इसी प्रकार योगी अपने शरीर को इतना आविष्कारमय बना लेता है। मन की जो गति है वह समुद्र पार जाने वाली है। मन की गति को जानने से समुद्र को पार करने की क्रिया आ जाती है। महावीर हनुमान जी महाराज ने लंका जाते समय इसी क्रिया का प्रयोग किया था। (सातवाँ पुष्प, २२-८-६२ ई.)

प्रत्याहार

(इन्द्रिय-दमन अर्थात् इन्द्रियों को विषयों से हटाकर चित्त का निरोध करना इन्द्रिय-निग्रह)

जब मानव मन की प्रवृत्तियों को विचारने लगता है तो मानव के हृदय में मन की तरंगें एक-एक क्षण में नाना प्रकार की तरिंगत होने लगती हैं। जब मानव इन तरंगों पर अनुसन्धान करने लगता है तो वे ही तरंगें लोक-लोकान्तर में पहुँचा देती हैं। (दसवाँ पुष्प, ९-११-६८ ई.)

मानव के हृदय और मस्तिष्क उस समय एकाग्र होते हैं, जब मानव की संसार की इच्छाएँ, सांसारिक वैभव, संसार का नाना

प्रकार का अप्रेत (संस्कार) तथा भौतिक उसमें सङ्कुचित हो जाता है। उस समय उसके हृदय में विशालता आनी आरम्भ हो जाती है। मानव का हृदय उस समय विशाल होता है, जब उसके विचारों में उदारता ज्ञान तथा विचार रूप वृक्ष उत्पन्न हो जाता है। जैसे एक कन्या ब्रह्मचारी की सुघड़ता देखकर प्रभु के विज्ञान का स्मरण करती है तो यह उसके हृदय की विशालता है। मस्तिष्क में जितने जागरूक तन्तु होते हैं उनका एक ब्रह्मरन्ध्र नाम का एक केन्द्र होता हैं। उस ब्रह्मरन्ध्र में सूक्ष्म-सूक्षम नाड़ियाँ होती हैं उनका सम्बन्ध लोक-लोकान्तरों से होता है। इस ब्रह्मरन्ध्र को लघु-मस्तिष्क या 'हिरात-मस्तिष्क' भी कहते हैं।

एक सार्वभौम सिद्धान्त है कि यदि मानव के मस्तिष्क में लोक-लोकान्तरों के जानने वाले यन्त्र नहीं होंगे तो मानव लोक-लोकान्तरों को किसी भी समय नहीं जान पायेगा। जब एक भौतिक वैज्ञानिक परमाणुओं को जानता हुआ उसके विज्ञान में प्रविष्ट हो जाता है, तो उसके मस्तिष्क में ऐसे तन्तुओं का जन्म हो जाता है, जिनका सम्बन्ध लोक-लोकान्तरों से है।(चौदहवाँ पुष्प, २-११-७० ई.)

योग-सिद्धि का मूल पवित्र अन्न

हम विभाजनवाद की क्रिया को जानने के लिये यौगिक क्षेत्र में जाते हैं, जहाँ अपने विचारों को सुदृढ़ बना सकें तथा हमारे हृदय में शान्ति की स्थापना हो सके। जहाँ हम स्थिर हो जाते हैं, उसी का नाम शान्ति है। प्रत्येक मानव, ऋषि तथा देवात्मा शान्ति चाहते हैं। गुण से गुणी पृथक् नहीं होता। इसीलिये हमें दोनों पर विचारना

चाहिये। हमें आत्मा, मन और प्राण तीनों को मूलाधार, नाभि, हृदय, कण्ठ, घ्राण, ब्रह्मरन्ध्र में ले जाना है। हमें उन आभाओं पर विचार-विनियम करने वाला बनना चाहिये जिनके सम्बन्ध से हमारा दर्शन, मानवता तथा जीवन मन के ऊपर स्थित होता चला जाये। हम अपने वा स्तविक स्वरूप को जान सकें। हमें यह जानना चाहिये कि हमारे शरीर में कितनी नाड़ियाँ हैं, कितने चक्र हैं, और कितना रक्त का प्रवाह है ? इन सबको जानकर हम अपने को साक्षात्कार कर लेते हैं तो हमारा योग सिद्ध हो जाता है। अपने को साक्षात्कार साधना के द्वारा किया जाता हैं। साधना तभी होती है, जब अन्न पवित्र होता है।

प्रयोगः महर्षि वरुण महाराज ने अपने पुत्र गौतम को ऋत् और सत् का ज्ञान कराते समय पहले १५ दिन के लिये अन्न का त्याग कराकर जल का पान कराते रहे, तो उससे जीवन में ह्रास आ गया तथा स्मरण शक्ति समाप्त होने लगी। अन्न ग्रहण करने पर पुनः स्मरण शक्ति जागरूक होने लगी। फिर जल का पान बन्द कराकर, अन्न ग्रहण कराया। तो मन में स्मरण शाक्ति तो ज्यों की त्यों रही, किन्तु प्राण की गति धीमी हो गयी। फिर शनैः शनैः जल का ग्रहण करने पर प्राणों की गति लौटने लगी।

उन्नति का साधन स्वामित्व विहीन सात्विक अन्न

निष्कर्ष यह निकला कि संसार मे दो ही वस्तु ऋत् और सत् कहलायी जाती हैं। एक वह जिसके कारण स्मरण-शक्ति जागरूक रहती है तथा दूसरी वह जिसके द्वारा प्राण शक्ति सुचारु रूप से कार्य करती है, चाहे वह वसुनधरा के गर्भ में हो, चाहे लोक-लोकान्तरों के

गर्भ में हो। अन्न से मानव की स्मरण शक्ति जागरूक रहती है तथा मन की आभा आती है। स्मरण शक्ति का केन्द्र मन ही है क्योंकि अग्नि अन्तःकरण तथा मन को भस्म नहीं कर सकती। अतः योगी आत्मा, मन और अन्तःकरण का यन्त्र बनाकर सूर्यमण्डल में भी जा सकता है। ज्ञान और सत्य ऐसी आभा हैं जो मानव को निर्मल और निराभिमानी बनाती हैं तथा यौगिक क्षेत्र में जाकर धर्मज्ञ बना देती हैं। हमारे भोजन तथा अन्न पर किसी का अधिकार नहीं होगा तभी वह ऊँचा बनेगा। उसी से मस्तिष्क सुन्दर तथा स्वच्छता बनता है।

पाप का जन्म वह होता है, जो ऐसे द्रव्य से प्राप्त होता है, जिसको एकत्रित करने में शंका, लज्जा तथा भय उत्पन्न होते हैं। जब भय के अन्न को मानव ग्रहण करता है, तो वह मानव के हृदय को भयभीत बना देता है। यही कारण है कि ऋषि पर्वतों की कन्दराओं में रह कर शुद्ध तथा स्वामित्व विहीन अन्न को ग्रहण करके दार्शनिक बनते थे। (बीसवाँ पुष्प, २८-३-७३ ई.)

धारणा

(प्राण में मन का मिलान कराने को नाम ही धारणा है।) (चक्रों में आत्मा को रमण करना।)

यौगिक क्रियाओं के लिये सर्वप्रथम प्राणायाम की आवश्यकता है। जब यह आत्मा प्राणों सहित कुम्भक, रेचक द्वारा मूलाधार में पहुँचता है तो वहाँ प्राणों की प्रगति ऊँची हो जाती है और मानव को प्रतीत होने लगता है कि हमारा शरीर किन तत्त्वों का बना है और इस स्थान पर क्या-क्या कार्य हो रहा है। आगे बढ़ता हुआ यह

आत्मा नाभिचक्र में पहुँचता है, जो शरीर का केन्द्र माना जाता है। यहाँ प्रतीत होता है कि हमारे शरीर में यह कितनी महान् विचित्रता है। परमात्मा ने इन वस्तुओं को कैसा बनाया है। आगे बढ़ता हुआ आत्मा ऐसे तत्वों को अनुभव करने लगता है, जो नेत्रों से दृष्टिगोचर नहीं होते।

योगी की आत्मा दूसरी आत्मा से सम्बन्ध जोड़ सकती है

आगे बढ़ता हुआ यह आत्मा हृदय-चक्र, कण्ठ चक्र, घ्राण-चक्र,त्रिवेणी-चक्र, ब्रह्मरन्ध्र और शून्य चक्र में जा पहुँचता है। उस समय योगी को परमात्मा की अनन्त सृष्टि का स्वतः अनुभव हो जाता है। योगी अपने शरीर की प्रत्येक क्रिया को जानकर शरीर के तीनों रूपों स्थूल, सूक्ष्म और कारण को जानने वाला बन जाता है। धारणा, ध्यान, समाधि द्वारा मन को इतना शान्तिमय कर लेते हैं कि ये तन्मात्राएँ सब मन में लय हो जाती हैं, मन बुद्धि में लय हो जाता है, बुद्धि अन्तःकरण में लय हो जाती है। ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के जितने विषय हैं, वे अन्तःकरण में लय हो जाते हैं। इन सब का समूह बनाकर यह आत्मा इन सबके ऊपर सवार हो जाता है और जब इसकी इच्छा हुई घूम आया। इसी प्रकार एक योगी की आत्मा दूसरे योगी की आत्मा से सम्बन्ध करने आ पहुँचती है किन्तु यह कुछ काल के लिये ही आ सकती है। साधारण कोटि के शरीर में दूसरी आत्मा कदापि नहीं आ सकती। (तीसरा पुष्प, ९-१२-६३ ई.)

जब मानव कर्मकाण्ड करता हुआ ध्यान में लीन हो जाता है, मग्न होने के पश्चात् आगे समाधि में लय होने लगता है, तो इसकी

यह जानने की इच्छा होती है कि आत्मा और प्राणों की सन्धि कैसे होती है ? आत्मा प्राणों को लेकर कैसे चलता है?

उस जिज्ञासु का हृदय पवित्र होने के नाते आत्मा और प्राणों की एकता हो जाती है। जैसे एक अच्छा घुड़सवार अपने उद्दण्ड घोड़े पर आसानी से सवार हो जाता है, उसी प्रकार यह आत्मा प्राण रूपी घोड़े पर सवार हो जाता है। यह आत्मा सवार होकर चलता हुआ मूलाधार में जाता है। मूलाधार में वह स्थान होता है, जहाँ तीनों गंगाओं-इडा, पिंगला, सषुम्णा की उत्पत्ति होती है, जिन्हें गंगा, यमुना, सरस्वती कहते हैं। योगियों, ऋषियों ने जैसे लोमश, व्यास, पातंजलि, पापड़ी, नारद, सनत्कुमार आदि जिन्होंने मन को अच्छी प्रकार जाना है, निर्णय दिया है, कि मूलाधार मे छः ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। वे नाना प्रकार की होती है। इनके खुल जाने पर प्रकाश ही प्रकाश हो जाता है।

आगे चलकर यह आत्मा नाभिचक्र में जाता है। जिसे 'प्रहृन्द चक्र' तथा 'सुअग्नि चक्र' भी कहते हैं। यहाँ पर लगभग १२ ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। यहाँ एक नाड़ी से कई-कई नाड़ियों का सम्बन्ध होता है। नाभिचक्र को एक कूप के सदृश माना जाता है जहाँ नाना नाड़ियाँ आकर स्नान करती हैं और उसमें से अपना अंश लेकर अपने-अपने स्थानों को नियुक्त हो जाती हैं। जब इन नाड़ियों का मार्ग खुल जाता है, तो यह आत्मा निर्मल हो जाता है। (तीसरा पुष्प, ७-४-६२ ई.)

महर्षि लोमश जी का अनुभव

योगी परमात्मा के दर्शन तक क्रमशः कैसे गति करता है ? : सर्व प्रथम वेदों का स्वाध्याय करके यह जाना कि यह मन इस पार्थिव शरीर में रहता है। इसकी गति कैसे रहती है ? मन की गति को अन्तःकरण में नियुक्त करते हुए इस अन्तःकरण का एक यन्त्र बनाया। इससे १. स्थूल, २. सूक्ष्म और ३. कारण शरीर को जाना। जितनी चित्त-वृत्तियाँ हैं, इन सबको एकाग्र करके अन्तःकरण का यन्त्र बन जाता है और मन अन्तःकरण में विराजमान हो जाता है। वह इस शरीर से उत्थान होता हुआ वायुमण्डल में, सूर्य मण्डलों में विचरण किया करता है।

जब पाँचों प्राणों की एक सन्धि बन जाती है तो सन्धि बन करके १-मूलाधार से इस आत्मा का उत्थान होता हैं, आगे नाभिचक्र में जाता है। जब यह मूलाधार में जाता है तो आत्मा अपने पार्थिवता के सम्बन्ध को धीरे-धीरे त्यागता है। उसके पास अपना प्राण अधिक रहने के कारण वायु का वेग अधिक रहता है। उसे पार्थिवता अपनी ओर खींचती है। परन्तु जब योगी इस पर अधिक परिश्रम करता है, तो चित्त की वृत्तियों को एकाग्र करके आत्मा प्राणों के सहित आगे चलता है।

२. नाभि-चक्र में जाकर उसके समक्ष ऐसी रूप रेखा आती है, जिसको जानकर यह आत्मा जान लेता है कि अब तू वायु के वेग में जा रहा है, बड़ा भयानक प्रतीत होता है। नाभि-चक्र के ऊपर वायु का बड़ा वेग होता है और वह जल के तत्त्व को लिये होता है। उस समय शरीर से एक विलक्षणता उत्पन्न होती है।

३. आगे हृदय-चक्र आता है। अब हृदय और नाभि-चक्र के मध्य जो वायु का वेग अधिक था और जल के परमाणु थे, वे शान्त होने लगे। हृदय-चक्र में वायु-अग्नि के तत्त्व अधिक लिये होती है। उस समय इस आत्मा का प्राणों तथा तन्मात्राओं के सहित बहुत हलका रूप बन जाता है, जो बहुत सूक्ष्म होता है।

४. सूक्ष्म रूप बनकर जब यह कण्ठ-चक्र में जाता है तो उसके पश्चात् प्रतीत होता है कि वह ऐसे आँगन में आ गया है, जहाँ वायु का वेग बहुत ही सूक्ष्म है, आत्मा वहाँ भ्रमण करने लगता है।

५. आगे चलकर यह आत्मा घ्राण-चक्र में जाता है, तो प्रतीत होता है, कि अब तू ऐसे स्थान में आ गया है, जहाँ चन्द्रमा अपनी कान्ति दे रहा है। वहाँ ऐसा अनुभव होता है कि वह चन्द्रमा और सूर्य के मध्य में परिक्रमा कर रहा है।

६. इसके पश्चात् योगी का आत्मा त्रिवेणी स्थान में जाता है जहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि पृथ्वी, चन्द्रमा और सूर्य की सन्धि होने जा रही है।

७. आगे जब यह आत्मा ब्रह्मरन्ध्र में जाता है तो यह सब कुछ तुच्छ बन जाता है और इस आत्मा को महान् प्रकाश मिल जाता है, एक मग्नता आ जाती है। वह परमात्मा की महान् सृष्टि को जानने वाला बन जाता है।

८. इसके पश्चात् मूलाधार में रमण करता है तो आत्मा की रूपरेखा बहुत सूक्ष्म बन जाती है। सूक्ष्म बन जाने के कारण वहाँ पहुँचती है, जिसको रीढ़ कहते हैं। इसको ‘‘भूर्भुवः निरीक्षणी

रूपकम्'' कहते हैं। योगियों ने इसकी रूप-रेखा इस प्रकार दी है कि यहाँ पर प्रकृति का मण्डल, मन का मण्डल, ब्रह्म का मण्डल, इन सब तन्मात्राओं का मण्डल होता है।

९. इसके पश्चात् आत्मा का सूक्ष्म रूप बन करके यह महान् आत्मा निर्लेप होकर परमात्मा के दर्शन कर लेता है।

जब योगी इतनी जानकारी कर लेता है तो योगी में इतनी महत्ता आ जाती है कि स्थूल शरीर को, जब इच्छा हुई त्यागा, और लोक-लोकातरों में आत्मा रमण करने लगता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब परमात्मा का दर्शन वाणी का विषय नहीं है तो उच्चारण कैसे कर दिया ?

इसका उत्तर यह है कि यौगिक क्रियाओं को अनुभव से जान जाता है। उसका अनुमान लगा सकते हैं। परन्तु जब यह आत्मा-परमात्मा में रमण कर लेता है और आनन्द ही आनन्द भोगता है, उस समय उस आनन्द को उच्चारण नहीं कर सकता। (पाँचवाँ पुष्प, ९-८-६२ ई.)

ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचकर योगी अव्याहृत गति वाला हो जाता है

जब योगी ब्रह्मरन्ध्र में अपनी गति ले जाता है तो अग्नि का आश्रय लेता है। यहाँ 'अग्नि' नाम भौतिक अग्नि का नहीं है। मानव का आन्तरिक सूर्य वेदज्ञान रूपी ज्योति है जो प्रकाश देती है। जब मन और प्राण दोनों एक सूत्र में हो जाते हैं तो यहाँ रीढ़ के विभाग से दो नाड़ियाँ चलती हैं, इनका सम्बन्ध ब्रह्मरन्ध्र से हो जाता है। जिस प्रकार वृत (डण्ठल) पर पुष्प खिल जाता है, उसी प्रकार

ब्रह्मरन्ध्र में उन नाड़ियों में से नाना वाहक नाड़ियाँ पुष्प की भाँति खुल जाती हैं और उनका सम्बन्ध नाना लोक- लोकान्तरों से हो जाता है।

उस पुष्पित स्थिति को ज्यों का त्यों रखते हुए, जब योगाभ्यास करने वाला साधक अपने आन्तरिक जगत को दृष्टिपात करता है, तो नाभि-केन्द्र में एक 'कुरुतुक' नाम की स्थली कहलाती है, उसमें वह सूर्य और चन्द्रमा दोनों के सोम (तत्त्व) लेता है। सोम का अभिप्राय है; जो चन्द्रमा से कान्तियों द्वारा आता है और सूर्य से प्रकाश द्वारा आता है।

ब्रह्मरन्ध्र के ऊपरले स्थान में 'पिपाद' नामक स्थान है उसमें बहुत सूक्ष्मसा एक 'घृत' परमाणु होता है। 'घृतम्' जो स्थान है, उसमें ब्रह्मरन्ध्र में प्राण और मन के प्रभाव से जब पङ्खुड़ियाँ गति करना आरम्भ करती हैं, तब पङ्खुड़ियों के साथ ही वह जो 'पिपाद' स्थल है उसमें से परमाणु आने आरम्भ हो जाते हैं।

मानव की रसना के निचले विभाग में एक 'स्वभाकृत' नाम की नाड़ी है उसका रसना के अग्रभाग से सम्बन्ध होता है। जब रसना के अग्रभाग में वह रस आता है तो उसको योगी पान करता है। वही रस ''नामाङ्ग्तिक' नामकी नाड़ी से जाना आरम्भ हो जाता है। नाभिकेन्द्र या नाभिचक्र में वह रस जाना आरम्भ हो जाता है। उस रस को अग्नि भी भस्म नहीं कर सकती। उस मानव का शरीर वज्र के तुल्य हो जाता है। वह वज्र बन करके अग्नि में स्वादन-पान किया करता है। (सत्ताईसवाँ पुष्प, ३-३-७६ ई.)

जब आत्मा ब्रह्मरन्ध्र में जाता है तो मन उसके साथ रहता है। यहाँ मन और प्राणों की एक धारा होकर चलती है। उस समय नाना लोक-लोकान्तरों का ज्ञान, आत्माओं का ज्ञान, आत्माओं का आह्वान करना, उन्हें समीप लाना यह सब उस धारा में परिणत हो जाता है। जब आत्मा 'ब्रह्मरन्ध्र' की सुन्दर नाड़ियों को जानने वाला बन जाता है तो उस समय उसकी अव्याहृत गति बन जाती है।

योगी की लोकान्तरों में अव्याहृत गति

ब्रह्मरन्ध्र के निचले विभाग में रीढ़ के जो मनके होते हैं उनकी ग्रन्थियाँ खुलती चली जाती हैं, इसको 'अभाक-चक्र' कहते हैं। इस चक्र में जाकर जब रीढ़ की अन्तिम ग्रन्थि खुल जाती है, स्पष्ट हो जाती है तो उस समय आत्मा में यह शक्ति आ जाती है कि इस शरीर को त्याग करके, लोक-लोकान्तरों में भ्रमण करके पुनः शरीर में आ सकता है। उसी यौगिक शरीर में आत्माओं का केन्द्र भी हो जाता है। वह ज्ञान और प्रयत्न के साथ संकल्प करता है, तो उससे वह उसी सूक्ष्म शरीर वाले जीवात्मा के पास पहुँच जाता है। जब भी वह अपनी संकल्पशक्ति से यह धारणा बनाता है कि अमुक सूक्ष्म शरीर वाले जीवात्मा से सम्बन्ध होना चाहिये तो प्राण के आश्रित होकर ज्ञान और प्रयत्न के सहित वह उनसे सम्बन्ध कर लेता है। प्राणों की क्रिया और मन के द्वारा यह मानव शरीर जीवित रहता है और आत्मा इसमें विराजमान रहता है।प्रश्न यह आता है कि आत्मा के निकल जाने पर तो यह शरीर शून्य होकर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, तो फिर उस शरीर का क्या बनेगा।

इसका उत्तर यह है कि वह पवित्र आत्मा जिसका सम्बन्ध अन्तरिक्ष में यौगिक आत्माओं से होता है, प्राण-संकल्प द्वारा अव्याहृत गति वाला होता है। यह संकल्प मन का होता है, जिसे 'विश्वभान-मन' कहते हैं। 'विश्वभान-मन' की एक गति नहीं बल्कि वह सबमें रमण करने वाला होता है। मन की विश्वभान गति हो जाने के पश्चात् मन और प्राण, जिनको ज्ञान और प्रयत्न कहते हैं, इतने व्यापक हो जाते हैं कि वे इस शरीर में भी कार्य करते हैं। आत्मा इतना प्रबल गति वाला होता है कि वह इन प्राणों पर सवार होकर आवागमन करता है। उसी आवागमन के द्वारा वह यौगिक आत्माओं से सत्संग बना लेता है। यह सब जानकारी यौगिक क्षेत्र में जाने से ही हो सकती है। (नौवाँ पुष्प, २९-७-६६ ई.)

सिद्ध-योगी

जो योगी नस-नाड़ियों के चक्र को जानता हुआ, ब्रह्मरन्ध्र में ब्रह्मचर्य की 'ओ३म्' रूपी धागे के साथ जिनका ब्रह्मचर्य, ऊर्ध्वगति को प्राप्त हो जाता है, वह योगी सिद्ध होता है। वह इस संसार में जीवन मरण से मुक्त हो जाता है क्योंकि उसके ब्रह्मचर्य तथा उपस्थ इन्द्रियों का तारतम्य ऊर्ध्व हो जाता है। (सत्रहवाँ पुष्प, २५-२-७२ ई.)

जब ब्रह्मचर्य के परमाणुओं की गति ब्रह्मरन्ध्र के निचले स्थान में रहती है तो उनकी गति ध्रुवा बन जाती है। उससे (वह) पितृ-यज्ञ करता है, सन्तान आदि की उत्पत्ति करता है। जब उन्ही परमाणुओं की ऊर्ध्वगति हो जाती है, तो वह मानव देवता बन जाता है, उसका

जीवन दिव्य बन जाता है। यह संसार उसके लिये खिलवाड़ बन जाता है। वह परमाणुरूपी अग्नि से यज्ञ करता है, यज्ञ करता हुआ परमाणुओं की ऊर्ध्वगति बना रहा है, वह ब्रह्मरन्ध्र से ऊर्ध्वगति (को) प्राप्त होना प्रारम्भ हो जाता है। (सत्ताईसवाँ पुष्प, ३-३-७६ ई.)

ध्यान

(बाह्य इन्द्रियों के प्रयोग बिना, केवल मन में लाने की क्रिया या भाव, इसमें ध्यानकर्ता, मन तथा ईश्वर पृथक्-पृथक् रहते हैं)

मन और प्राण दोनों की सामूहिकता, सहकारिता का नाम ही ध्यानावस्था है। दधीचि, शाण्डिल्य, ब्रह्मा आदि महर्षियों ने कहा, कि यह मन सबसे शक्तिशाली है। इससे शक्तिशाली केवल प्राण ही हैं। ''प्राण में मन का मिलान कराने का नाम ही धारणा है।'' मन और प्राण की सहकारिता से उसमें चित्रों का प्रकाश आता रहता है। आत्मा का प्रकाश ज्यों-ज्यों आता रहता है, त्यों-त्यों मानव समाधिस्थ होता रहता है और वह योगी संसार के प्रपंचों तथा मान-अपमानों से उदासीन होता रहता है।

प्राणों का विभाजन दश-प्राणों के रूप में

मन और प्राण दोनों को सहकारिता में लाना है। क्योंकि मन और प्राण का विभाजन होते ही आत्मा के मण्डल में चित्त का निर्माण हो जाता है। यह संसार मन और प्राण का ही विभाजनवाद हैं। ये सभी मण्डल, खनिज और खाद्य, रसास्वादन आदि का विभाजन ही मन और प्राण द्वारा ही होता है। मन और प्राण का विभाजन होते ही प्राणों का विभाजन आरम्भ हो जाता है और रसों

का नाना रूपों में परिवर्तन होता रहता हैं। जब मन की धारा को प्राण से सहकारिता करके, मिलान कर देते हैं, तो दोनों का मिलान हो करके आत्मा ध्यान एवम् समाधि में स्थित हो जाता है। प्राण (ही) शरीरों में १-प्राण २-अपान, ३-व्यान, ४-उदान, ५-समान, ६-नाग, ७-देवदत्त, ८-धनंजय, ९-'कृकल और १०-कूर्म दश रूपों में परिणत होता है।

जब मन और प्राण को हृदय में सहकारी कर देते हैं, तो वह चित्त को भी अपने में समाहित कर लेता है। तब ब्रह्म और आत्मा दोनों में अन्तर्द्वन्द्व नहीं रहता। तब ऐसी विशालता और महत्ता आ जाती है। उसी को परम प्रकाश तथा आनन्दमय कहा जाता है वह आनन्द समाधिस्थ अवस्था में ही होता है।

महर्षि याज्ञवल्क्य तथा गुरू ब्रह्मा जी महाराज आदि का कथन है कि यह जगत मानव के हृदय में समाहित हो जाता है। क्योंकि यह संकल्पवाद विभाजनवाद तथा श्रद्धावाद मानव के हृदय से ही उत्पन्न हो जाता है। यह तभी होता है जब मन का प्राण से विच्छेद हो जाता है अर्थात् दोनों दो रूपों में परिणत हो जाते हैं। तब यह मन प्राण का विभाजन करता हुआ संसार की जानकारी कराता रहता है। कुटुम्ब, गुरु, शिष्य, आचार्य आदि का निर्णय कराता है। वेदों का भी चार विभागों में विभाजन कर देता है। धारणा नाम उसी को कहा है, जब पुनः से संसार को एकत्रित करके मन में प्राण का मिलान हो जाता है। प्रकृति का प्रपंच तथा जगत मन की रचना है, क्योंकि मन प्रकृति का है।

मन को प्राण में पुनः से परिणत करने के लिये, स्थिर रहकर शनैः शनैः अभ्यास करें। उस समय मन और प्राण दोनों की अवस्था चित्त में चली जाती है। चित्त में प्रकृति और मन की सीमा समाप्त हो जाती है। इसी अबस्था को मुक्ति कहा जाता है। अर्थात् मन और प्राण दोनों के मिलान होने का नाम ही मुक्ति है।

मन और प्राण के विभाजन होने का नाम ही चित्त है। चित्त में संस्कार बनते हैं, संस्कारों से यह संसार और जगत बन जाता है। यह जगत एक वृक्ष के समान बन जाता है। इस वृक्ष के बन जाने के पश्चात, आत्मा और परमात्मा का विषय, चित्त की सीमा में आने से यह संसार भ्रान्तिमय बन जाता है। ब्रह्म से भी मानव का विच्छेद होने लगता है। कहीं कहीं तो आत्मा और ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करना भी उसके लिये अवांछनीय हो जाता है। कहीं इस भोगवाद को स्वीकार करने लगता है तथा इसी को जीवन समझने लगता है। परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं; यह तो जगत में ही माना गया है।

जगत में हमारे आने का उद्देश्य यही है कि इस संसार में संस्कारों को एकाग्र करके धारणा, ध्यान, समाधि में प्रविष्ट होवें तथा चित्त की सीमा को नष्ट कर दें।

चित्त के नाना रूप

चित्त भी कई प्रकार के माने गये हैं जैसे अन्तरिक्ष भी चित्त माना गया है। मानव के मन की क्षीण दशा का नाम भी चित्त है। महर्षि शाण्डिल्य, महर्षि दधीचि आदि ऋषियों का मत है कि संसार में 'द्यु' में अग्नि प्रविष्ट रहती है। आत्मिक-यज्ञ करते समय आत्मा के घृत को

द्यु-मण्डल से ही लिये जाता है।

प्रश्न यह है कि वह द्यु-मण्डल कौन सा है जहाँ गो घृत रहता है। 'गो' नाम प्राण का है जिसको मन के द्वारा दुहा जाता है। उसमें से जो तरंगें उत्पन्न होती हैं,उसका नाम घृत है। उन तरंगों को जब हृदय रूपी यज्ञ में आहुति दी जाती है तो जैसे यज्ञशाला में (यज्ञ कुण्ड में) समिधा समिधा न रह करके अग्नि रूप बन जाती है, इसी प्रकार चित्त की सीमा न रह करके एक ब्रह्म ही ब्रह्म मानव को अपने में दृष्टिपात आने लगता है। तब प्रकाश ही प्रकाश रह जाता है। अन्धकार नहीं रहता। आत्मा-परमात्मा की नाना प्रकार की सीमाएँ तथा नाना प्रकार के वाद मानव के मस्तिष्क से समाप्त हो जाते हैं।

यह विवाद तभी तक रहता है, जब तक चित्त की सीमा बनी रहती है और मन तथा प्राण दोनों की सहकारिता नहीं होती।

आध्यात्मिक यज्ञ

मन और प्राण दोनों का मिलान करने के पश्चात् द्यु से घृत लिया, चित्त रूपी यज्ञशाला में नाना प्रकार की भ्रान्तियों रूपी समिधा को ब्रह्मरूपी अग्नि में प्रविष्ट किया। इस प्रकार भ्रान्तियाँ समाप्त हो जाती हैं, तथा ब्रह्म एक प्रकार का प्रकाश रूप में दृष्टिपात आने लगता है, अन्धकार नहीं रह पाता है।

किन्तु सावधानी यही रखनी है कि मन और प्राण का विभाजन न होने पाये। विभाजन होते ही यह संसार प्रपंच (संसार का जंजाल, भ्रम, धोखा) बन जायेगा। मिलान होने पर संसार से उदासीन होकर धारणा, ध्यान, समाधि में प्रविष्ट हो जायेंगे। (अट्ठारहवाँ पुष्प, १३-४-

७२ ई.)

मन और प्राण के समन्वय का परिणाम

मन और प्राण का मिलान हो जाना ही इस शरीर में आनन्द प्राप्त करना है। मानव को मन और प्राण की प्रक्रिया का अभ्यास हो जाने पर वह निद्रा-विहीन जीवन में रमण करने लगता है। उसको निद्रा की आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि मन-प्राण का मिलान होने पर प्रकृति के आवेशों का विकार समाप्त हो जाता है। विभाजनवाद न होने से प्रमाद भी नहीं रहता। प्रमाद उसी काल में आता है जब हमारी प्रवृतियों का विभाजन हो जाता है। मन और प्राण का विभाजन होने से प्रवृत्तियों का विभाजन हो जाता है। मन और प्राण के एक सूत्र में बँध जाने पर चित्त के नाना संस्कारों का भी कुछ न कुछ रूप परिवर्तन हो जाता है। उनमें हलकापन आकर ऊर्ध्वगति हो जाती है। मन और प्राण की अग्नि प्रदीप्त होने पर चित्त के संस्कार और भी सूक्ष्म हो जाते हैं और अग्नि प्रदीप्त करने पर और सूक्ष्म बनते हैं। परिणाम यह है कि सूक्ष्म से सूक्ष्म बनकर कारण में चले जाते हैं। कारण में जाकर एक समय ऐसा आता है, जब आत्मा निर्द्वन्द्व हो करके प्रभु के आनन्द में विचरने लगता है। वे कर्म प्रकृति के आँगन में रमण कर जाते हैं, (उस) आत्मा के समीप नहीं रहते। (पच्चीसवाँ पुष्प, ११-११-७२ ई.)

मन और प्राण को एक सूत्र में लाने के लिये ब्रह्मचर्य तथा व्रतों का पालन करना अनिवार्य है। हमें चित्त की विशेष अवस्था को जानने का प्रयास करना चाहिये। हम उस भ्रमी (भ्रान्तिपूर्ण) चित की

सीमा को नष्ट करके प्रकाश ही प्रकाश को देखने का प्रयास करें तथा स्वयम् प्रकाशमय बन जायें

परमात्मा प्रकाशमय है

प्रकाशमय बनने का अभिप्राय यह है कि हममें अन्तर्द्वन्द्व नहीं रहना चाहिये। उसे समाप्त कर देना चाहिये। चित्त नाना रूपों में परिणत होकर साधारणतया विशेषता तथा यौगिकता में परिणत होता रहता है। आत्मा-परमात्मा के विषय के क्षेत्र में तो प्रकाश ही रहता है, द्वितीय भाव का जन्म नहीं होता। द्वितीय भाव का जन्म तो उसी समय होता है, जब हम प्रकृति के नाना आवेशों में ब्रह्म को जागरूक करना चाहते हैं अर्थात् भौतिकवाद में नाना यन्त्रवाद में प्रभु को दृष्टिपात करना चाहते हैं। यदि हम यह स्वीकार करने लगें कि इससे ब्रह्म प्राप्त हो जाये तो यह मानवता के लिये सुन्दर नहीं है। गुरु ब्रह्मा जी महाराज का उपदेश यही रहा कि संसार में यह मत जानो कि ब्रह्म तथा आत्मा को द्वितीय भावों में व्यक्त करना है। अपने जीवन में एक महान् तथा ऊँची से ऊँची उड़ान उड़ते चले जाओ। यह नाना प्रकार की आभा स्वतः ही समाप्त होती रहती है, वह रहती ही नहीं। (अट्ठारहवाँ पुष्प, १३-४-७२ ई.)

समाधि

(१) (ध्यान-विशेष, एकाग्रता)

ब्रह्म के ध्यान में लय हो जाने का नाम समाधि है। (अठाईसवाँ पुष्प-पृष्ठ-११)

जब ऋषि-मुनि योग-स्थित होते हैं तो हृदय में अगम्यवत् हो जाते

हैं, आन्तरिक प्रवृत्तियों को अपने में धारण करने वाले बन जाते हैं। (पन्द्रहवाँ पुष्प, २०-६-६३ ई.)

जो मानव हृदय और मस्तिष्क का समन्वय करता रहता है तो सबसे पहले उसे घृणा, कामवासना, अधिकमद, अभिमान तथा अपमान को त्यागना होगा। इसको त्यागने के पश्चात् मानव के हृदय तथा मस्तिष्क दोनों में विशालता आने लगती है। व्यान नाम का प्राण महान् वैज्ञानिक वार्ता को विचारने लगता है। योगी समाधिस्थ हो जाता है।

समाधि कई प्रकार की होती है। १ निर्विकल्प समाधि वह होती है जिसमें परमात्मा का चिन्तन करते-करते मानव को यह प्रतीत नहीं होता कि यह जगत भी कोई जगत है।

(२) अपरात-सतवन-समाधि

अपरात-सतवन-समाधि वह होती है जिससे मानव समाधिस्थ होकर जड़वत् हो जाता है। वह ऐसा जड़वत् हो जाता है कि उसे संसार का बोध होता ही नहीं, अपने शरीर का बोध भी नहीं रहता।

(३) एक समाधि वह होती है, जिसमें प्राण और आत्मा का तारतम्य लग जाता है। इनको इस प्रकार समझा जा सकता है कि जागरूक अवस्था में आत्मा का सम्बन्ध नेत्रों से होता है, स्वप्नावस्था में आत्मा का सम्बन्ध मन से होता है तथा सुषुप्तावस्था में आत्मा का सम्बन्ध प्राण से रहता है। इसमें यह आत्मा प्राण के द्वारा गमन करता रहता है और जीवन का सर्व व्यापार शान्त हो जाता है। इस प्रकार से ये तीन समाधियाँ हैं

१-निर्विकल्प समाधि जागरूकता के समान है।

२-अपरात सतवन समाधि-स्वप्नावस्था के समान है।

इसमें ब्रह्माण्ड का विस्तार रूप धारण करना है। जैसे स्वप्न में मानव उन परिस्थितियों तथा द्रव्यादि को देखता है, जो उसके पास कभी नहीं होती, एक नवीन रचना होने लगती है।

३-तृतीय समाधि में मानव परमात्मा को व्यापक रूप में दृष्टिपात करता है, जिसको साम्य दृष्टि कहते हैं। जब वह एक ही प्रभु की चेतना को सब जगत में दृष्टिपात करने लगता है, तो उसके द्वारा पाप-पुण्य भी नहीं होता। आत्मा का सम्बन्ध केवल प्राण से रहता है।

इसके अतिरिक्त ४-चेतनित समाधि, ५-लोकेश समाधि आदि नाना प्रकार की समाधियाँ होती हैं। (चौदहवाँ पुष्प, २-११-७० ई.)

परमपूज्य ब्रह्मचारी कृष्णदत्त जी महाराज जब श्रृंगी जी के रूप में थे, तब के किसी जन्म में, इन्होंने अपने गुरुवर ब्रह्मा जी महाराज से प्रश्न किया कि जिस समय यह आत्मा प्रभु का अनुभव करता है उस समय यह वाणी भी उसके साथ कार्य करती है या नहीं? या उसके जाग्रत होने के पश्चात् वाणी में कुछ ओज आ जाता है, या आत्मिक शक्ति का जागरण हो जाता है?

ऋतम्भरा द्वारा परमात्मा से मिलान होने पर योगी के शरीर का रूप

गुरुवर्य ब्रह्माजी महाराज ने अनुभव कराते हुए बताया कि जब ऋतम्भरा से उस परमात्मा में मिलान हो जाता है उस समय यह आत्मा बहुत विस्तार वाला बना जाता हैं। जब वह परमात्मा के आँगन से अपने आँगन में आता है, तो ये इन्द्रियाँ जो शून्य हो चुकी

थीं, अपना कार्य करने लगती हैं। उस समय वाक्यों में, नेत्रों की ज्योंति में, शुद्धता आ जाती है, घ्राण सुगन्धि वाली हो जाती है, हस्त भी सुन्दर हो जाते हैं। योगी को किसी प्रकार की भ्रान्ति नहीं रहती। आत्मा के प्रकाश से इन्द्रियों में ओत प्रोत होकर वह योगी प्रकृति पर शासन कर लेता है। शासन करते हुए वह श्वास को भी जो प्राण कहलाता है, अपने अधीन कर लेता है। उस समय योगी-आत्मा जल में तथा वायु में रमण कर सकती है। प्राणों पर सवार होकर वह आत्मा अन्तरिक्ष में उसी प्रकार रमण करने लगता है, जैसे यन्त्रों से बने पुष्पक विमान पर। (सातवाँ पुष्प, ३-४-६४ ई.)

योगी के पुष्पक विमान का स्वरूप

कहा जाता है कि पूर्व युगों में ऋषियों के लिये पुष्पक विमान आते थे, उसमें बैठकर वे वैकुण्ठ को चले जाते थे। इसका अभिप्राय यह है कि जब मानव अपने मन को शान्तिमय कर लेता है, तो ये सब तन्मात्राएँ मन में समाहित हो जाती हैं, यह सारा संसार बुद्धि में समा जाता है, बुद्धि अन्तःकरण में लय हो जाती है। ज्ञानेन्द्रियों एवम् कर्मेन्द्रियों के समस्त विषय अन्तःकरण में लय हो जाते हैं। इस अन्तःकरण को पुष्पक विमान कहा जाता है। तथा इस ज्ञान का नाम ''पुष्पवेति-ज्ञान'' है।

हमारा जितना भी मन का विज्ञान है, बुद्धि का विज्ञान है, तन्मात्राओं का विज्ञान है, ज्ञान का विज्ञान है, और वाणी का विज्ञान है, वह सब अन्तःकरण में लय हो जाता है, जो अन्तःकरण ब्रह्मचर्य से परिपक्व है और अपनी यौगिकता में डूबा हुआ है।

इस पुष्पवेति यन्त्रों से बने विमान में आत्मा विराजमान हो जाता है, जहाँ वह जाना चाहता है, पहुँच जाता है। पुष्पक विमान में यह आत्मा बैठता है और परमात्मा इसको चलाता है। इस प्रकार वह वैकुण्ठ लोक चला जाता है जहाँ वह परमात्मा के लिये आत्मिक संसार को प्रत्यक्ष देख सकता है। (तीसरा पुष्प, १६-७-६३ ई.)

योग

हमारे यहाँ योग के सम्बन्ध में नाना प्रकार के भेदन माने गये हैं। परन्तु जो मूल है, वह यह है कि जो योगी बनना चाहता है, योग के समीप जाना चाहता है, परमात्मा के निकट जाना चाहता है, वह अपने आहार को उज्ज्वल बनाता है।

१. एक शारीरिक योग होता है, जिसमें शारीरिक अथवा मानसिक रोग समाप्त होते हैं। यह मन नाना स्थलों से नाना प्रकार के अस्वस्थ भोगों को ला करके शरीर को रुग्ण बना देता है। अतः मानव का सम्पर्क ऊर्ध्वगति वाला होना चाहिये। ऐसे प्राणियों से सम्पर्क नहीं रहना चाहिये, जो मन को सदैव भयभीत करते रहते हों। क्योंकि मन को जिस प्रकार का बनाना चाहते हो उसी प्रकार का बना लो। शरीर में जितने रोग होते हैं, उन सबका मूल कारण यह मन ही है।

२. वाणी-चित्त-योग :-मन और प्राण दोनों इस शरीर में सुचारु रूप से कार्य करते रहें, ऐसा भी एक भौतिक योग है जिसे ''वाणी-चित्त-योग'', कहते हैं। एकान्त स्थान में विराजमान होकर मन के ऊपर संयम करना प्रारम्भ करता है। संयम करके एक दूसरे के मन

को एक दूसरे के मन से आच्छादित भी कर देता है। परन्तु यदि मन में किसी प्रकार का भय नहीं है, रुग्णता नहीं है, तो दूसरे के मन से वह प्रभावित नहीं होता। इसलिये हम शारीरिक जीवन को सुखी बनाने के लिये, रोगों से दूर रहने के लिये चिन्ताओं से रहित हो जाते हैं। चिन्ताओं से मानव का शरीर एक अग्नि का समूह बन जाता है। अग्नि का समूह बन करके वह नाना प्रकार के रोग मानव के हृदय में उत्पन्न कर देता है तथा शरीर व्याधियों का मन्दिर बन जाता है। अतः मन को ऐसा चिन्तित न बनाओ जिससे मानव के शरीर में नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो जायें।

३. औषध-योग : यह एक योग ऐसा है जिसमें नाना प्रकार की औषधियों का पान किया जाता है। हम उन औषधियों का पान करें जिससे मानव का जीवन सुखी बने, तथा आनन्दित बने। जब मन और प्राण एक स्थली में जाकर सुचारु रूप से कार्य करने लगते हैं, तो मानव के शरीर में कोई रोग नहीं रहता। इसलिये मानसिक चिन्तन ऊँचा होना चाहिये। मन और प्राण को एक सूत्र में लाने का प्रयास किया जायें। उस प्रयास में हम योग में रमण करके अपने जीवन को ऊर्ध्वगति में ले जाये। मन और प्राण को एक सूत्र में लाने से पूर्व शरीर की मानसिक क्रिया योग की होनी चाहिये। एक तो यह योग साधारणतया माना जाता है।

४. विज्ञान-योग : ऊर्ध्वगति में जाने वाला जो योग है, उससे नम्रता में जाने वाला भी एक योग है जिसे विज्ञान कहते हैं। इसमें मानव परमाणु का मिलान करता है, तथा मिलान करता हुआ उसको

एक सूत्र में पिरोता है। एक सूत्र में पिरोने वाला जब चक्र परमाणु योग में मिलान करा देता है, वह धातु योग है। जब उसका योग सुचारु रूप से ही हो जाता है, तो वह मानसिक गति के आधार पर लोक-लोकान्तरों को मापना प्रारम्भ कर देता है, वह भौतिक विज्ञान है। भौतिक विज्ञान ऐसा विज्ञान है जो मन और बुद्धि को सुचारु रूप से मापता रहता है। परन्तु वह मापा नहीं जाता। जब वह परमाणु के मिलान के लिये अग्नि की आभा जानने का प्रयास करता है, तो वह परमाणुओं को जानता रहता है। अग्नि को जानकर अग्नि की धाराओं को जानना प्रारम्भ करता है, तो वह वैज्ञानिक-योग कहलाता है।

५. आत्मिक योग : सर्वप्रथम (१) गुड़ा केश (२) उपसेथली, (३) सेलमुष्टि तथा (४) कृतात नाम की औषधियों का अग्नि में पात बना कर पान किया जाता है। उससे अन्न की पूर्ति हो जाती है तथा मन और बुद्धि स्वच्छ बन जाते है।

ब्रह्मवेत्ता वही बनता है जो अपने शरीर की आभा को जानता है। शरीरिक विज्ञान से, सात्विक ब्रह्म-ज्ञान से, कोई भी मानव ब्रह्मवेता नहीं बन सकता। ब्रह्मवेत्ता वह कहलाता है, जिसका ब्रह्म के द्वारा आदान प्रदान हो, ब्रह्म के द्वारा गमन हो। यह गमन मन और प्राण के योग के द्वारा होता है। प्राण की आभा को क्रिया में साधना से लाना है। आसन शुद्ध होना चाहिये। एक-एक आसन ढाई-ढाई घड़ी का होना चाहिये। जिससे उस आसन में बैठकर अपनी अन्तरात्मा में उसकी अनुभूति कर सके तथा मन और प्राण को एक सूत्र में ला करके आत्मा की प्रतिभा को जान सके। फिर प्राणायाम करना

चाहिये। इससे मानव शरीर में बौद्धिक, आत्मिक तथा शारीरिक तीनों प्रकार की उन्नति आरम्भ हो जाती है। (अट्ठाईसवाँ पुष्प, १२-१२-७४ ई.)

ऊर्ध्वगति : अन्तरात्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगति को जाना है। यदि इन्द्रियों की भी ऊर्ध्वगति होती है, तो सुख का अनुभव करती है और ध्रुवा हो जाने पर दुःख का अनुभव करने लगती है। ऊर्ध्वगति ही मानव का जीवन है, ध्रुवागति ही मृत्यु है। (तेरहवाँ पुष्प, २२-८-६९ ई.)

जब ब्रह्मचारी ऊर्ध्वगति को प्राप्त होकर उस सुन्दर स्थल रूपी यज्ञशाला में रमण करने लगता है, तो वह ऊर्ध्वगति से द्यु-लोक को प्राप्त हो जाता है। उस काल में उसकी एक आभा का प्रायः सुन्दर दिग्दर्शन होता है, तो वह आचार्य, वह ब्रह्मचारी, वह ऋषि ऊर्ध्वगति को प्राप्त होता हुआ, इस संसार में एक महत्ता को, उज्ज्वलता को धारण कराता रहता है। (सत्रहवाँ पुष्प, २५-२-७२ ई.)

ऊर्ध्वगति उसको कहते हैं, जब ब्रह्मरन्ध्र की नाना प्रकार की नाड़ियों के द्वारा दिव्य दर्शन कर लेता है। उसे दिव्य चक्षु भी कहते हैं।(सत्रहवाँ पुष्प, २५-२-७२ ई.)

परमपूज्य ब्रह्मचारी कृष्णदत्त जी महाराज ने महर्षि श्रृंगी के रूप में किसी जन्म में गुरुवर्य ब्रह्मा जी महाराज से प्रश्न किया

''योगी दिव्य दृष्टि कैसे प्राप्त कर लेता है ? क्योंकि योगी आत्मा की प्रवृत्ति सूर्य, ध्रुव, पृथ्वी आदि नाना लोक-लोकान्तरों के गर्भ को जानने लगती है ?''

गुरुवर्य ब्रह्मा जी महाराज ने उत्तर दिया :.

"जब योगीजन यौगिक क्षेत्र में प्रवेश करते हैं, तो जब वे ब्रह्मलोकों में प्रविष्ट होने लगते हैं तो आत्मा एक प्रबल शक्ति वाला बन जाता है। आसन, प्राणायाम के द्वारा मन और प्राण दोनों के मिलान से ब्रह्मचर्य की गति ऊर्ध्व बन जाती है। ब्रह्मचर्य की ऊर्ध्व गति बना करके उसे ब्रह्मरन्ध्र में ले जाते हैं। उससे ब्रह्मरन्ध्र एक अबाध गति में परिणत होता रहता है। उसमें एक महत्ता ऐसे प्रकट होने लगती है, जैसे एक महत्ता में मानवीय जाति में समूह उत्पन्न होता है। ब्रह्मचर्य की गति नाड़ियों के द्वारा ऊर्ध्व बन जाने पर ब्रह्मरन्ध्र से उसका सम्बन्ध हो जाता है।"

ब्रह्मरन्ध्र के निचले विभाग में पीपल के पत्ते के अर्द्ध-भाग के समान एक स्थल होता है। उसमें तीन प्रकार की नाड़ियाँ होती हैं १ सुकेता, २. सोमभुक् और ३. श्वेतकेतु। इनका सम्बन्ध १-इडा, २-पिंगला से रहता है। उन नाड़ियों में से ७२-७२ धाराओं का जन्म होता रहता है तथा उन धाराओं में ऐसा प्रवाह उत्पन्न होता रहता है कि जब समाधिस्थ होकर मन और प्राण की एकता करके सहकारिता में लाया जाता है, तो उसमें एक महत्ता का जन्म हो जाता है। मन और प्राण के एकाग्र होने पर ब्रह्मचर्य की ऊर्ध्वगति ब्रह्म में चरने वाली एक अबाध गति मानी जाती है। उसमें एक महत्ता का जन्म ब्रह्म-व्याप्य में हो जाता है। उस समय ब्रह्म की अबाध-गति ऐसी महत्ता में परिणत होने लगती है कि उससे संसार में महत्ता का जन्म होने लगता है। ब्रह्मचर्य की अबाध गति विशेष और प्रबल हो जाती

है। एक-एक नाड़ी से सहस्रों धाराओं का जन्म हो जाता है। इन्हीं धाराओं के साथ आभाएँ और तरंगें उत्पन्न होती रहती हैं। इन आभाओं का सम्बन्ध मानव के चित्त से होता है। लोक-लोकान्तरों की आभाओं की तरंगो का चित्त से सम्बन्ध होता है। इनके सम्बन्ध होने के कारण जब चित्त के देश में मानव की विशेष सुरति (विशेष लग्न) हो जाती है, तो वह योगी इस ब्रह्माण्ड का दर्शन कर लेता है। अतः मानव को अपनी प्रवृत्तियों को ब्रह्म में विचरण करा देना चाहिये। (अट्ठारहवाँ पुष्प, १३-४-७२ ई.)

योग की अग्नि

जब योगी अग्न्याधान करने के साथ-साथ बाह्य जगत और आन्तरिक जगत का अनुसन्धान करता है तो वह गार्हपत्य नाम की अग्नि की पूजा करता है। गार्हपत्य अग्नि की पूजा करने के पश्चात् वह आन्तरिक जगत और बाह्यजगत दोनों को एकता में लाने का प्रयास करता है। आगे वह अव्याहृत-गति को प्राप्त करता हुआ गार्हपत्य अग्नि से दूर हो करके; यहाँ तीनों अग्नियों का समावेश हो जाता है। तब वह संसार के एक-एक परमाणु को व्यापकता में दृष्टिपात करता है। वह एकान्त में समाधिस्थ होकर जानता रहता है कि यह संसार क्या है? ब्रह्म-रचना क्या है? हम क्या हैं? वनस्पति क्या है? ये गुण क्या हैं?

इनको जानता हुआ वह समाधिस्थ होकर 'चकनाक' नाम की अग्नि की पूजा करता है। अग्नियों की पूजा करता हुआ प्रत्येक वस्तु में, कण-कण में वह विज्ञान और प्रसारण को दृष्टिपात करता है।

प्रसारण को दृष्टिपात करते हुए वह उसका संगठन भी करने लगता है और उसको बाह्य-जगत में दृष्टिपात करता हुआ आन्तरिक-जगत में जाता है, अपने मन और प्राण के जगत में जाता है। उसे अपने अन्तरात्मा में सर्वजगत दृष्टिपात आ रहा है। ऐसे याज्ञिक पुरुष का संसार में कोई शत्रु नहीं होता।

वेद का ऋषि कहता है कि एक-एक शब्द में, एक-एक श्वास में मानव की एक-एक प्राण की गति में मानव के चित्र अन्तरिक्ष में विराजमान हो जाते हैं, उनका जो वाहन है वह अग्नि है। एक अग्नि तो यह है जो साकारवत् है। एक अग्नि वह है जिसके ऊपर शब्द विराजमान हो करके जाते हैं। वह 'आभन्य' नाम की अग्नि कहलाती है

अग्नि के सहस्रों भेद

१-दक्षिणाय अग्नि, २-ऋषिकेश अग्नि, ३-इन्द्र अग्नि, ४-प्रतिभा अग्नि, ५-चक्राणि अग्नि और ६-बुद्धि अग्नि आदि नामक सहस्रों प्रकार की अग्नियाँ है। भौतिक विज्ञान इसके समीप भी नहीं जाता। भौतिक विज्ञान उन अग्नियों को नहीं जान सकता। वेद का ऋषि आगे व्याख्या करता है कि एक अग्नि तो वह है जो आकाश से यहाँ तक आने के लिये आती है। एक अग्नि वह है जिसे वैज्ञानिक अथवा योगी अपने में अनुभव करता है। एक अग्नि वह है जिसे मानव प्राण द्वारा खींचने लगता है। इनके कणों को लेकर प्राण के द्वारा ऊर्ध्वगति को रमण करता है। आगे चलकर जैसे ''आभन्य'' अग्नि है, ऐसी एक-एक अग्नि से अरबों-खरबों धाराओं का जन्म होता है। इन धाराओं को

जानना अग्नि की पूजा करना है। (सत्ताईसवाँ पुष्प, ३-३-७६ ई.)

योगी का स्वरूप एवम् आहार

संकल्पमात्र से योगी की तृप्ति

योगी उसे कहा जाता है जो मानव धर्म के दश लक्षणों पर अपना आधिपत्य कर लेता है। उनके ऊपर अनुसरण करता हुआ अपने जीवन को 'ओ३म्' रूपी धागे में, उस सूत्र में पिरो देता है जो चेतना है। जड़ता को त्यागकर वह चेतना का अनुभव करता है, तो वह योगी निद्रा विजयी बन जाता है, राकेश बन जाता है। वह वनस्पतियों के स्थूल अन्न को त्याग देता है, वह केवल वायु के, अग्नि के तत्त्वों में जो अन्नादि परमाणु रूप में रमण कर रहा है, उन परमाणुओं को वह अपने में ग्रहण कर लेता है।

क्योंकि उसको उनकी अनुभूति होने लगती है। जब प्रतीति होने लगती है तो वह उसको अपने में ग्रहण करने लगता है। ग्रहण करता है तो उसी से वह तृप्त रहता है। नाना वृक्षों के फलों के जो पोषक तत्त्व हैं, योगी जब मन के ऊपर संयम कर लेता है, बुद्धि और मन दोनों का समन्वय होने पर उसका आहार भी सूक्ष्म बन जाता है। उनके रसों का स्वादन वह संकल्पमात्र से करता है और तृप्त होने लगता है।

आहार केवल स्थूल अन्न ही नहीं होता है। एक अन्न जो वायुमण्डल में विचरण करता है, वह भी अन्न होता है। परमाणुओं से मानव का शरीर बना है, परमाणु इसका आहार है। उन परमाणुओं को योगी वायु से भी ग्रहण कर लेता हैं, जल से भी और अन्तरिक्ष

में रमण करने वाले परमाणुओं को तथा द्यु-लोक से भी ग्रहण कर लेता है। उनसे भी शरीर की तृप्ति हो जाती है। एक समय वह आता है कि स्थूल शरीर को भी त्याग दिया जाता है, सूक्ष्म शरीर रह जाता है। सूक्ष्म का भी विच्छेद होकर कारण शरीर रह जाता है। कारण का सम्बन्ध उस प्यारे प्रभु से होता है। प्रभु के गर्भ में वह कारण, लिंग शरीर भी अस्वातों में रह जाता है। परन्तु वह उसके आँगन में विचरण करने लगता है। (पच्चीसवाँ पुष्प, ११-११-७२ ई.)

योगियों की गतियाँ

योगियों की नाना प्रकार की गतियाँ होती हैं। जैसे। १-जीवनमुक्त, २-सन्धेवनी, ३-जनता जनार्दन में समाधिस्थ होना, ४-सोभनी और ५-अस्वेत आदि।

१-जीवन मुक्त उस प्राणी को कहा जाता है जो मानव स्थूल शरीर की प्रक्रिया को जान लेता है। श्वासों की गति में उसकी प्रवृत्ति हो जाती है। जो मानव योगी बनना चाहता है, उसे अपने मानव-शरीर में अंग-प्रत्यंग को 'ओ३म्' रूपी धागे में पिरो देना चाहिये। यह तभी हो सकता है, जब प्रत्येक श्वास के साथ 'ओ३म्' का तारतम्य हो जाता है। मानव के प्रत्येक श्वास के साथ हृदय और मस्तिष्क का समन्वय और मिलान कराने वाला यह 'ओ३म्' रूपी धागा ही है। जैसे धागा मनकों को माला के रूप में परिणत कर देता है, परमात्मा का ऋत् लोक-लोकान्तरों को सौर-मण्डलों के रूप में परिणत कर देता है, आकाश-गंगा आदि का निर्माण हो जाता है। इसी प्रकार 'ओ३म्' के द्वारा हमारा तारतम्य होना चाहिये।

जीवन मुक्त प्राणियों को पाप और पुण्य दोनों नहीं व्यापते

वह इस प्रकार का योगी होता है कि वह जब चाहे, बिना माता के गर्भ में आये शरीर धारण कर सकता है। वह इस प्रकार कर लेता है कि जो उसका परमाणुवाद प्राण के द्वारा, श्वासों की गति के द्वारा वायु-मण्डल में, विद्युत में रमण कर रहा है, द्यु-लोकों में उसी प्रकार प्रतिष्ठा हो रही है, उसी में वह रमण कर रहा है। उन परमाणुओं को एकत्रित करके वह स्थूल शरीर में परिणत हो जाता है तथा क्षण समय में उसे त्याग भी देता है। जीवन मुक्त प्राणियों का परमाणुवाद पर आधिपत्य हो जाता है, उसी में वे गतिशील हो जाते हैं।

वह यह जानता है कि अपने यन्त्र को बनाने के लिये उसे कितने परमाणु जल के तथा कितने वायु के चाहिये। वह हृदय और मस्तिष्क को एकाग्र करके उन परमाणुओं का मिलान भी कर देता है। उस समय उसके लिये सूर्य, चन्द्रमा आदि मण्डलों की यात्र सुगम हो जाती है क्योंकि वैसा ही उसका शरीर बन जाता है। (चौदहवाँ पुष्प, २-११-७० ई.)

योगी शब्दों का प्रसारण कैसे करता है ?

जैसे भौतिक-विज्ञानवेत्ता शब्दों के यानों का निर्माण करता है, इसी प्रकार योगी भौतिक क्षेत्र में, योगियां के समाज में विराजमान हो करके, प्राण के द्वारा अव्याहृत गति से अपने शब्दों को संसार में प्रसारण कर सकता है। वह जो प्राण की अव्याहृत गति है, उसका सम्बन्ध सूक्ष्म मण्डल से रहता है। वह योगी उन महान् आत्माओं से जो उसके निकट हैं, उनसे वार्त्ता कर सकता है, उनसे सत्संग भी

कर सकता है, उनसे विचार-विमर्श भी करता है। वह योग की 'स्वाति-गति' कहलायी जाती है।

योग की भिन्न-भिन्न प्रकार की गति मानी गयी हैं। हमें योग की उन सिद्धियों में नहीं जाना चाहिये जो प्रकृति में हमें तन्मय करा देती हैं, प्रकृति के क्षेत्र में महिमावादी बना देती हैं। सिद्धियों के क्षेत्र में जो योगी चला जाता है, उसका विनाश हो जाता है, उसकी आत्मा का हनन हो जाता है।

प्रायः वह संसार में प्रसिद्ध तो हो सकता है परन्तु अपनी आत्मा के क्षेत्र में वह प्रसिद्ध नहीं होता, न योगियों के क्षेत्र में प्रसिद्ध होता है। (पच्चीसवाँ पुष्प, १४-८-७२ ई.)

एक समय भृगु आश्रम पर ऋषियों की सभा में महर्षि मुद्गल तथा महर्षि शाण्डिल्य जी ने प्रश्न किया कि संसार में योग की कितनी आभाएँ हैं तथा योग के द्वारा योगी अपनी आत्मा को कहाँ-कहाँ ले जा सकता है?

योग की ३६ प्रकार की गतियाँ

महर्षि भृगु जी महाराज ने बताया कि योग की गति ३६ प्रकार की होती हैं। वे जो ३६ प्रकार की गतियाँ हैं, वे आत्मा का सूक्ष्म रूप हैं। आत्मा के लिये जो योग का प्रारम्भ है, वह तीन प्रकार के शरीरों को जानने का नाम योग है। १-स्थूल, २-सूक्ष्म और ३-कारण शरीर।

कारण शरीर में भी पंचमहाभूतों का मिश्रण रहता है। क्योंकि वह पंचमहाभूतों की सूक्ष्मतम गति कहलायी जाती हैं। सूक्ष्म शरीर में जब

सतोगुण अधिक प्रबल होता है, और जब सूक्ष्म गति इसको प्राप्त हो जाती है, तो यह यौगिक आत्माओं में रमण करने लगता है। मानव की जितनी सतोगुणी प्रवृत्तियाँ अधिक होती हैं, उतना ही आवागमन में परिणत रहता है।

जितनी तमोगुणी, रजोगुणी प्रवृत्तियाँ रहती हैं, उतना ही आवागमन (जन्म-मृत्यु) निकट होता है।

परन्तु जिनका सतोगुण का प्रवाह ऊँचा होता है, उन सतोगुणी की उड़ान अधिक होती है। यौगिक उड़ान उसके साथ में होती है तो उनका आत्मा अन्तरिक्ष में मुक्त आत्माओं, देवताओं के साथ रमण करती रहती है। (पच्चीसवाँ पुष्प, १४-८-७२ ई.)

जब योगीजन प्रकृति पर शासन कर लेते हैं, जिसमें शून्यता और जड़ता है तो वे जान लेते हैं कि वे कौनसी गति पर चले गये हैं। (आठवाँ पुष्प, ३-४-६४ ई.)

मन और प्राण को एकाग्र करके योग के द्वारा इस प्रकृति का विज्ञान स्वतः ही मानव के समीप आ जाता है और यह स्पष्ट भी हो जाता है। यही प्रकृति पर आधिपत्य करने का एकमात्र मार्ग है। (बीसवाँ पुष्प, २९-३-७३ ई.)

योगी त्रिकालदर्शी होता है

परमपूज्य ब्रह्मचारी कृष्णदत्त जी महाराज ने पूर्व जन्म में महर्षि श्रृंगी जी महाराज के रूप में परमपूज्य गुरुवर्य ब्रह्माजी महाराज से योगी के त्रिकालदर्शी होने के सम्बन्ध में प्रश्न किया तो गुरुवर्य ब्रह्माजी महाराज ने उत्तर दिया।

उत्तर : यौगिक आत्मा निर्मल हो जाती है। उसकी इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा नाड़ियाँ इतनी सूक्ष्म और पवित्र हो जाती हैं कि आत्मा के सहित जब उनमें प्राणों का सञ्चार होता है और इड़ा, पिंगला नाम की नाड़ियों से वर्तमान समय में भौतिकवाद को लिया जाता है तो भौतिकवाद उसके अन्तःकरण में समाहित ही है।

जिस भाषा को वह लेना चाहता है वह भाषा भी उसके समीप आ जाती है। परन्तु यह कार्य योगियों का ही है, साधारण आत्माओं का नहीं।

हमें योग में सन्देह नहीं करना चाहिये। योगी बनने की हमारी प्रबल इच्छा होनी चाहिये। योगी बनेंगे तो हमें प्रतीत होगा कि वास्तव में जब हम परमात्मा के प्रति इन नाना प्रकार के बाह्य आडम्बरों को अपने में शान्त करते जायँगे और आत्मा का ब्रह्मरन्ध्र में मिलान होने पर वर्तमान काल, भूतकाल और भविष्यतकाल इत्यादि सबसे मिलान हो जाता है। जो आत्मा भूत, भविष्यत् और वर्तमान को नहीं जानता वह योगी नहीं कहलाता। आत्मा को परमात्मा से जो सूक्ष्म ज्ञान होता है वह केवल इतना ही सूक्ष्म होता है कि परमात्मा भौतिक सृष्टि को रचता है, परन्तु योगी एक आवृत (सङ्कुचित अर्थात् सीमित) सृष्टि को रचा सकता है। संसार में जो यह सृष्टि हमें दिखायी दे रही है, उसें योगी नहीं रचा सकता। परन्तु वह भूत, भविष्यत् की वार्ता को अवश्य जानता है।

योगी परमात्मा के गर्भ में रहता है। अतः वह जानता है कि परमात्मा के गर्भ में क्या है और परमात्मा का संस्करण (रचना) कहाँ

जा रहा है? उसके अनुकूल उस आत्मा में वह वाक्य प्रारम्भ होने लगते हैं क्योंकि वह आनन्दमय है और यौगिकता में है।

योगी को त्रिकालदर्शी मानने से परमात्मा का विधान समाप्त नहीं होता। परमात्मा सदैव रहता है तथा उसका विधान उसके साथ रहता है। वेद-ज्ञान परमात्मा ने आत्मा के लिये निर्धारित किया है। वेद को बिना विचारे वह अपनी सीमित बुद्धि के अनुसार कुछ भी उच्चारण कर सकता है। किन्तु वेद को विचारने पर वह ऐसा नहीं कह सकता। जो योगी को त्रिकालदर्शी नहीं मानता, न माने, उससे योगी की त्रिकालदशि्र्ाता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वह तो स्वतः ही रहता है।

मानव का जीवन यज्ञ तक सीमित नहीं, राष्ट्र तक उसकी कोई सीमितता नहीं। वेद के मन्त्रों को जानने में उसकी कोई सीमितता नहीं, उसकी सीमितता तो परमात्मा के गर्भ तक है। हमारे जीवन की सीमितता भौतिकवाद में है, प्रकृति के आँगन में है। जहाँ प्रकृति से ऊँचे पहुँचे मानव का जीवन असीमित हो जाता है, आत्मा का ज्ञान मानव को परमात्मा के आँगन के द्वार तक पहुँचाने वाला बन जाता है। इसीलिये हमें योगी बनना चाहिये। जीवन का तारतम्य हमें यौगिकता से लेना चाहिये जिससे इस संसार सागर से पार हो सकें। (सातवाँ पुष्प, २७-४-६६ ई.)

योगी का दिव्य आत्माओं से सम्बन्ध

जैसे यह ब्रह्माण्ड पृथ्वी आदि स्थूल शरीरों का जगत है, इसी प्रकार दिव्य आत्माओं का यह द्यु-लोक एक जगत माना गया है।

जिसमें स्थूल शरीर वाला प्राणी सूक्ष्म शरीर की गतिविधियों को जानने के पश्चात् जीवन मुक्त होकर, दिव्य पुरुष बनकर ही जा सकता है। ये दिव्य आत्माएँ अग्नि शरीर वाली होती हैं, जिनमें अग्नितत्त्व प्रधान होता है। उसमें ममता नहीं होती। ये दिव्य आत्मा ही अन्तरिक्ष में रमण करने वाली हैं। ये इसी प्रकार रमण करती हैं, जैसे शब्द अन्तरिक्ष में रमण करता है।

दिव्य आत्माओं से सम्बन्ध करने के लिये योगियों के जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार होते हैं। उस अभ्यास के कारण ही मानव दिव्य आत्माओं से अपना समन्वय कर लेता है। उसके विचार, मन, वाणी, बुद्धि तथा अन्तःकरण की धाराएँ इतनी पवित्र बन जाती हैं कि इन्हीं में तीनों शरीर रमण करने वाले होते हैं तथा उसमें तीनों शरीरों की रश्मियाँ होती हैं।

अन्तःकरण चतुष्टय, तीनो शरीरों, नेत्र और श्रोत्रों की धाराएँ

मन की लगभग १३६ धाराएँ होती हैं। जब एक धारा को जानने लगते हैं तो दूसरी धारा उपलब्ध हो जाती है। दूसरी को जानने पर तीसरी उपलब्ध हो जाती है, इस प्रकार सबको जान सकते हैं।

स्थूल शरीर की ३६ तथा सूक्ष्म शरीर की ७२ धाराएँ मानी गयी हैं। उसी प्रकार अनेकों धाराएँ हैं। बुद्धि की १८४ प्रकार की धाराएँ होती हैं। ८४ प्रकार की धाराएँ स्थूल शरीर की अन्तःकरण से सम्बन्धित होती हैं। ८८ धाराएँ इस प्रकार की हैं जिनका सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर से होता है और शेष लिंग-शरीर (कारण शरीर) की मानी गयी हैं।

नेत्रों की दिव्य-ज्योति की ३७२ प्रकार की धाराएँ या रश्मियाँ मानी गयी हैं। इनमें से कुछ सूक्ष्म शरीर से सम्बन्धित होती हैं, शेष लिंग-शरीर (आनन्दमय-शरीर) से सम्बन्धित होती हैं।

श्रोत्रों की ६८४ प्रकार की धाराएँ हैं। ये सब मन प्राण से सम्बन्धित रहने वाली हैं क्योंकि जब मन और प्राण का सम्बन्ध हो जाता है तो इन धाराओं का भी सम्बन्ध हो जाता हैं।

जब इन धाराओं तथा मन और प्राण दोनों की रश्मियों का मिलान हो जाता है तो एक लिंगगमयी ज्योति बनकर परमात्मा के पद को प्राप्त हो जाती है इसी को मोक्ष कहते हैं।

जैसे गौ वनस्पतियों का पान करती है। उसके घृत की अग्नि में आहुति देते हैं तो अग्नि प्रदीप्त हो जाती है तथा यज्ञवेदी से सहस्त्रों प्रकार की अग्नि की धाराओं का जन्म हो जाता है। इसी प्रकार इन्द्रियों के विषयों की रश्मियाँ हैं तथा चित्त में भी स्वाभाविक रश्मियाँ हैं। इस अग्नि को प्रदीप्त करने के लिये विचारों के घृत तथा नामाङ्कुरों के घृत की पात बनायी जाती है।

योगी का यज्ञ

जैसे नाना प्रकार की औषधियों से सोमरस बनाया जाता है, इसी प्रकार सोमरस बनाने वाला योगी दश प्राणों का सोमरस बनाकर मन की धाराओं को उसमें मिश्रित कर देता है तो वह सुन्दर घृत बन जाता है। वह इन्द्रियों के विषयों की सामग्री को दीप्तिमान करके दिव्यलोकों में रमण करता हुआ परमात्मा के पद को प्राप्त हो जाता है।

हम उस घृत को जानें जो परमात्मा के सन्निधानमात्र से उत्पन्न होता है, तथा प्रकृति के स्वाभाविक गुण को दीप्तिमान कर देता है। वही घृत मानव के जीवन को प्रकाशमान बनाता है, उसी से दिव्य लोकों में रमण करने वाला महापुरुष बनता है। इन धाराओं को जानने वाला महापुरुष १-स्थूल, २-सूक्ष्म तथा ३-कारण शरीर में नृत्य करता है तो उसका सभी लोक-लोकान्तरों में आवागमन हो जाता है। दिव्य आत्माओं के लिये कोई ऐसा लोक नहीं रहता जहाँ वे न जा सकें।

सूर्यमण्डल में विचारों का यज्ञ होता है। विचारों के साथ ही वहाँ अन्तर्ध्यान हो जाते हैं। सूर्यमण्डल में वे ही आत्माएँ जाती हैं जो पृथ्वी मण्डल में तपी हुई होती हैं। सूर्यमण्डल में प्रवेश करते समय उनमें पार्थिव तत्त्व विशेष नहीं रहता। उनका अन्तःकरण अग्नि में तपा हुआ होता है। उनमें अग्नि-तत्त्व वाले शरीरों की प्रधानता रहती है।

मंगल ग्रह में निवास करने वालों का इसी प्रकार का योगाभ्यास, इसी प्रकार का विज्ञान तथा इसी प्रकार का राष्ट्र माना जाता है। मंगल ग्रह पर 'ऋद्धिकेतु' नाम का आध्यात्मवेता है जिसकी आध्यात्मिक विज्ञान में बहुत प्रगति है। उसकी आत्मा की गति विशाल है। उसकी आत्मा इस पृथ्वी मण्डल पर रमण करके वापस चली जाती है।

चन्द्र मण्डल में सौम्य प्रकृति वाला प्राणी रहता है उनका सौम्य विचार होता है। वहाँ भी योग प्रभाकृत होता रहता है। उसमें भी ब्रह्मरन्ध्रों में नृत्य की प्रतिभा रहती है।

लोक-लोकान्तरों में जहाँ जिस तत्त्व की प्रधानता रहती है, उसी प्रकार के वहाँ विचार होते हैं, उन्हीं का घृत बनता है। सूर्यादि अग्नि मण्डल में विचारों का घृत बनता है, तथा पार्थिव तत्त्व प्रधान वाले लोकों में पशु इत्यादियों द्वारा ही वस्तुओं का घृत बनता है। इसी प्रकार लोक-लोकान्तरों में यज्ञ होते हैं तथा उनसे सम्बन्ध हो जाता है।

जिस योगी के दिव्य चक्षु हो जाते हैं, उनके लिये रात्रि में भी अक्षर उनके निकट आ जाते हैं, उन्हें इनका अभ्यास हो जाता है।

मानव के अन्तःकरण के सन्निधानमात्र से ही आत्मा के तीन रूप हो जाते हैं। ये मन की धाराओं के ही तीन स्वरूप हो जाते हैं। जब मन और प्राण का समन्वय हो जाता है तो दोनों का पृथक्-पृथक् उच्चारण न करके एक ही किया जाता है। क्योंकि "गुण से गुणी कदापि पृथक् नहीं होता।" सन्निधानमात्र से मन को चेतनित किया जाता है तथा प्राणों को विभाजित किया जाता है। इस सन्निधानमात्र से ही प्रकृति तथा इस शरीर का चक्र चल रहा है। यह सन्निधान आत्मा का ही होता है, जिसे अणु भी माना गया है।

जब मानव यह जान लेता है कि हृदय की गति अन्तरिक्ष में भी जा सकती है, तो जैसा यह हृदय है ऐसा ही सूक्ष्म हृदय होता है जिससे दिव्य आत्माएँ आपस में अपना समन्वय करती हैं तथा सत्संग करती हैं। उसको दिव्य हृदय कहा जाता है। परन्तु वह भी मन और प्राण का मण्डल ही है।

सूक्ष्म इन्द्रियों की जो स्वाभाविक चेतना है उसका सम्बन्ध दिव्य

चेतना से होता हुआ, उन धाराओं में आत्मा कटिबद्ध हो करके, तथा वहीं आसन स्थित करके अपना सत्संग, ब्रह्म-विचार तथा आत्म-विचार किया करते हैं।

तरंगों एवम् धाराओं की गणना

दिव्य-शरीर : मानव हृदय में १५५२ तरंगों का जन्म होता है। हृदय में लगभग ८४ प्रकार की योग की तरंगों का जन्म होता है जिससे साधक योग की प्रवृतियों में जाकर हृदय की १५५२ तरंगों को जानने वाला बनता है। उन तरंगों में से प्रत्येक से ७२-७२ धाराओं का जन्म होता है। उन धाराओं का सम्बन्ध दिव्य शरीरों से होता है। उन्हीं धाराओं के समूह का नाम दिव्य शरीर माना गया है।

इन धाराओं में सतोगुणी धाराएँ, लोक-लोकान्तरिक धाराएँ, विमुख धाराएँ होती हैं, उनमें कितनी ही मन की धाराएँ तथा कितनी ही प्राण की धाराएँ होती हैं।

वाणी रूपी अग्नि में भी इसी प्रकार १५५२ तरंगों का जन्म होता है। एक-एक तरंग में से ७२-७२ तरंगों का जन्म होता है। वाणी की जो ७२ वीं धारा होती है वह वाणी का रूप होती है, जहाँ उस वाणी से दिव्य आत्मा मिलान करती है।

दिव्य-वाणी : मोक्ष को वही प्राणी पहुँच पाता है जो पंचमहाभूतों की तरंगों को जान लेता है। उसका कृत्यों से सन्निधान होने लगता है तो वह दिव्य आत्मा के दिव्य स्वरूप को जानने लगता है। जब यह दिव्य आत्माओं से सत्संग तथा शंकाओं का निवारण करने लगता है तो वाणी का एक नृत्य होता है जिसे दिव्य-वाणी कहते हैं। उसी

दिव्य-वाणी का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर से होता है, लिंग शरीर से होता है।

जब तत्त्वों की तरंगों का सम्बन्ध दिव्य आत्माओं से होता है, जब इनका निग्रह होकर मन और प्राण की एकाग्रता हो जाती है, अर्थात् अणु की धाराओं का मिलान हो जाता है, उस समय वह अनुरूपी आत्मा-परमात्मा के आनन्द में आनन्दित हो जाती है जिसको मोक्ष कहा जाता है। (बारहवाँ पुष्प, १३-४-७१ ई.)

योगी का लोक-लोकान्तरों में भ्रमण

योगी की आत्मा का क्रमश : चक्रों में गति :- भौतिक यन्त्रों से लोक-लोकान्तरों में जाने के बजाये मन से-लोक-लोकान्तरों में जाना सरल है। जब योगी इस मन को जान लेता है, वह अष्ट-दिशाओं और षोडश कलाओं को जानने वाला बन जाता है उस समय वह संसार की जानकारी कर लेता है। (पाँचवाँ पुष्प, १८-८-६२ ई.)

जब समाधिस्थ होकर मूलबन्ध लगाते हैं तो मूलाधार में प्राणों की स्थिति आत्मा के सहित विराजमान हो जाती है। उस समय मानव की व्याहृतियाँ इस पार्थिवता से कुछ ऊपर चली जाती हैं।

आगे चलकर नाभिचक्र पर आने के पश्चात् कुछ और ऊर्ध्वगति बनती है। ऊर्ध्वगति बनकर ब्रह्मचर्य की तीव्र-गति जो उसे ब्रह्म में विचरण कराती है, हृदयचक्र में हो जाती है।

पाँचों प्राणों के सहित जो पवित्र आत्मा १-इडा, २-पिंगला और सुषुम्णा इन तीन नाड़ियों में उसकी और ऊर्ध्वगति बन जाती है। ब्रह्मचर्य की पवित्र गति प्राणों के साथ सञ्चार करती है।

सञ्चार करती हुई यह आत्मा और आगे चलती है, कण्ठ-चक्र में जाती है जहाँ उसकी और भी ऊर्ध्वगति हो जाती है। यहाँ सुषुम्णा नाड़ी के द्वारा एक विशेष सम्बन्ध होता है।

आगे कण्ठ-चक्र को त्यागकर घ्राण-चक्र, जिसे रुद्र-चक्र या त्रिगण-चक्र भी कहते हैं, में जाती है। इसमें योगी की एक विचित्र ऊर्ध्वगति बन जाती है।

घ्राण-चक्र को त्यागने के पश्चात् पाँचों प्राणों के साथ यह आत्मा त्रिवेणी स्थान में जहाँ १-इडा, २-पिंगला और ३-सुषुम्णा तीनों का मिलान होता है, में जाती है।

आगे ब्रह्मरन्ध्र में एक चक्र है उसकी गति बहुत तीव्र है। इन नाड़ियों का उससे सम्बन्ध हो जाता है। जब प्राणों का इस पर सञ्चार हो जाता है तो आत्मा अधिराज बन करके ब्रह्मरन्ध्र में एक आसन पर विराजमान हो जाता है।

हमारे शरीर में बहत्तर करोड़, बहत्तर लाख, दस हजार दो सौ दो (७२,७२,१०,२०२) नाड़ियाँ है। इन नाडियों की अद्भुतगति बनकर इनका सम्बन्ध ब्रह्मरन्ध से होता है। ब्रह्मरन्ध्र में जो सूक्ष्म-सूक्ष्म वाहक नाड़ियाँ होती हैं, उनका तारतम्य कुछ अग्नि से, कुछ जल से, कुछ वायु से, कुछ अन्तरिक्ष से तथा कुछ पृथ्वी से होता है। इन वाहक नाड़ियों की एक मनोहर, तीव्र, अद्भुत गति बन जाती है।

सप्त मण्डलों से नाड़ियों का सम्बन्ध

किसी नाड़ी का सम्बन्ध ध्रुव मण्डल से, किसी का सूर्यमण्डल से, किसी का बृहस्पति-मण्डल से, किसी का अचंग मण्डल से, किसी

का मचंग मण्डल से, किसी का भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्, सप्तर्षि मण्डलों से होता है।

इड़ा से लगभग दस सहस्र नाड़ियों का निकास होता है। पिंगला से इसकी दुगनी नाड़ियों का निकास होता है। इस प्रकार इन नाड़ियों से लाखों-करोड़ों की सँख्या में नाड़ियों का निकास होता है। इन सबका सम्बन्ध ब्रह्मन्ध्र से रहता है, नाना प्रकार की धातुओं से रहता है, भविष्यत् तथा वर्तमान से भी रहता है। इसलिये योगी त्रिकालदर्शी होते हैं, जो तीनों काल की वार्ता को जानते हैं, परन्तु वे उसी समय जानते हैं, जब वे ब्रह्मरन्ध्र की ऊर्ध्वगति को जान जाते हैं। जब यह आत्मा ब्रह्मरन्ध्र में चला जाता है तो सहस्रों सूर्यों का प्रकाश भी न होने के तुल्य हो जाता है क्योंकि उस समय इन नाड़ियों का सम्बन्ध सूर्य से बड़े-बड़े लोकों से हो जाता है, जहाँ सूर्य के प्रकाश की महत्ता समाप्त हो जाती है। (सातवाँ पुष्प, २७-४-६६ ई.)

ब्रह्मरन्ध्र में जो सूक्ष्म-सूक्ष्म वाहक नाड़ियाँ हैं, उनमें से किसी का सम्बन्ध आकाश गंगा से है, किसी का ध्रुवमण्डल से, किसी का सूक्ष्म शरीर वाली जीवात्माओं से, किसी का अन्य लोक-लोकान्तरों से जो ७२ करोड़ नाड़ियाँ हैं उनमें नाना अग्रहण होते हैं। इनकी अव्याहत गति होती है। (नौवाँ पुष्प, २९-७-६६ ई.)

लोक-लोकान्तरों से व्यान-प्राण का सम्बन्ध

'व्यान' प्राण का क्षेत्र कण्ठ से ऊपर का माना गया है। इसका सम्बन्ध लोक-लोकान्तरों से होता है। जब मानव का हृदय और

मस्तिष्क व्याण-प्राण की धारा के साथ रमण करने लगता है, तो ब्रह्मरन्ध्र की सूक्ष्म-सूक्ष्म नाड़ियाँ जागरूक होने लगती हैं। मानव के मस्तिष्क में बहुत से ऐसे तन्तु होते हैं, जो किसी भी काल में जागरूक नहीं हो पाते। उसका कारण लोभ, कामना आदि हैं। ये तन्तु उन व्यक्तियों के जागरूक नहीं होते, जिनमें यौगिकता नहीं होती तथा जो घृणा के क्षेत्र में रहते हैं।

लोकान्तरों में योगी का यातायात

मानव के मस्तिष्क का विकास उसकाल में होता है जब व्यान-प्राण के साथ साथ ब्रह्मचर्य की ऊर्ध्वगति हो जाती है। उस समय नाना प्रकार के तन्तु जागरूक हो जाते हैं। इनके जागरूक होने पर मानव की मनोभावना, लोक-लोकान्तरों में चलायमान हो जाती है। जैसे मन कामवासना, क्रोध, घृणा आदि पर चलायमान होकर विशाल गति वाला बन जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य के द्वारा व्यान-प्राण तथा समान प्राण और मन इन सबका तारतम्य लग करके जब मानव के मस्तिष्क और हृदय दोनों का मिलान हो जाता है, तो नाना प्रकार के लोक-लोकान्तरों में उस मानव का यातायात स्पष्ट हो जाता है। (चौदहवाँ पुष्प, २-११-७० ई.)

वाणी-विज्ञान तथा योगी द्वारा शाप

वाणी का रहस्य : यह वाणी दो प्रकार की होती है, १-व्यष्टि तथा २-समष्टि। जब इसका १-व्यष्टि रूप होता है तो यह साधारण कहलाती है। किन्तु जब इसको २-समष्टि रूप धारण करा देते हैं तो इसमें तीन प्रकार की अग्नियों का अग्न्याधान होने लगता है। यह योग

का सबसे प्रथम अंग कहलाया गया है। जब इसमें सतोगुण प्रधान होता है तो उस समय यह मुख से निकलने पर एक क्षण में २८४ बार पृथ्वी की परिक्रमा कर लेती है। जब इसमें रजोगुण प्रधान होता है तो ३८४ बार, तमोगुण प्रधान होता है तो ४८० बार परिक्रमा कर लेती है।

इसीलिये कहा जाता है कि मानव को अपनी वाणी पर संयम करना चाहिये तथा उसको अशुद्ध नहीं करना चाहिये। यदि किसी अशुद्ध वाणी का किसी महापुरुष की वाणी से मिलान हो गया तो उस तमोमयी वाणी से, उस योगी की बुद्धि भ्रष्ट न हो जाये।

हिसक प्राणी हिंसा को क्यों त्यागता है ?

इसके अतिरिक्त यदि मानव की वाणी का अस्तित्व न रहा तो संसार में उसकी मानवता का ही विनाश हो जायेगा। इसलिये हमें वाणी के सूक्ष्मतम रहस्यों को जानना चाहिये जिससे हम इस स्थूल शरीर को जानने वाले बन सकें। (पन्द्रहवाँ पुष्प, १२-४-७१ ई.)

पूज्यपाद ब्रह्मचारी कृष्णदत्त जी महाराज ने पूर्व जन्म में श्रृंगी ऋषि के रूप में गुरुवर्य ब्रह्माजी महाराज से पूछा, ''प्रभो! आपकी इस वाणी के प्रभाव में आकर मृगराज भी मौन हो जाते हैं, हिंसक प्राणी हिंसा को त्याग देते हैं। इस वाणी का सम्बन्ध द्यु-लोक से रहता है। क्या आप इस वाणी का यान बना कर, लोक-लोकान्तरों में रमण कर सकते हैं?''

वाणी का यान

गुरुवर्य ब्रह्मा जी महाराज ने उत्तर दिया कि मैं वाणी का यान

बना लेता हूँ। जब कोई विचार हृदय में आता है, इससे मस्तिष्क में आता है, फिर वाणी के द्वारा मुख में आ जाता है, तो वही एक यन्त्र बन जाता है। इसका प्रयोग इस प्रकार किया जाता है कि उस वाणी का स्रोत हृदय से चलता है; तो हम हृदय को पवित्र बनाना आरम्भ कर देते हैं और वाणी को मौन कर लेते हैं तथा इसे मस्तिष्क में लाते हैं। उसमें जो तरंगें उत्पन्न होती हैं, उनको जान करके उनके ऊपर सवार होकर के इस परमाणुवाद पर इतना आधिपत्य कर लेते हैं कि हिंसक परमाणु भी उस वाणी के परमाणु में आ करके निगला जाता है।

ऐसा हो जाता है जैसे अग्नि में तपा हुआ अन्न उपजाऊ शक्ति खो देता है, इस प्रकार हमारे पास एक अमोघ शक्ति आ जाती है तथा हम वाणी के वाहन द्वारा संसार का वशीकरण कर लेते हैं। इस प्रकार हमें संसार को वशीकरण कर लेना चाहिये। इससे सब प्रकार के यानों का एकीकरण होकर रात्रि आने का सन्देह समाप्त हो जाता है।

जब यह मानव कर्त्तव्यवाद में आ जाता है तो उसकी उडान ऊर्ध्वगति को प्राप्त हो जाती है। उस समय ये साधारण यान उसके समक्ष कुछ नहीं रहते।

वशीकरण नाम का भी विज्ञान होता है, उसमें भी परमाणुवाद होता है। मन का विज्ञान बहुत विशाल होता है। (सोलहवाँ पुष्प, ३-८-७१ ई.)

क्या शाप से परमात्मा का नियम टूटता है ?

जब मानव सदैव सत्य का उच्चारण करता है तो उसे शाप मानना अनिवार्य है। जो व्यक्ति सत्य को धारण करता है, उसे ज्ञान होता है कि अमुक व्यक्ति ने जो कर्म किया है, परमात्मा के न्याय के अनुसार उसे दण्ड मिलेगा। उसी का उच्चारण वह अमोघ वाणी वाला योगी कर देता है। परमपिता परमात्मा अपने न्याय से उसे वही दण्ड देते हैं। इससे परमात्मा का नियम समाप्त नहीं होता। (आठवाँ पुष्प, १४-११-६३ ई.)

शाप का पात्र कौन?

योगी शाप उसको देता है जो ज्ञानी होकर भी दूसरों को कष्ट दिया करता है। जो अज्ञानता वश, अज्ञानी होने के कारण किसी को कष्ट दिया करता है, तो ऐसे व्यक्ति को जो शाप देता है, तो शाप देने वाले की महत्ता नष्ट हो जाती है, उसकी यौगिकता समाप्त हो जाती है। शाप देने वाला योगी आयुर्वेद विद्या से मस्तिष्क को देखकर जान लेता है कि उस काल में इसकी मृत्यु होगी। सत्य का पालन करने वाले योगी का वाक्य सदैव सत्य हुआ करता है। (प्रथम पुष्प, ६-४-६२ ई.)

प्रश्न है : महान् आत्मा शाप नहीं देती।

दण्ड का पात्र

इसका उत्तर यह है कि मानव का शाप क्या है ? वह तो कर्मों के वशीभूत होना है, और कर्मो में बँधना है। किसी प्रकार भी बँध जाओ। ऐसा वेदों का वाक्य है तथा ऐसा आचार्यो ने कहा है। शाप वह देता है, जिसकी महान् आत्मा होती है। परन्तु वह (शाप) देता

किसको है ? वह उसके अन्तःकरण को जान लेता है। किसी अज्ञानी को शाप देता है, तो उस ज्ञानी का आत्मिक बल सूक्ष्म बन जाता है। जो ज्ञानी सब कुछ जानता हुआ किसी विपरीत कार्य को कर देता है, उसको अच्छी प्रकार दण्ड देना चाहिये उसमें कोई हानि नहीं होती क्योंकि वह तो दण्ड योग्य है। (तीसरा पुष्प ९-३-६२ ई.)

ज्ञान योग

संसार में प्रत्येक मानव को सोमरस का पान करना चाहिये। वह सोमरस है, जिसको पान करने के पश्चात् मानव अमरावती को प्राप्त हो जाता है तथा उषर्बुध बन जाता है। वह सदैव जागरुक रहता है। उसके जीवन में अन्धकार नहीं आता। उसके जीवन में मृत्यु नहीं आती, वह सदैव आयु वाला बना रहता है।

सोम-रस ज्ञान का नाम है, जो सौम्य है, जो रस वाला है, मानव के हृदय को पवित्र बनाने वाला है और जीवन में ज्योति प्रदान करने वाला है।

रस तीन प्रकार का

मानव योग के क्षेत्र में जाना चाहता है। योग में जाने के पश्चात् वह सोम को पान करना चाहता है। जहाँ हमारी शिखा होती है, उस शिखा के निचले भाग में एक स्थली होती है जहाँ मस्तिष्क बना रहता है। जो भी कुछ हम आहार करते हैं, उसका रस बनता है, परमाणुवाद बनता है। रीढ़ रूप में वह परिवर्तित हो जाता है। वह शरीर के तीन विभागों में विभक्त हो जाता है। १-एक तो सतोगुणी रस में। २-दूसरा रजोगुणी रस में तथा ३-तीसरा तमोगुणी रस में। १-

सतोगुण की ऊर्ध्वगति होती है। जो परमाणु ऊर्ध्वगति को प्राप्त हो जाते हैं, वह सतोगुणी की आनन्दमयी धारा है। २-जब वह रजोगुण में परिणत होती है, तो वह नेतृत्व करने वाला बनता है; और ३-जब तमोगुण में जाता है, तो पुत्र इत्यादि प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार की आभा मानव के जीवन में विशेषकर होती है।

प्राणायाम द्वारा सतोगुण में परिणति

जब रजोगुण और तमोगुण दोनों को सतोगुण में परिणत करना चाहते हैं, तो हमें प्राणायाम करना है ; हमें प्राण का आश्रय लेना होगा। क्योंकि तमोगुण, रजोगुण और सतोगुण तीनों में प्राण ही गति करता है। इसलिये हमें तीनों गुणों में प्राण को जानना होगा और प्राण के सूत्र में पिरोना होगा। जिससे यह एक धारा उत्पन्न हो जाये। जब अन्य गुणों की धारा उत्पन्न नहीं होगी तो सत् ही सत् रह जाता है। सत के रहने पर जब ब्रह्मचर्य में उन परमाणुओं की ऊर्ध्वगति बन जाती है, तो इड़ा, पिंगला, सुषुम्णा नाम की नाड़ियों द्वारा वह परमाणुवाद ब्रह्मरन्ध्र की ऊर्ध्वगति में रहने वाली जो बृहती स्थली है, उसमें विराजमान हो जाता है। वहाँ परमाणुओं का समूह होता है।

जब मन, प्राण और आत्मा तीनों एक सूत्र में पिरोये जाते हैं, तो उनको सुषुम्णा के द्वारा ऊर्ध्वगति प्राप्त हो जाती है। ऊर्ध्वगति को प्राप्त होती हुई मानव के जीवन को एक आश्रय दे देती है। योगी का आत्मा मन और प्राण पर ऊपर की स्थली पर विराजमान होकर ऊर्ध्वगति में गति करता है। जब योगी का वाहन ऊर्ध्वगति में चलता है तो ब्रह्मरन्ध्र में जो पङ्घुढ़ियाँ नाड़ियों का चक्र है उनमें जो सूक्ष्म

वाहक नाड़ियों का जन्म होता है, उनका ब्रह्मरन्ध्र के द्वारा जब उस वाहन से मिलान होता है, तो ब्रह्मरन्ध्र की ऊर्ध्वगति में 'पिपागल' नामक स्थान कहलाया गया है। उसी स्थान से नाग-प्राण का अमृत बन करके, सोम बन करके मन और पङ्खुड़ियों के मध्य में जब गति करता है तो वह परमाणु इतना विभक्त हो जाता है कि एक रक्त के बिन्दु के सौ भाग करो, उसके बराबर वह बिन्दु होता है।

उस सूक्ष्म बिन्दु में प्राण और मन के द्वारा आत्मा-बृह वह इस सुषुम्णा नाड़ी के द्वारा रसना के अग्रभाग का भूत (मोलिक-तत्त्व) में परिणत कर देते हैं। वहाँ एक स्थल होता है। उस स्थल पर सुषुम्णा नाड़ी का धुरवा में मुख होता है और मानव की जिह्वा का जो अग्रभाग है, जिस पर वह संसार का स्वादन लेता है, प्रत्येक पदार्थ का स्वादन उसकी रसना के द्वार पर जाता है तो वह रस, जो सोम है, उसको पान करता हुआ, उस नाड़ी के द्वारा जिह्वा के अग्रभाग में परिणत हो जाता है।

जब 'ओ३म्' की ध्वनि होती है, 'ओ३म्' की ध्वनि के साथ में प्राण और मन ऊर्ध्वगति में होते हैं। मन की गति अग्राण नहीं होती तो, मानों वह रस तरंगें बन करके ऊर्ध्वगति को चला जाता है। कुछ परमाणु बन करके उस नाड़ी के द्वारा रसना के अग्र-भाग में उसका मिलान होता है। योगियों ने उसे सोमरस कहा है, अमृतमय कहा है। उस रस का पान करना एक आनन्दवत् कहलाया गया है। उसके पान करने से वह मन, प्राण, आत्मा उस 'ओ३म्' रूपी सूत्र में पिरोने के पश्चात् इस आनन्द को लेता है।

आनन्द का मूल्यांकन

यह ऐसा आनन्द है जो उस आनन्द से अरबों गुणा अधिक है जो मानव को ध्रुवागति में पितृ-यज्ञ करने पर जिस आनन्द की प्रतीति होती है। उस आनन्दमयी धारा को पान करने पर उस योगी महापुरुष की किसी प्रकार की इच्छा की आवश्यकता नहीं रहती। वह संसार को ऐसे त्याग देता है, जैसे मानव जल को पान करके अपनी उपस्थेन्द्रिय के द्वारा मूत्र को त्याग देता है। वह विवेकी पुरुष संसार को यह नहीं विचारता कि यह संसार क्या कर रहा है, तथा वाणी से क्या उच्चारण कर रहा है।

आनन्द किसको ?

आध्यात्मिक यज्ञ करने वाला याज्ञिक बन करके उस आनन्द को प्राप्त करता है। जब इस रस को पान करता है, तो इस संसार में इस शरीर को इस आनन्द के द्वारा उसे ब्रह्म की प्रतीति होने लगती है। ब्रह्म द्वारा रचाये हुए इस अनन्त जगत में वे प्रत्येक काल में ऊँची से ऊँची उड़ान उड़ते रहते हैं। वह अपनी उस आनन्दमयी वाणी से ब्रह्मचारियों को अमृतमय बनाता है। वह ज्ञान, कर्म और उपासना के द्वारा ज्ञान का मन्थन करके उस ज्ञान के द्वारा स्वाति नक्षत्र की भाँति एक बिन्दु से ही अपनी पिपासा को शान्त करता है। ब्रह्म की जानकारी के पश्चात जो प्रतीत होती है, आनन्दमय ब्रह्म का आनन्द प्राप्त होता है, उसकी मीमांसा करता है। उसका अनुवृत एक भाग से दूसरे भाग में परिणत करता है, तो उसे महान् आनन्द का अनुभव हो जाता है और वह विवेकी बन करके इस संसार के मान अपमान से

उपराम हो जाता है। (अठाईसवाँ पुष्प, १७-११-७५ ई.)

योगियों द्वारा अक्षरों की रचना

योग में जो शब्दों की रचना है, उसको हमारे ऋषियों ने योग के द्वारा ही उत्पन्न किया है। जब शिक्षालय में आरम्भ में अक्षर ज्ञान कराते हैं, तो यही विचार आता है कि यह रचना ऐसी क्यों हैं ?

ऋषियों का कथन है कि सृष्टि के आरम्भ में इनकी रचना ब्रह्म द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में होने वाले नाद की ध्वनियों को जानकर की जाती है। जब प्राणों को संघात करके उनकी एकाग्र प्रकृति कर ली जाती है, तो उन प्राणों के साथ मन की गति तथा साम्य अवस्था मिलकर ब्रह्मरन्ध्र में जाकर साम्य गति को प्राप्त हो जाता है।

ब्रह्मरन्ध्र में एक चक्र होता है, जिसमें सहस्रों नाड़ियाँ इस प्रकार की हैं कि जिनका सम्बन्ध लोक-लोकान्तरों से है। जब इन नाड़ियों से मन और प्राण दोनों का संघात होता है, वहाँ व्यान प्राण की अभ्युक्त गति हो जाती है। इससे जो ब्रह्मरन्ध्र की ज्ञानवाहक नाड़ियाँ हैं, उनका मुख ऊपरी विभाग की ओर हो जाता है। ऐसा होने का कारण यह है कि नाना प्रकार की नस-नाड़ियाँ हैं तथा सूक्ष्म-सूक्ष्म वाहक नाड़ियाँ हैं उनका स्थूल रूप होता है। उन नाड़ियों से विचित्र प्रकार की धाराएँ होती है जिनमें ज्ञान की उत्पत्ति होती है, उनमें ज्ञान की धाराएँ रमण करती हैं। (ग्यारहवाँ पुष्प, ११-४-६९ ई.)

प्रश्न : जब 'ओ३म्' परमात्मा का मुख्य नाम है, तो नाड़ियों की आकृति त्रिकट, जटत तथा सुभांग नाम की नाड़ियों से इसकी बनावट का सम्बन्ध क्यों माना गया है?

उत्तर : जब योगी अभ्यास करते-करते ध्यानावस्थित होता है, तो एक ज्योति का ध्यान करके उसमें रमण करने लगता है। इस ज्योति में जैसा भी आकार देखना चाहें वही प्रत्यक्ष होने लगता है। इसका कारण यह है कि उस ज्योति का सम्बन्ध प्रकृति और प्राणों, दोनों से है। इस सम्बन्ध के कारण जब हम : ओ३म्' का आकार देखना चाहते हैं, तो वही अनुभव होने लगता है। नाड़ियों का सम्बन्ध प्रत्यक्ष होने लगता है।

यदि प्रकृति के आवेशों में प्रकृति की ज्योति को जानना चाहते हैं, तो जो वस्तु हमने किसी समय दृष्टिपात करके हृदयङ्ग की है उसका उस ज्योति में अनुभव होने लगेगा। इसका मुख्य कारण यह है कि जब प्राणों को ऊर्ध्वगति में ले जाना चाहते हैं और ऊर्ध्वगति हो जाती है तो 'ओ३म्' का आकार प्रत्यक्ष होने लगता है।

यदि प्रकृति के आवेशों में कोई ऐसा ढांगी मिल जाता है कि वह कहता है कि मैं योगी हूँ और तुम्हें समाधि में परिणत करता हूँ तो वह नाना प्रकार के प्रकाश को ही उच्चारण करता है और वही आकार हमें प्रत्यक्ष होने लगता है। क्योंकि ज्योति का सम्बन्ध प्रकृति से है और महत् प्राण से। प्राण का सम्बन्ध परमपिता से है। इसलिये 'ओ३म्' के आकार वाली जो नाड़ी है, वह ज्योति में प्रत्यक्ष होती है, उन नाड़ियों का सम्बन्ध प्रत्येक नाड़ी से होता है। जितनी शरीर में, मस्तिष्क में तथा लघु मस्तिष्क में नाड़ियाँ होती हैं, उन सबसे उसका मिलान रहता है। इस मिलान रहने के कारण संसार का ज्ञान-विज्ञान सब इस मस्तिष्क में ओत-प्रोत हो जाता है। (बारहवाँ पुष्प, ३-१०-६९

ई.)

मधु-विद्या

जब यमाचार्य ने नचिकेता से कहा कि तू संसार के वैभव को क्यों स्वीकार नहीं करता जिसमें अनेकों प्रकार के आनन्द हैं।

तो नचिकेता ने कहा था कि ये सांसारिक (वैभव) ऐश्वर्य आज हैं, कल नहीं रहेंगे। मैं तो वह ज्ञान चाहता हूँ जो इस आत्मा के साथ बना रहे। तब यमाचार्य ने ज्ञान देना आरम्भ किया।

हे ब्रह्मचारी ! यह मानव का स्थूल शरीर पार्थिव प्रधान माना गया है। इसमें क्षुधा-तृषा तथा नाना प्रकार के दुःख-सुख हैं। इसमें अपान, व्यान, उदान, समान आदि प्राण अपना कार्य करते हैं। मानव के एक श्वास में एक अरब पाँच सौ बावन (१,००,००,००,५५२) वायु के परमाणु, इतने ही अग्नि के, तथा इतने ही अन्तरिक्ष, तथा इतने ही जल के और दो खरब, पचपनवें अरब, बावन करोड़, उन्तीस लाख उन्नास हजार (२,९५,५२,२९,४९०००) पृथ्वी के जाते हैं तथा इतने ही श्वास के साथ बाहर निकल जाते हैं। इससे मानव का जीवन सञ्चारित रहता है।

सूक्ष्म-शरीर का स्वरूप

जब यह आत्मा शरीर को त्यागकर जाता है तो उस समय १७ तत्त्वों का शरीर माना जाता है, जिसको सूक्ष्म-शरीर कहते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, पाँच तन्मात्राएँ मन और बुद्धि के तत्त्व रहते हैं। इन्ही के गर्भ में चित्त और अहंकार होता है जो कुछ ज्ञानेन्द्रियों का तथा कुछ तन्मात्राओं का प्रतिनिधि माना गया है।

श्वासों की गति के साथ-साथ उन श्वासों के परमाणुओं को जो वैज्ञानिक जान लेता है, वह संसार में मानव शरीर का निर्माण कर सकता है। मानव शरीर को बिना माता-पिता के गर्भ के ही परमाणुओं को एकत्रित करने की क्षमता योगी में आ जाती है।

सत्रह तत्त्वों का सूक्ष्म शरीर ऐसा होता है जो वायु में रमण करने वाला होता है। मानव के जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार उस शरीर के साथ रहते हैं।

उज्ज्वल कर्म करते हुए जब यह सूक्ष्म शरीर के पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, पाँच तन्मात्रये, बुद्धि तथा अन्तःकरण जन्म जन्मान्तरों के संस्कारों सहित नष्ट हो जाते हैं, तो यह अन्तरात्मा उज्ज्वलता में, आत्मशान्ति में, परमात्मा के समीप जाने पर, कारण-लिंग में चला जाता है, जिसको कारण शरीर कहा जाता है, इसमें गाढ़-निद्रा होती है। ज्ञान और प्रयत्न भी आत्मा में परिणत हो जाते हैं। जैसे गुण और गुणी दोनों पृथक् नहीं होते, एक ही कहलाते हैं। इसी प्रकार आत्मा के सात्विक होने पर, उसके दोनों गुण उसमें एक होकर परमात्मा की उस महान् चेतना में रमण करने लगते हैं। आत्मा आनन्द को प्राप्त होने लगता है; संसार में आनन्द प्रतीत होने लगता है। (चौदहवाँ पुष्प, २-११-७० ई.)

सन्ध्या

हमारा कल्याण करने वाली ज्योति सन्ध्या की व्यवहृतियाँ (क्रियाव्यापार) हैं। इसका आदर करके तथा अनुकरण करके हम देवता बन जाते हैं। यह ब्रह्मा के मुख से उत्पन हुई है। इसका

अनुकरण करके मनुष्य ऋषि तथा देवता और देवकन्याएँ दुर्गा बन जाती हैं।

इस सृष्टि की उत्पत्ति कर्म करने के लिये तथा सन्ध्या की उत्पत्ति मानव को देवता बनाने के लिये हुई है। सन्ध्या रूपी प्रकाश में आने पर आत्मा पर जो १-मल, २-विक्षेप तथा ३-आवरण हैं, शान्त हो जाते हैं। मनुष्य का हृदय निर्मल और स्वच्छ बन जाता है और उसका कल्याण हो जाता है।

सन्ध्या का नाम दुर्गा भी है। दुर्गा विद्या को कहते हैं। विद्या रूपी दुर्गा का वाहन सिंह रूपी सिंहनाद है। उसी से यह आती है। आठ दिशाओं का ज्ञान, ही इसकी आठ भुजायेँ हैं। दुर्गापूजा वही कर सकता है, जिसके पास ज्ञान विद्या और सिंहनाद हो। सिंहनाद वह है जिससे अपराधियों को कुचला जाता है। अज्ञान रूपी शत्रु को शान्त किया जाता है। प्रथम हृदय निर्मल और स्वच्छ बन जाता है। सन्ध्या रूपी गंगा हमारे शरीर में बहती है। जिससे ज्ञान का प्रकरण आने पर हृदय निर्मल और स्वच्छ बन जाता है।

प्रथम कर्त्तव्य

जब मानव एकान्त स्थान में बैठकर सन्ध्या का अनुसरण करते हुए कहता है कि हे विधाता ! हमारी रक्षा करो, यह शरीर आपका है, यह संसार आपका है। इस प्रकार जब सब कुछ समर्पण कर देता है तो उसका हृदय निर्मल और स्वच्छ हो जाता है। आत्मा पर जो १-मल २-विक्षेप हमारे पापकर्मों द्वारा आ जाते हैं, उस प्रकाश से सब शान्त हो जाते हैं।

वह "ऋतँ च सत्यंच" का पाठ करता है। 'शन्नो देवी' का पाठ करता हुआ कहता है कि हे देवी ! तू कल्याण करने वाली है, तू हमारे कण्ठ में आ, उसमें तृषा के स्थान पर शीतलता का आनन्द दे। हमारा कण्ठ सुन्दर और मधुर बने जिससे इससे यथार्थ वार्ता हो। वह अन्तः करण तक जाये। तेरे ज्ञान के प्रकाश से हमारे मल के आवरण समाप्त हो जायेंगे फिर अन्धकार नहीं रहेगा इस प्रकार सन्ध्या में सर्वप्रथम अपने को बनाना है।

सन्ध्या की तीन व्यवहृतियाँ

पहली व्यवहृति

(१) इसमें अपने को बनाना है। मैं कौन हूँ, कैसा बनूं ? मेरे हृदय, कण्ठ, चक्षु, श्रोत्र और घ्राण कैसे बनें ? त्वचा कैसी बने, इन सब इन्द्रियों के विषयों को जानकर अपने को परमात्मा में समर्पण कर दो। इसमें इन्द्रियों को पवित्र बनाना है। चक्षुओं में पाप दृष्टि न हो, श्रोत्र दूसरों की निन्दा न सुनें, और गुणों को धारण करने वाले बनें। हमारी भुजाओं का यशोबलम् पवित्र हो, हमसे निरापराधी को दण्ड न मिले। यदि हम निरापराधी पर आक्रमण करेंगे तो दूसरा हम पर करेगा। हस्त अपराधी को दण्ड देने वाले हों। पद अशुद्ध मार्ग पर न जायें, वे सत्संग में जायें, जहाँ दुराचारियों का गुण-गान गाया जाता हो वहाँ न जायें।

दूसरी व्यवहृति

(२) कार्य व्यापार में परमात्मा का प्रकरण लेते हैं, उसका

गुणगान गाते हैं और कहते हैं कि हे परमात्मा! अब हम आपके पात्र हैं। प्रभो! हमारी हिंसक प्राणियों से, जो कष्ट देने वाले हैं, रक्षा करो।

तीसरी व्यवहृति

(३) प्राणायाम में कहते हैं कि ''भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम्'' कहते हैं कि हे विधाता! हम प्राणायाम करके समाधि में लय होकर भूः भुवः आदि लोक-लोकान्तरों को जानें तथा उनमें पहुँचे। 'ऋतंच सत्यंच' हे विधाता ! तू वास्तव में सत्य है, पवित्र है, हम तेरे आँगन में आने योग्य हो गये हैं, पवित्र बन गये हैं। सब आपको समर्पण कर दिया है। इस प्रकार गुण-गान गाने के पश्चात् परमात्मा को रक्षक बनाते हैं। परमात्मा हमारी रक्षा उसी समय करता है, जब हम व्याकुल हो जाते हैं और वैराग्य हो जाता है। केवल परमात्मा का ही ध्यान रहता है।

सन्ध्या के समय मन को एकाग्र करने की विधि यह है कि सर्व प्रथम श्रोत्रों को प्रभु के अर्पण करो। विकल्पों को त्याग कर संकल्पों को धारण करो। इससे मन का विच्छेद हो जायेगा। मन एक संकल्प में लगकर मानव का कल्याण कर देगा। (सातवाँ पुष्प, २०-१०-६३ ई.)

यदि हम आन्तरिक भावनाओं द्वारा मोक्ष चाहते हैं, तो हमें मन और प्राण की सन्धि करनी होगी, इसी को सन्ध्या कहा जाता है। जिस प्रकार प्रातः तथा सायङ्काल सूर्य और रात्रि का मिलान है, सन्धि है, इसी प्रकार जहाँ मन और प्राण दोनों की सन्धि होती है,

उसका नाम वास्तविक सन्ध्या है। (आठवाँ पुष्प, ३-३-६८ ई.)

स्वर्गीय श्री बाबूलाल दीक्षित जी द्वारा पूज्यपाद श्री ब्रह्मचारी कृष्णादत्त जी महाराज से पूछे गये प्रश्नों का उत्तर

प्रश्न : ''प्रवृत्यालोक न्यासात् सूक्ष्म व्यवहित विप्रकृष्ट ज्ञानम्'' योग ३.२५ कार्यान्वयन का उत्तर :.

उत्तर : तुम जो योग के सम्बन्ध में जानना चाहते हो; योग में प्राण और मन दोनों को प्रकाश में रमण करा दें तो उस प्रकाश से लोक-लोकान्तर में जा सकते हैं। जैसे विद्युत अन्तरिक्ष में होती हुई, इस लोक में प्रदीप्त हो जाती है; और जैसे सूर्य-मण्डल की विद्युत् सर्वत्र एक भूमिका में परिणत होती रहती है। इस प्रकार का योगी बनने के लिये, अपने जीवन को ऊर्ध्वगति में ले जाने के लिये नाना प्रकार की औषधियों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये आयुर्वेद में जाना होगा।

जब मन और प्राण दोनों एक सूत्र में आते हैं, तो इन्द्रियों का व्यापार समाप्त हो जाता है और तब मन और प्राण की धारा त्रिकुटी में पहुँचती है। वहाँ दो कृतिकाएँ होती हैं। उन पर जा करके मन और प्राण दोनों का अभ्यास से मिलान होता है। दोनों कृतिकाएँ तीवृता से गति करने लगती हैं। दोनों कृतिकाओं के बीच में नाभि होती है। इस नाभि को 'सूर्यावणानन्' नाम की नाड़ी कहते हैं। उस नाड़ी का सम्बन्ध ब्रह्मरन्ध्र से होता है। जब वे कृतिकाएँ तीव्रगति से रमण करती हैं, तो उस नाड़ी के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में जो चक्र है, वह भी तीव्रगति से रमण करने लगता है। वह एक क्षण के समय में ३७२ परिक्रमाएँ

कर जाता है और उसमें विद्युत् का आभास हो जाता है। उस योगी को मन और प्राण से कहीं जाना नहीं होता। उस चक्र के द्वारा द्यु-लोक, अन्तरिक्ष लोक और भूलोक, इन तीनों की वार्ता को योगी जान लेता है। योगी का मन सबसे प्रथम ब्रह्मरन्ध्र में और उसके पश्चात् अन्तःकरण में जाता है। अन्तःकरण सूक्ष्म मण्डल है। उसका स्थान ब्रह्मरन्ध्र में माना जाता है। वह ब्रह्मरन्ध्र के निचले भाग में है, जिसमें जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार विराजमान रहते हैं। जब कृतिकाएँ अन्तःकरण में रमण कर जाती हैं, तो ब्रह्मरन्ध्र में आभास होता है। अन्तःकरण में जो अङ्कुर विराजमान हैं, वे शाखा रूप में हो जाते हैं और प्रत्यक्ष होते ही नाना प्रकार का आभास होने लगता हैं। विज्ञान भी मानव के समीप आ जाता है। योगी का मन कहीं जाता नहीं, अन्तःकरण में रहता है। ब्रह्माण्ड की कल्पना शरीर से करते हैं।

मन का व्यापक क्षेत्र

इस पृथ्वी के गर्भ में भी मन और प्राण कार्य कर रहे हैं, वायु मण्डल में भी मन रमण कर रहा है, अग्नि में भी मन है, सूर्य मण्डल में भी मन रमण कर रहा है। ग्रीष्म-ऋतु में मन और प्राण ही तो जलों का उत्थान करके उसका सूक्ष्म रूप बना देते हैं।

स्वर्ण आदि धातुओं का निर्माण मन और प्राण के साथ ही होता है। सूर्य की नाना किरणें आकर पृथ्वी के कणों में रमण कर जाती हैं। ये किरणें प्राण तो हैं ही। मन उन परमाणुओं को जहाँ का तहाँ विभाजन करके विराजमान कर देता है। अन्नादि में भी नाना प्रकार की धातुएँ विराजमान हैं।

योगी की संकल्प-शक्ति उसके पुराने संस्कारों का भी साक्षात् करा देती है। दोनों कृतिकाओं को जागरूक करना है। उनके निचले विभाग में 'स्वातामृतिक', नाम का यन्त्र विराजमान है, उसमें होकर ही मन ब्रह्मरन्ध्र में रमण करता है।

१-प्रश्न : यह है कि यह कैसे किया जाये?

यज्ञशाला का स्वरूप

उत्तर : ऋषि कहते हैं कि सबसे प्रथम मानव को याग करना चाहिये। योगी दोनों प्रकार का ही याग करता है। मानव के मुखारविन्द के अग्रभाग के आकार की ही यज्ञशाला बनानी चाहिये।

उसमें ६४ प्रकार की औषधियाँ होती हैं। योगी यज्ञशाला में यज्ञ करता है। उसी में अभ्यास करता है, उसी में अध्ययन करता है। यह विद्या योगियों के मस्तिष्क में रही है और १२ वर्ष में आ जाती है।

कृतिकाओं के आगे 'स्वदानानतिक' नाम का चक्र आता है। जब यह जागरूक होता है तो ब्रह्मरन्ध्र में मन और प्राण दोनों का समावेश हो जाता है तब योगी अपने में जगत को दृष्टिपात कर लेता है। (बाईसवाँ पुष्प, १३-२-७४ ई.)

२-प्रश्न : हम अपने मन से दूसरे के मन को कैसे प्रभावित कर सकते हैं?

उत्तर : जिस प्रकार एक भौतिक वैज्ञानिक अपने यन्त्रें के द्वारा साक्षात् दृश्य दिखा देता है, उसी प्रकार योगी भी यह चाहता है कि मैं लघु-मस्तिष्क में दृष्टिपात कर रहा हूँ, वह मैं अपने शिष्य को देना चाहता हूँ। जिस प्रकार भौतिक विज्ञानवेत्ता यन्त्र का निर्माण करता है,

परमाणुओं को एकत्रित करके अग्नि की उसमें पुट देता है, वायु और जल की पुट देता है और वह ऐसा यन्त्र बन जाता है कि जिस लोक में, जिस प्रकार का तत्त्व प्रधान है, उसी प्रकार के तत्त्व उस यन्त्र में दृष्टिपात आने लगते हैं। इसी प्रकार योगी चाहता है कि मैं भी अपने ब्रह्मरन्ध्र को जान करके दूसरे के मन में प्रवेश करना चाहता हूँ। मैं दूसरे के लघु-मस्तिष्क में यह चित्र देना चाहता हूँ। यह चित्र कैसे जाये? यह आकांक्षा बनी रहती है। योगी में यह सामर्थ्य हो जाती है कि वह चित्र देना आरम्भ कर देता है। वे चित्र उसके मस्तिष्क में 'वृष्टकेतुओं' में आभायित करने लगते हैं।

मन को एक-दूसरे में कैसे प्रवेश किया जाये? यह साधना का विषय है। जब साधना पूर्ण हो जाती है। अन्न के द्वारा मन का शोधन कर दिया जाता है। सत्-चित् आनन्द से जब उसे निर्मल और पवित्र बना दिया जाता है, उस काल में यह मन चित्त की तरंगों को लेकर चलता है। तब मन चित्त की तरंगों को जानने लगता है। यह अनुभव का विषय है। साधना का सम्बन्ध क्रियाओं से होता है। साधना का दूसरा रूप साध्यानि (साध्य) कहलाता है। जब ये दोनों एक रूप में परिवर्तित हो जाते हैं तो मन और प्राण दोनों एक सूत्र में हो करके, इनके ऊपर आत्मा विराजमान हो करके, योग के क्षेत्र में रमण करता है, तब मस्तिष्क की नाना कृतिकाओं में गति आरम्भ हो जाती है।

मानव के मस्तिष्क के ऊपरले भाग में लघु-मस्तिष्क और लघु-मस्तिष्क के ऊपरले भाग में मेधावी-मस्तिष्क कहलाता है। मेधावी-

मस्तिष्क के आँगन में ब्रह्मरन्ध्र का 'आभोर-अस्तु' क्षेत्र कहलाया गया है जिसको यौगिक आचार्यों ने ब्रह्मरन्ध्र भी माना है। उस ब्रह्मरन्ध्र में जब गति प्रारम्भ होने लगती है तो यह जो सर्व-ब्रह्माण्ड है, यह उस लघु-मस्तिक में दृष्टिपात आने लगता है। (सत्ताईसवाँ पुष्प, २-३-७६ ई.)

योग की अलंकारिक कथाएं

समुद्र मन्थन

१-शेष कहते हैं परमात्मा को १- परमात्मा की नेती बनाकर, २-मन की मथनी बनायी : जब मन का शेष से सम्बन्ध हो जाता है तो इस ३-शरीर रूपी समुद्र का मन्थन होता है। ४-देवता अच्छे संस्कार तथा अच्छी मान्यताएँ हैं। ५-दैत्य काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ हैं। इस शरीर रूपी समुद्र को दोनों से मथा जाता है तो पृथ्वी मण्डल, चन्द्र-मण्डल बृहस्पति आदि-आदि निकल आते हैं जिन्हें चौदह रत्न कहा जाता है। (दूसरा पुष्प, २१-८-६२ ई.)

शेष नाग शैय्या

शेष-नाग हमारा मन है जिसमें काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह रूपी पाँच फन हमें डसने वाले विषय हैं। इन सबकी बत्ती बना करके, सबका सब शेष बन करके मन में लय हो जायेगा और यह आत्मा के अनुकूल कार्य करने लगेगा। अर्थात् जब मन काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ पर विजय पा लेता है, और आत्मा के अधीन कार्य करने लगता है, तो वही आत्मा का शेष-नाग की शय्या पर शयन

करना माना गया है। (सातवाँ पुष्प, १२-७-६२ ई.)

महिषासुर मर्दनी दुर्गा

माता दुर्गा को महिषासुर मर्दनी कहा जाता है। यह मन की विद्या ही दुर्गा है। इसी विद्या के द्वार से ब्रह्म-विद्या, ब्रह्माग्नि तथा ब्रह्म वेदना आ जाने पर यह महिषासुर मर्दनी कहलाती है। अशुद्ध प्रवृत्तियाँ ही महिषासुर हैं।

मन पर संयम करके ज्ञान और विवेक के द्वारा इसी ब्रह्म-विद्या के द्वारा माँ दुर्गा की शरण में जाकर, इस महिषासुर को वध किया जाता है और तब यह विद्या सिंह पर सवार हो जाती है। प्राणों पर यह आत्मा विश्राम करने लगता है, तो यह मृत महिषासुर प्राणों में लय हो जाता है।

उस समय उस आत्मा की ज्योति, ज्ञान-विज्ञान जो महालक्ष्मी है, उसको दुर्गा कहते हैं तथा आत्मा का नाम 'दुर्गेवेति' प्रकाशमय कहा जाता है। यह आत्मा प्राणों पर सवार होकर प्यारे प्रभु तक जाता है। इसीलिये इसको महिषासुर मर्दनी कहा जाता है। (अट्ठारहवाँ पुष्प, १७-३-७२ ई.)

नमुचि दैत्य (राक्षस) की कथा

नमुचि दैत्य से दुःखित होकर देवताओं ने बृहस्पति से उसको नष्ट करने की याचना की। बृहस्पति ने इन्द्र से कहा, तो इन्द्र ने समुद्र का मन्थन करके उसके फेन से दैत्य के कण्ठ पर प्रहार किया, इससे वह नष्ट हो गया।

इस कथा का अभिप्राय यह है कि मानव में नाना प्रकार की वासनाओं का जन्म होता रहता है, ये ही दैत्य हैं। इन पर किसी वाद-विवाद का आक्रमण करके तो इन्हें परास्त नहीं किया जा सकता।

एक मानव वेद का अध्ययन करके अक्षरों का बोधि तो हो सकता है किन्तु इससे उसकी वासनाओं पर विजय नहीं हो सकती।

इन्द्र ने इन्द्रियों के रस का मन्थन किया। प्रत्येक इन्द्रिय का जो विषय है, वही रस है तथा उसको 'आपो' कहा जाता है। इन्द्र ने पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा पाँच कर्मेन्द्रियों के विषयों का मन्थन किया। यह वासना (रस) नाना प्रकार की प्रकृति की नाना रूपों में परिणत होती रहती है। जो दृष्टिपात आ रहा है, वही उसका बाह्य-जगत है, उसको आन्तरिक बनाना है और मन्थन करके दश प्राणों में इसकी एक संलग्नता करनी है।

इन्द्रियों के रस तथा प्राणों के एक सूत्र में मिलाने का नाम ही आपोफेन है। यह प्राणों का मन्थन किया हुआ फेन दैत्यराज को पराजित कर देता है। यह भी एक प्रकार का योग है। (बीसवाँ पुष्प, २८-३-७३ ई.)

योग में सहायक कुछ औषधियाँ

एक चार वर्षीया बालिका को साधना में सहायता देने के अभिप्राय से उसके मस्तक पर 'योगा-घृतिक' नाम की औषधि का लेपन किया था। उससे उसकी चेतना इतनी उद्गमता में परिणत हो गयी तथा इतनी प्रज्ज्वलित हो गयी कि योग में उसकी प्रवृति सहज

हो गयी। (इक्कीसवाँ पुष्प, पृष्ठ-६६)

योगाभ्यास में प्रवृत्त करा कर उसमें सिद्धि प्राप्त कराने के लिये मस्तिष्क पर लगायी गयी औषधियों के सम्बन्ध में बालिका द्वारा पूछे गये प्रश्नों के उत्तर महर्षि श्रृंगी जी महाराज द्वारा दिए गये निम्नांकत हैं।

औषधि मानव का जीवन होती है। मानव का जीवन ज्ञान होता है। ज्ञान मानव की एक अमूल्य-निधि होती है। अमूल्य निधि वह होती है जो प्रभु के आनन्द से प्राप्त होती है। प्रभु का आनन्द वह होता है जिसमें नेति-नेति उच्चारण करना स्वाभाविक हो जाता है।

मस्तिष्क पर औषधियों के लेपन करने का अभिप्राय यह है कि उससे बुद्धि तीव्र हो जाती है।

मस्तिष्क पर १-चन्दन २-अगर, ३-तगर, ४-सोनवत तथा ५-शंक बेला औषधियों के लेपन से मानव की बुद्धि नवीन रहती है और मानव को चंचल नहीं होने देती। मानव के मस्तिष्क में जिन नाड़ियों की ध्रुवा गति (निम्नगति) होती है, उनकी गति ऊर्ध्व बन जाती है। इसका कारण यह है कि इन औषधियों में चन्द्रमा का रस होता है तथा सूर्य की किरणों का अति-प्रतिभान होता है।

औषध लेपन का लाभ

मस्तिष्क की इन नस-नाड़ियों की ऊर्ध्वगति बनने से लोक-लोकान्तरों की ओर ऊर्ध्वगति बन जाती है। ऊर्ध्वगति बनने से मानव का जीवन स्वच्छ रहता है और कामना की प्रवृति नहीं होती। इससे

मानव की ऊर्ध्वगति बन करके परमात्मा के आँगन में अग्रसर हो जाती है। ऊर्ध्वगति इसलिये होनी चाहिये क्योंकि वह चेतना है। चेतना जितनी होती है, उतनी ही उसकी ऊर्ध्वगति होती है। इसलिये हम भी चेतना में रमण करने वाले बनें। चेतना मानव का स्वभाव है और वह चेतना के आँगन में चलता है। इस चेतना का स्रोत हृदय है तथा हृदय का स्रोत ब्रह्म है। ब्रह्म का शब्द भी नेति का है, यह उच्चारण करने का नहीं, अनुभव करने का है।

आगे के प्रश्न के उत्तर में फिर कहा कि मस्तिष्क पर औषधियों का लेपन मस्तिष्क का श्रृंगार है क्योंकि इससे हमें जानकारी होती है कि वास्तव में हम पवित्र हैं, हम सुगन्धित हैं, हमारे जीवन में दुर्गन्धि नहीं होनी चाहिये। दुर्गन्धि हो जायेगी तो हमारे मस्तिष्क का जो यह श्रृंगार है, जो यह तेज है, वह नष्ट हो जायेगा। यदि हमारा ब्रह्मचर्य न रहकर हमारी काम प्रवृत्ति बन गयी तो हमारे मस्तिष्क का तेज चला जायेगा, हृदय का सुकृत नष्ट हो जायेगा। इसलिये हमें अपने मस्तिष्क को सदा ऊँचा बनाना चाहिये तथा औषधियों से युक्त रखना चाहिये। जिस मानव का मस्तिष्क नीचे चला जायेगा, उसका जीवन और चेतना सब नष्ट हो जाती है। संसार में जितना भी विचार आता है वह मस्तिष्क से ही विचारा जाता है। मस्तिष्क में ही मन की प्रतिभा है, आत्मा की चेतना है। इस चेतनावत को मस्तिष्क में ही स्वीकार किया गया है। आत्मा का प्रतिबिम्ब भी मस्तिष्क में आता है। इसीलिये मस्तिष्क ही हमारा जीवन है। उसी को सदैव जानना चाहिये। हमारा मस्तिष्क औषिधियों से ओत-प्रोत रहता है। औषधियाँ

चन्द्रमा में, चन्द्रमा गन्धर्व लोकों में, गन्धर्व लोक इन्द्रवत् में, इन्द्रवत् हृदय में प्रतिष्ठित रहते हैं। यह हृदय ही ब्रह्म का स्थान कहा जाता है। ब्रह्म को मानव के हृदय में ओत-प्रोत कराया जा सकता है। हृदय और ब्रह्म दोनों को सन्तुलन करने से मानव का जीवन आनन्दवत् को प्राप्त हो जाता है, तब वहाँ नेति-नेति का शब्द आ जाता है।

पुनः प्रश्न करने पर उत्तर दिया :.

तुम्हारे मस्तिष्क पर प्रकृति के तन्तुओं का लेपन हो रहा है। यह पाँच औषधियों का मिश्रण है। यह तुम्हारे मस्तिष्क को ऊँचा बनाने वाला है और तुम्हारे मस्तिष्क के सुकृत को स्थिर किये हुए है। इसलिये जैसे तुम्हारा मस्तिष्क औषधियों से ओत-प्रोत है, इसी प्रकार तुम्हारा हृदय भी अगम्यता में परिणत होना चाहिये। (तेरहवाँ पुष्प, १७-१-७० ई.)

ऊर्ध्वगति प्राप्त करने की औषधि

१-ब्रह्मकेतुक तथा २-सर्पकेतुक नाम की औषधियों को बराबर लेकर मिश्रण किया। ३-विरुध नाम की औषधि को भी बराबर लिया। ४-किरकिट नाम की औषधि में इनको खरल करने के पश्चात् अपने मूत्र में खरल किया। उसका चालीस दिन तक सेवन करने के पश्चात आत्मा का उत्थान ऊर्ध्वगति का होना आरम्भ हो जाता है। ऋषियों ने इसका काफी अनुभव किया। (तेरहवाँ पुष्प, १८-१-७० ई.)

आसन बनाने की औषधि

पर्वतों में एक 'स्वातांग-आचमन-केतु' नाम की औषधि होती है। उसमें यह विशेषता होती है कि विद्युत् जो पृथ्वी में मिश्रित है उसे

वह विशेषकर अपने में रखने की शासन-शक्ति रखती है। योगीजन उसका एक आसन बनाते थे तथा उसका प्रयोग साधना के लिये करते थे।

'सर्पकेतु' औषधि का शयन करने का आसन बनाया जाता है। उसमें यह विशेषता है कि उस आसन के समीप सर्प नहीं आता और जो उसका पात बनाकर पान करता है वह सर्पों की योनि को भी अपने में प्रतीत करने लगता हैं। सर्प की वाणी को भी वह जानने लगता है, सर्प की आन्तरिक भावना क्या है, इसका आहार क्या है? (अट्ठाईसवाँ पुष्प, १७-११-७५ ई.)

भुख को समाप्त करने की औषधि

कुछ औषधियाँ इस प्रकार की हैं कि जिनको लेने से अन्न की प्रतिभा व्याकुल नहीं कर पाती। महर्षि भारद्वाज जी महाराज ने वर्णन किया कि १-शांपुष्पी, २-सर्पकेतु, ३-मौरकिक, ४-त्रिकाट, ५-निधिनन्त, ६-आनन्दकर और ७-अधुश्रोत नाम के वृक्ष इत्यादियों का, सबका पंचांग ले करके इनका रस बनाया जाता है। इनमें प्राण-शक्ति इतनी अधिक होती है कि अन्न की आवश्यकता न रहकर मानव का कायाकल्प हो जाता है तथा उसका चित्त सुन्दर हो जाता है।

कामातुरता को शान्त करने की औषधि

जब मानव अधिक कामातुर हो जाता है तो कई वृक्षों के पंचांग का पान करने से कामातुरता नष्ट हो जाती है। उसके पश्चात प्राणायाम तथा निदिध्यासन करने से मानव की प्रवृत्तियाँ सूक्ष्म हो

जाती हैं। जब मानव सूक्ष्म-गति को प्राप्त हो जाता है तो उसका मस्तिष्क चेतनित हो जाता है तथा मानव महत्ता को प्राप्त हो जाता है। जैसे १-जालवृक्ष, २-किरकीट वृक्ष, ३-पीपल, ४-त्रिवहाट, ५-वटवृक्ष इन पाँचों का पंचांग बनाकर पान करने से मानव के उदर में मल नहीं बन पाता और प्राणों का सञ्चार सुन्दरता को प्राप्त हो जाता है। महानन्द जी महाराज ने १४ वर्षों तक इसका पान किया। प्राणायाम तथा निदिध्यासन करके वे सूक्ष्म शरीर में रमण करने वाले बने। इस शरीर में भी पंचमहाभौतिक तत्त्व हैं। यह शरीर पंचमहाभौतिक तत्त्वों का पिण्ड है। इनकों उत्तम बनाने के लिये पाँचों वृक्षों के पंचांगों के पात का पान करने की आवश्यकता है।

आत्मा और चित्त का अनुभव करने की औषधि

छः मास तक अन्न का त्याग करके जल की प्रतिभा को जानना है। एक औषधि का सोमरस बनाया जाता है। सोमरस बनाते समय एक मन्त्र का पाठ किया जाता है ।

इसके प्रयोग से तीन मास में ज्योति प्रकट होने लगती है। उस ज्योति का परिणाम यह होता है कि आत्मा तथा अन्तःकरण का स्वरूप सामने आने लगता है। हर मास के पश्चात् जो अनुभव होता है उसका उच्चारण करने में वाणी असमर्थ रहती है। यही वह स्थिति है जहाँ ब्रह्मवेत्ता 'नेति-नेति' का उच्चारण करता है।

अनुष्ठान

यह कोई रूढ़ि शब्द नहीं है। अनुष्ठान का अभिप्राय यह है कि ''अनूठे ज्ञान प्राप्त करना।''

अनु कहते हैं अणु को, अनुग्रहणात्रअनुष्ठान। इससे अणु को जानने की प्रतिष्ठा होने लगती है, प्रतिष्ठा से ही अनूठा शब्द बनता है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि अणु और विभु को जानने के लिये ही अनुष्ठान करना है। संसार में एक सर्वोंपरि अनुष्ठान हमारे जीवन में आता रहता है, इसको जानना है। जानते हुए हम अपनी प्रतिभा में इतने तत्पर हो जाते हैं कि प्रतिभा को जानते हुए ज्ञान में एक अनुपमता प्राप्त होने लगती है।

अनुष्ठान वही व्यक्ति कर सकता है जिसको अनुष्ठान का ज्ञान होता है तथा उसके प्रति विवेक होता है। अनुष्ठान करने का वही अधिकारी है जिसको अनूठा ज्ञान प्राप्त करना हो। जो अनूठे ज्ञान पर नहीं पहुँचना चाहता उसको अनुष्ठान करने का अधिकार नहीं होता।

१-ब्रह्म कांचनी तथा २-अन्तःकृति ये वनों की औषधियाँ हैं जिनका सोमरस बनाया जाता है, इनका पान करने से दोनों का विवेक उस मानव के अन्तःकरण में हो जाता है।

सोमरस उसको कहते हैं जिससे मानव की प्रकृति का रूपान्तर हो जाये। सोमरस का पान करने से हम सात्विक कामनाओं में परिणत हो जाते हैं। हमारा अन्तरात्मा दुष्ट कामनाओं को धिक्कारता है। जिन कारणों से तथा जिस कारण के लिये धिक्कारता है, उस कारण को जानना ही उसके जीवन का रूपान्तर कर देता है। इसलिये जीवन की प्रतिभा को जानना हमारे लिये अनिवार्य है। उससे ब्रह्मचर्य की ऊर्ध्वगति हुई और ब्रह्म में मानव की प्रवृत्ति हुई तो ब्रह्म की प्रमिभा उसे स्वयम् प्रकट होने लगती है। सोमरस में यह

विशेषता होती है कि उससे प्राकृतिक विचार में रूपान्तर हो जाता है तथा मानव ब्रह्मवेत्ता बनने का अधिकारी हो जाता है।

यह सार्वभौम सिद्धान्त है कि मानव प्रकृति में दृष्टिपात करता है। जो वस्तु उसके शरीर में होती है, मस्तिष्क में उससे सम्बन्धी नाड़ी होती है, विचारधारा होती है। उसी विचारधारा से मानव के मस्तिष्क का निर्माण होता, यह वाक्य बड़ा मार्मिक है।

१-ब्रह्म-कांचनी तथा २-अन्तःकरणी (अन्तःकृति) का सोमरस बनाने के लिये इनको बराबर मात्रा में लिया। ३-कृकाट में, अणुवाद में दोनों का इसी प्रकार बराबर लेने के पश्चात् पूर्णमासी की रात्रि में इसका सोमरस बनाया जाता है। मन्त्रों का पाठ करते हुए इन्हें खरल किया जाता है, शुद्ध हृदय से मन्त्रों का पाठ करते हुए जागरूक रह कर उनको जल में खरल करते रहते हैं। गो-दुग्ध की इसमें प्रतिभा होती है। इसके पश्चात् इसका तीन दिवस तक पान कराया जाता है। इसके पश्चात् इसे निष्यप्रति लाया जाये। रात्रि के तीसरे पहर में सतोयुग का प्रभाव होता है। इस काल में शुद्ध हृदय से इसका पुनः सोमरस बनाकर सूर्य की किरणों के उदय होने के साथ-साथ उसको पान करा देना चाहिये। चन्द्रमा और सूर्य से मानव की नाड़ियों का सम्बन्ध होता है। (उन्नीसवाँ पुष्प, ३१-१-७० ई.)

सर्प के विष से बचना

पीपल का पंचांग (१. मूल, २. पत्तियाँ, ३. पुष्प, ४. फल, ५. छिलका, ६. गूदा) को नित्य प्रति लेने से सर्प का विष व्याप्त नहीं हो सकता। क्योंकि इस पंचांग से मानव की प्रवृत्तियों तथा रक्त वहन में

सुन्दरता तथा विद्युतता का सञ्चार अधिक हो जाता है। किन्तु उनका निदान सुन्दर होना चाहिये। निदान में सूक्ष्मता रहने पर विपरीत कार्य भी हो सकता है।

गुरुकुल में ब्रह्मचारी के मस्तिष्क को जानने की औषधि

१. स्वाति, २. भृंगणी, ३. अनुवादन ४. श्वेतकेता, ५ अर्वभृति, ६. चन्दन, ७. तालीस-पत्र। इन सबकों लेकर अग्नि में तपाते हैं। तपाकर शीतल करके, जैसे तिलक श्रिंगत करते हैं, इसको इस रूप में लगाया जाता है। जब इन औषधियों को लेकर मस्तिष्क पर लेपन करते हैं तो मस्तिक के गड्ढे में गति होती है। उससे श्वासों में, घ्राण में, चक्षुओं में और श्रोत्रों में गति होती है। एक रात्रि और एक दिवस तक उन औषधियों का तीन-चार समय लेपन होता है। तब एक दिवस और एक रात्रि में आचार्य यह निर्णय कर लेता है कि यह कौन से वर्ण में जाने वाला बालक है। (पच्चीसवाँ पुष्प, १-८-७३ ई.)

जो योगाभ्यास करना चाहता है उसे सर्व विषयों का ज्ञान होना चाहिये। आयुर्वेद, परमाणुवाद, औषधि विज्ञान आदि का ज्ञान होना चाहिये। बहुत सी औषधियाँ तथा वनस्पतियाँ इस प्रकार की हैं कि उनका लेपन मस्तक पर करने से मस्तिष्क शान्त रहता है तथा मन चंचल नहीं हो पाता। अभ्यास तो होता ही है, औषधि भी इसमें सहायक होती है।

गुरुवर्य श्री ब्रह्मा जी महाराज योगाभ्यास करते समय ३६ प्रकार की औषधियों का लेपन किया करते थे। इन औषधियों से उनका हृदय शान्त रहता था।

इन औषधियों में विद्युत् होती है तथा हृदय की गति को सुचारु रूप से चलाने की गति होती है।

योगाभ्यास करने के लिये पवित्र आसन होना चाहिये और पवित्र ही जल होने चाहिये। वातावरण और वायु भी पवित्र होना चाहिये। योगी को अन्न की सूक्ष्मता को भी जानना चाहिये। बिना अन्न की सूक्ष्मता के योगाभ्यास नहीं होता।

जो मानव संसार की लोलुपता में रहते हुए, सुन्दर और ऊँचे पदार्थों का पान करते हुए योगी बनना चाहते हैं, तो यह असम्भव है। (सोलहवाँ पुष्प, १७-१०-७१ ई.)

नाना प्रकार के पशुओं के घृत को पान करने से सिद्धी प्राप्त नहीं होती। जब एकान्त स्थान पर नाना प्रकार की वनस्पतियों का नाना वृक्षों का पंचांग बनाकर ग्रहण किया जाता है, तथा उसी से शरीर बनाया जाता है, 'गोघृत' भी वनस्पतियों का रस है, जिसकी प्रतीती द्यु-लोक में होती है। ब्रह्मरन्ध्र से प्रायः उसका सम्बन्ध है।

जब ब्रह्मचर्य की ऊर्ध्वगति हो जाती है तो उस योगी सिद्ध आत्मा की संसार में नाना प्रकार के भोग विलासों की इच्छाएँ तथा कामनाएँ ऐसे दग्ध हो जाती हैं जैसे जल के प्रहार से अग्नि का वेग समाप्त हो जाता है।

प्राण के द्वारा ब्रह्मचर्य की ऊर्ध्वगति बनती है तथा ब्रह्मचर्य ऊँचा बनता है। योगी बाल्यकाल में ही बनाया जाता है। जब शिष्य ब्रह्मचारी योगी कुल में योगाभ्यास करने के लिये आता है तो उसको योगी बनाने के लिये उसकी विकृतियों को मानवता से सम्बन्धित

किया जाता है। उसकी ऊर्ध्वगति बनाने के लिये उसको वैसा ही आसन, वैसा ही आहार, तथा वैसा ही व्यवहार, और वैसा ही उसका चलन होता है। योगी को १२ वर्षों तक योगाभ्यास करना चाहिये। योगाभ्यास के लिये उसे नाना प्रकार की औषधियों का पान करना चाहिये। तब योगी सिद्ध होता है और वह योगी जीवन-मरण की मुक्त अवस्था को प्राप्त होने के लिये प्रयत्न करता रहता है। (सातवाँ पुष्प, २५-२-७२ ई.)

महर्षि भृगु जी महाराज ने १०१ वर्ष तक केवल वनस्पतियों का आहार करके मन को शोधन करने वाला तप किया था। वे १-शैलखण्डा, २-अस्वाति तथा ३-शंखभूमि नाम की औषधियों का पान करते थे। इससे रक्त का दूषितपन नष्ट होकर विचारों की तरंगों में शुद्धता आ गयी तथा उनका योग सिद्ध हो गया था।

योगी वह है जो मन और प्राण दोनों का निरोध करना जानता है तथा दोनों को एक स्थान में स्थिर कर देता है। इसके हो जाने पर हृदय में ब्रह्माण्ड का चित्रण होना आरम्भ हो जाता है क्योंकि ब्रह्माण्ड मन और प्राण की गति से ही गतिमान है। मन विभाजन करने वाला तथा प्राण विभाजित होने वाला है।

योग का मार्ग इतना भयंकर नहीं कि उस पर न चला जा सके। वास्तव में अपने जीवन में परिवर्तन कर लेने से योग की प्राति होती है। हमें मन को स्थिर करने का अभ्यास करना चाहिये। (बीसवाँ पुष्प, २८-३-७३ ई.)

इन्द्रियों का फोम ;थ्वंउत्र फेन, झागद्ध बनाने के लिये १-सूली,

२-अनानाद तथा ३-सेलखण्डा नाम की औषधियों का १२ वर्षों तक पान कराया जाता है। स्वाति नक्षत्र में एक औषधि उत्पन्न होती है, जिसको मुण्डिका और स्वाकृति कहते हैं। उन दोनों को मिला कर आसन बनाया जाता है। इस आसन पर बैठने से उनकी विद्युत् से मस्तिष्क में सूक्ष्मशरीर तन्तु स्पष्ट हो जाते हैं। अतः हमें नाना प्रकार की औषधियों का पान करना चाहिये। (बीसवाँ पुष्प, २९-३-७३ ई.)

अनवेकृति, अवरेता और सेलखण्डा (शैलखण्ड) ये तीन औषधियाँ होती हैं। इनको लेकर योगी अनशन करता है। इन औषधियों की यह विशेषता है कि पृथ्वी से उन कणों की गति तीव्र बन जाती है। शरीर में प्राण की गति में तीव्रता आ जाती है। सूर्य की कान्ति इस पृथ्वी पर सौम्यता को प्राप्त होती रहती है और वह औषधि में रमण करती रहती है। (बाईसवाँ पुष्प, १३-२-७४ ई.)

स्वाति नामक एक वृक्ष होता है उसका पंचांग बनाया जाता है। उसकी पाँचों वस्तु लेकर अग्नि में तपाते हैं और उसका पात बनाते हैं। उसका पान किया जाता है। (बाईसवा पुष्प, १३-२-७४ ई.)

यदि कृषि के भी अन्नादि को ग्रहण करना चाहें, तो वह अन्न आदि होता है, जिसमें प्राण अवगत हों। इस प्रकार के आहार से मन की धारा स्थिर हो जाती है और प्राण की गति का समावेश प्रारम्भ हो जाता है। (बाईसवाँ पुष्प, १३-२-७४ ई.)

११ एकादश अध्याय-शान्ति एवम् प्रेरणा का साधन

प्रभु-भक्ति

यह आत्मा सत्-चित् है तथा आनन्द के लिये सदैव लालायित रहता है। जब प्रभु के गुणों का गुणगान होने लगता है तो यह आत्मा तृप्त हो जाता है। जहाँ आत्मा के सखा का गुणगान नहीं होता वहाँ मानव कुछ समय तक उस प्रकृति के आवेशों में शब्दों को श्रवण करता रहता है, पर कुछ समय पश्चात् वह उन शब्दों से तथा प्रकृति के आवेशों से ऊब जाता है और ऐसा ऊब जाता है कि उसे वह वाक्य श्रवण करने में भी लज्जा आती है। (छब्बीसवाँ पुष्प, २२-९-७३ ई.)

जब मानव जिज्ञासु बनकर प्रभु की शरण में जाता है तो उसे अनुभव होने लगता है कि वह ममतामयी माता की छत्रछाया में विराजमान है। माता की लोरियों में बालक अपने जीवन को पनपाता है। आगे युवा होकर अपने कुटुम्ब को प्राप्त कर लेता है किन्तु माता अपनी नम्रता तथा आनन्द के स्रोत को किसी भी समय नष्ट नहीं करती। इसी प्रकार वह प्रभु माता जिसके द्वारा से यह चेतना का स्रोत उत्पन्न होता है, उसके पान करने के पश्चात् मानव अमरावती को प्राप्त हो जाता है। (चौदहवाँ पुष्प, २२-३-७० ई.)

भक्ति मार्ग और ज्ञान मार्ग

भक्ति-मार्ग और ज्ञान-मार्ग दोनों में भिन्नता होती है। भक्तजन कण-कण में परमात्मा को स्वीकार करते हुए, उसकी याचना करते

हुए इस संसार सागर से पार हो जाते हैं परन्तु उसका गिरने का भय रहता है। भय की प्रतीति इसलिये होती है कि उनमें जो विवेक है वह करण-करण में मानने पर ही है। बुद्धिवादी के ज्ञान का जो विवेक है वह उनमें नहीं होता। यह विषय शास्त्रार्थ का न होकर अनुभव तथा विचार का है और तपस्या का है। जो तपस्या नहीं करते उन्हें यह भय रहता है कि कहीं तुम्हारे वाक्य नष्ट न हो जायें। (ग्यारहवाँ पुष्प, ३-४-६९ ई.)

भक्ति का महत्व

प्रभु संसार में सबसे उदार है। उसे कोई अनिष्ट उच्चारण करता है, कोई अशुद्ध उच्चारण करता है, कोई असभ्यता से कहता है, कोई सभ्यता से उपासना करता है, परन्तु उसकी देन सबके लिये समान है। प्रभु से मिलान करने के इच्छुक को उसी के समान उदार हो जाना चाहिये। प्रभु को मान-अपमान नहीं व्यापता, ये इसी प्रकार प्राणी को भी मान-अपमान से अपने को दूर कर लेना चाहिये। जैसे माता अपने बालक को दुग्धपान कराते समय उससे एक रस हो जाती है, और बालक की भावनाओं को अपने में रमण कर लेती है, वही भावना बालक से प्रतिध्वनित होती है, तो दोनों एकरस हो जाते हैं। इसी प्रकार मानव की उदारता भी प्रभु को छूने लगती है और प्रभु की उदारता मानव को छूने लगती है। उस समय मानव ही क्या, मृगराज तथा सर्प आदि भी उस मानव को देवालय स्वीकार करने लगते हैं, तथा उसके उदार वाक्यों के उत्सुक रहतें हैं। इस सृष्टि के सभी प्राणी उस प्राणी की उपासना करने लगते हैं। जैसे प्रभु का

गुणगान सभी गाते हैं, उसको सर्प का विष भी नहीं व्यापता। परमात्मा की उपासना वेदों में पर्याप्त है। अतः मानव को त्रयी-विद्या से अपने को सुगठित करते रहना चाहिये अन्यथा उसमें उदारता के अङ्कुर उत्पन्न नहीं होंगे। (ग्यारहवाँ पुष्प, २-८-६८ ई.)

हमें उस प्यारे प्रभु का धन्यवाद करना चाहिये। प्रभु का धन्यवाद कहने से, धन्यवाद प्रभु का नहीं होता, अपने स्वयम् का धन्यवाद होता है। अपना तो भाग्य स्वीकार करना चाहिये। इससे मानव का अपना सौभाग्य होता है। यह सौभाग्य क्या है? प्रभु चेतना और अनुपमता हमें प्राप्त हो रही है। (बाईसवाँ पुष्प, २-८-७० ई.)

प्रभु भक्ति की आवश्यकता

प्रभु हमारे जीवन का हर समय साथी बना रहता है। हमें उसकी लीला को प्रत्यक्ष करना चाहिये। प्रकृति मानव को नीचे की ओर ले जाने वाली है। हमें उसकी उपासना में न लगकर उस परमपिता परमात्मा की उपासना करनी चाहिये, जो चैतन्य-स्वरूप है, जो शून्य प्रकृति को कम्पायमान बना रहा है और हमारे जीवन को भी कम्पायमान बना रहा है।

जब मानव को किसी का भय होता है तो वह बहुत शीघ्र समय में सफल हो जाता है। इसके विपरीत होने पर उसे देरी लगती है। अतः जो मानव सत्य को अपने समक्ष रखता है और परमात्मा का भय माना करता है, वह संसार सागर से अवश्य पार हो जाता है। परन्तु जो परमात्मा का भय नहीं मानता उसे भोगना तो अवश्य पड़ेगा, तब उसको ज्ञान होगा। मानव अपने भौतिक आवेशों में अपने

जीवन को समाप्त करता जा रहा है। (सातवाँ पुष्प, १८-८-६२ ई.)

जो जिसके निकट आ जाता है, उसके परमाणु उसमें आ जाते हैं। उसके परमाणु आते जायेंगे उसकी उन जैसी और उतनी प्रवृति बन जायेगी। जब यह आत्मा-परमात्मा के निकट जाने वाला बन जाता है तो जितने निकट रहता है उतना परमात्मा की परिधि में घूम-घूम कर कार्य करने लगता है। जितना उसके निकट जाता है उतना ही ज्ञानी बनता जाता है, क्योंकि वह प्रभु ज्ञानियों का भी ज्ञानी है। (पाँचवाँ पुष्प, १-४-६२ ई.)

मानव जब निष्ठावान होकर कण-कण में चेतन को स्वीकार कर लेता है तो वही 'ओ३म्' का चिन्तन है, वही प्रभु का चिन्तन है। उसी को माला पाठ कहा जाता है, वही 'ओ३म्' रूपी धागा है। जो प्रकृति का और विज्ञान का एक-एक कण 'ओ३म्' रूपी धागे में दृष्टिपात करता है, वह अपनी महत्ता को प्राप्त करता हुआ इस संसार सागर से पार हो जाता है। (पन्द्रहवाँ पुष्प, २०-६-६३ ई.)

परमात्मा के वेद ज्ञान को पाकर हम परमात्मा के उपासक, पवित्र और सुशील बन जाते हैं। तब हम अमृत को पाकर अमृत बन जाते हैं और वह अमृत आत्मा आनन्द ही आनन्द भोगता रहता है। सुशील बनकर हम दार्शनिक समाज में जाकर नाना प्रकार के प्रश्न कर सकते हैं तथा उनके उत्तर पाने वाले बन जाते हैं। (प्रथम पुष्प, ४-४-६२ ई.)

परमपिता परमात्मा के गुणों का गान गाते समय ऐसा अनुभव होने लगता है कि हम उसकी छत्र-छाया में विराजमान हैं। उस

समय हमारा हृदय प्रसन्न हो जाता है। उस परमात्मा ने हमें सुन्दर मार्ग दिया, जिस पर चलकर हमारे हृदय में मानवता के पवित्र अङ्कुर उत्पन्न हो जाते हैं। ऋषि-मुनियों ने परमात्मा की महिमा से, वेद से उसे जानते हुए, हमें प्रदर्शित किया है। हम उस सुन्दर मार्ग को अपनाते हुए, अपने जीवन को विशाल हृदय, निडर, निर्भीक होकर, राष्ट्रवादी, मानवतावादी, धर्मज्ञ होकर सब प्रकार से दूसरों की रक्षा करने वाले बनें। हम वेद के उस प्रकाश को लेकर चलें जो अनुपम प्रकाश है, जो ज्ञान विज्ञान और सार्वभौम विचारधारा को लाकर हमें सुमार्ग पर लगा देता है। जैसे यज्ञशाला में अग्नि सामग्री को भस्म कर देती है, उसी प्रकार वेद रूपी अग्नि में अपनी कुरीतियों को नष्ट कर के हम सुमार्ग पर चलने वाले बनें। (छठा पुष्प, १९६६ ई.)

न कुछ करने से, कुछ करना अच्छा है। यदि कोई कहे, कि जब परमात्मा के गुण गाने में वाणी असमर्थ है तो प्रयत्न किसके लिये करें। वास्तव में मानव जो कुछ करता है वह अपने लिये करता है। अपना अपनत्व ऊँचा बनाने के लिये परिश्रम करता है। वाणी से गुणगान गाता है, अपनी महत्ता के लिये। अतः मानव को वे कर्म अवश्य करने चाहिये, जिनसे उनका जीवन ऊँचा बने। (दसवाँ पुष्प, २६-७-६३ ई.)

हमें ईश्वर के उस गुणगान को गाना चाहिये जिससे हम देवता बन सकें और संसार को देवता बना सकें। हमें ऐसा देवता बनना चाहिये कि कम से कम एक व्यक्ति को तो उपने सदृश देवता बना सकें। इस देवत्व को प्राप्त करने के लिये हमें उस वेदों के देव का

अनुकरण करना होगा। (पाँचवाँ पुष्प, २८-७-६३ ई.)

जिस विधाता ने इस संसार को सबके लिये उत्पन्न किया है, उससे माँगने में, किसी पदार्थ की अभिलाषा या इच्छा करने में किसी प्रकार की हानि नहीं होती। क्योंकि वह परमेश्वर इतना बड़ा दानी है कि हम न भी माँगे तब भी वह विधाता हमारे कल्याण के लिये सभी पदार्थ प्रदान कर रहा है। उसी के द्वारा महत्व प्रदान करने से प्रत्येक मानव, देवकन्या इस संसार में आ करके अपना-अपना कार्य किया करते हैं। प्रत्येक जीव उसी के आश्रय से अपना जीवन चला रहा है। याचना करने से उस समय हानि होती है जब मानव अपने को भुलाकर अपनेपन को नष्ट कर देता है। अर्थात् भोग-विलास में मग्न होकर भोग-विलास की सामग्री को ही भोग-विलास के लिये याचना करता है तब उसकी हानि ही हानि होती है। (पहला पुष्प, २-४-६२ ई.)

प्रार्थना की रूपरेखा

प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य है कि प्रातः व सायं प्रभु का चिन्तन करें और कहे कि हे प्रभो! यह सब तेरा है, मेरा नहीं। मैं आपका सेवक बनना चाहता हूँ, मैं आपके रचाये संसार में आया हूँ। मेरा कर्त्तव्य है कि मैं संसार की सेवा करूँ, मैं आपके आदेशों का पालन करूँ; मैं आपके आदेशों का पालन करने आया हूँ, उनका उल्लङ्घन करने नहीं। आदेशों का उल्लङ्घन करने पर यह जीवन समाप्त हो जायेगा। अपने को प्रभु को सोंप कर कहे कि हे विधाता ! ले यह तेरा है। इसे तू अच्छा बना, पवित्र बना और प्रखर बना। हे प्रभु! मैं

आपको अपनाना चाहता हूँ। प्रभु! आपकी प्रेरणा के बिना तो मैं पाप ही पाप करता रहा शुभ कर्म कहाँ होता। प्रभो! मैं आपकी प्रेरणा का इच्छुक हूँ, मुझे अपनी प्रेरणा दो। तू ही मुझे महान् बना सकता है और कोई नहीं। हे प्रभो! तू कल्याण करने वाला है, हमारा भी कल्याण कर। तू हमें यहाँ से ले चल, जहाँ एक-दूसरे की त्रुटि को देखते हों तथा दूसरों पर क्रोध न्यौछावर किया जाता हो। (पाँचवाँ पुष्प, पृ.-१२८)

हम परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि हे विधाता ! हमारे हृदय में, मस्तिष्क में तथा बुद्धि में ऐसे सुज्ञान को प्रविष्ट करो जो कभी समाप्त न हो। इस ज्ञान को प्राप्त करके हम संसार सागर से पार हो जायें, हम अधोगति में कभी न जायें। आप हमारे दाता हैं। हे परमात्मा ! आप हमारी माता हैं। जब हम लौकिक जननी माता को त्याग देते हैं और आपको माता बना लेते हैं, उस समय प्रयत्न करने से एक समय माता की गोद के सदृश आपकी गोद में पहुँचकर आनन्द प्राप्त करते हैं और ऐसा अनुभव करते हैं कि हमने सब ब्रह्माण्ड को विजय कर लिया हो। जब हम तेरी ज्ञान भरी लोरियों में चले जाते हैं तो इतनी मनोहर लोरियाँ होती हैं कि फिर हमें संसार की कोई इच्छा नहीं रहती। (दूसरा पुष्प, ३-४-६२ ई.)

हे प्रभो ! हमें उस विज्ञान के मार्ग पर ले चल जिसमें हमें वास्तव में बुद्धि प्राप्त होती है। जिस विज्ञान में जाकर हम प्रकृति को अपने अधीन बनाकर इस पर शासन करें। हे प्रभो ! हमें इस संसार की आवश्यकता नहीं, जहाँ प्रातः सूर्य उदय होता है और सायङ्काल

अस्त हो जाता है। हे प्रभो ! हमें उसकी आवश्यकता है, जहाँ आपका ज्ञान रूपी सूर्य कभी शान्त नहीं होता। (चौथा पुष्प, १९-४-६४ ई.)

हे परमात्मन् ! हे इन्द्र ! आप हमारी भिन्न-भिन्न रूपों में रक्षा करते हैं। आप हमारी वह रक्षा करो, जो आनन्दमयी हो। हमारी और संसार की आत्मा में शान्ति प्रविष्ट करो। हे विधाता ! जब यह संसार शान्तिदायक बन जाता है, तो उस समय संसार में मानवता ओत-प्रोत हो जाती है। प्रत्येक मानव सुख को चाहता है। किन्तु यह हमें तभी मिल सकता है, जब हम सुख स्वरूप प्रभु के ज्ञानमय आनन्द को जान लें, तथा परमात्मा इन्द्र को कल्याणकारी जानकर अपनी मानवता को पवित्र बना लें। जो जीवन भगवान् शिव ने हमें सृष्टि के आरम्भ में ही प्रदान किया था, आज हम पुनः से उसे चाहते हैं। हे परमेश्वर ! हमें वह जीवन दो, वह अलौकिकता दो, जिससे हमारा जीवन सम्पन्नता को प्राप्त होता चला जाये और आनन्दमयी ज्योति से हमारा जीवन हर समय आनन्द में रमण करता रहे।(पाँचवाँ पुष्प, ९-१०-६४ ई.)

हे विधाता ! आपने हमारे कर्म करने के लिये इस महान प्रकृति में सत्ता देकर इस विशाल सृष्टि को, इस विशाल संसार को बनाया है। उसमें हम अच्छे और बुरे कर्मों का प्रदर्शन कर रहे हैं। हे देव ! हे सखा! हे मित्र सृष्टि के आरम्भ में आपने हमारे लिये स्थावर सृष्टि की स्थापना की। इसके पश्चात् हमारे लिये नाना प्रकार की वनस्पतियों, लता, पुष्प, आदि उत्पन्न किये। इन सबका सदुपयोग

करके हमारा जीवन अलौकिक एवम् महत्वपूर्ण बन जाता है। सृष्टि में विभिन्न प्रकार की योनियाँ हैं। वास्तव में जो जिसका आहार है, वह उसका सदुपयोग करता है, तो व्यक्ति का जीवन महत्वपूर्ण तथा महत्व-प्रदाता बन जाता है। (तीसरा पुष्प, १७-७-६३ ई.)

हे विधाता ! वह समय किस काल में आयेगा जब वेद मन्त्रों का पाठ प्रत्येक मानव प्रत्येक देव कन्या के कण्ठ में होगा, जब माता गायत्री का महान् स्वरों में गायन गाया जायेगा। आज हम समय का परिवर्तन चाहते हैं। हे देव ! हमारे समक्ष उस समय को प्रकट करो, जहाँ गम्भीर व्यक्ति हों, जहाँ प्रत्येक मानव प्रत्येक वस्तु को विचारने वाला हो। हे विधाता! हमें उस समाज की आवश्यकता नहीं जहाँ अभिमान हो, तथा अपने से बड़ा किसी को न मान रहा हो। हे विधाता ! जब ऐसे-ऐसे अभिमानी इस संसार में उत्पन्न हो जायेंगे तो उनका अभिमान आपके अन्तरिक्ष में रमण करेगा। यह प्रतीत नहीं कि वह अभिमान किस-किस मानव को नष्ट-भ्रष्ट कर देगा। हे विधाता ! हमें तो वे व्यक्ति चाहिये, जो निरभिमानी हों, विद्या से परिपक्व हों अर्थात् जिनके पास अनन्त विद्या हो। हे देव ! हे मित्र! हे सखा ! हम आपकी शरण में आये हैं। हमें उस महत्व को प्रदान करो जिससे हम महान् बनें, विचित्र बनें, यौगिक बनें। (तीसरा पुष्प, ९-१२-६२ ई.)

हे प्रभो! तू कल्याण करने वाला है। तू संसार को उज्ज्वल बनाता है, तेरी महत्ता इस संसार में ओत-प्रोत है। जहाँ हमारे नेत्र जाते हैं, जहाँ हमारा ज्ञान-विज्ञान इतना अनुपम और विलक्षण है कि जिसे ऋषि तो बहुत कुछ जान भी सकते हैं, परन्तु मानव तो हृदय से

उच्चारण करता संसार से चला जाता है। (आठवाँ पुष्प, १४-११-६३ ई.)

हे परमात्मन् ! आपने इस संसार को रचाया है, इसका कल्याण करो हम तेरी शरण में आये हैं, तेरी महत्ता चाहते हैं। इस महत्ता को प्राप्त करके जब संसार में विचरण करते हैं तो हमारा कल्याण हो जाता है। जब आत्मा इस शरीर को त्याग कर अन्तरिक्ष में रमण करता है, तो आपके नियम के अनुकूल यह उस स्थान पर पहुँच जाता है, जहाँ इसका भोग होता है। (चौथा पुष्प, १-४-६४ ई.)

हे देव ! हे सखा ! हे मित्र ! तू इस संसार रूपी राष्ट्र का स्वामी है। इस राष्ट्र को शान्तिदायक और महान् बना। हम सर्वप्रथम हृदयरूपी राष्ट्र को ऊँचा बनाना चाहते हैं। हे विधाता ! हमारे शरीर की जो अयोध्या रूपी नगरी है, इसमें राम राज्य हो जाये, इसके लिये परिश्रम की आवश्यकता है। हे विधाता ! हम संसार रूपी राष्ट्र को ऊँचा बनाना चाहते हैं, जिसमें हमारा जन्म हुआ है। यह तभी बन सकेगा जब आपकी कृपा होगी और आपकी प्रेरणा हमें मिलती रहेगी। (पृष्ठ-६३)

हे देव ! तू वास्तव में संसार का कल्याण करने वाला है और उसे प्रकाश में ले जाने वाला है। तू राष्ट्र को प्रकाश में ले चल। परमात्मा की सृष्टि में दुराचारियों की आवश्यकता नहीं। यहाँ तो सदाचारी, सत्यवादी और विवेकी पुरुषों की आवश्यकता है। जब कन्याओं और ब्रह्मचारियों को विवेक से देखा जायेगा तो यहाँ व्यापकता आती चली जायेगी। उपनिषदों की शिक्षा से ब्रह्मचारिणी

अपने विचारों में इतनी दृढ़ होगी कि अन्य राष्ट्र में जाकर भी वह अपने ही विचारों से दूसरों को प्रभावित कर सकेगी। (पृष्ट-१५४)

हे परमदेव ! तू संसार का कल्याण करने वाला है। इस संसार के प्रत्येक मानव तथा देवकन्या के हृदय में उस उज्ज्वलता को दे, जो सृष्टि के आरम्भ में प्रत्येक वेद मन्त्र द्वारा दी है। सृष्टि के आरम्भ में दिये गये ज्ञान के स्रोत को, उसके पात्रों को दे। हमारे हृदयों को पवित्र बना, हम उज्ज्वलता को प्राप्त कर आपकी दया के पात्र बनेंगे। दया के पात्र बनने पर हमारी आत्मा में कोई दोष नहीं आयेगा, उस समय हमारा जीवन ऊँचा बनेगा। (सातवाँ पुष्प, ७-११-६३ ई.)

हे परमात्मन् ! संसार में हमें मिथ्यावाद से दूर ले चल। सत्यवाद में हमारी प्रवृत्ति होनी चाहिये जिससे हम महापुरुषों का आशीर्वाद लेकर संसार सागर से पार होते चलें जायें। (नौवाँ पुष्प, १७-१०-६७ ई.)

हे प्रभो ! हम यह चाहते हैं कि हम सदैव आपके गुण गाते रहें और कभी भी आपसे विमुख न हों। हमारा जीवन आपकी महिमा में ही पनपे और संसार की कटुता, मान-अपमान की धाराएँ हमारे समीप न आयें। प्रभो ! आप तो कल्याण करते हैं, किन्तु हमारे जीवन को मुग्ध बनाइये, जैसे पृथ्वी। हम कटुता को त्यागते हुए आपकी शरण में आते चले जायें। जन्म-जन्मान्तरों के अङ्कुर मल इत्यादियों से अकृत हैं। मैं इन संस्कारों से भी पार पाना चाहता हूँ। शान्त मुद्रा में आने पर इस संसार से ऊब जाते हैं। तार्किकता में जाकर विचारते हैं कि प्रभु है ही नहीं। कोई उसे पापी कहता है,

कोई दुराचारी। इस प्रकार के तर्क केवल प्रभु की शरण में जाने से ही दूर हो सकते हैं।

मानव प्रभु का अनुभव तभी कर सकता है, जब वह अपनी कामनाओं को शान्त कर दे। कामना तभी नष्ट होती है जब वह संसार से तथा नाना प्रकार की कामनाओं से ऊब जाता है और उसके पश्चात् वह प्रभु की शरण में जाता है। जैसे प्रभु के द्वारा न मान है, न अपमान है, न उसे दुराचार छूता है न सदाचार। वह सदैव एक रस रहता है। इसी प्रकार हम भी एक रस रहें। अर्थात् न आस्तिक, और न दुराचारी हों, न सदाचारी। ये सब तभी नष्ट हो सकते हैं जब संसार को प्रभु में समाया हुआ स्वीकार कर लें। उस समय वह संसार में प्रभु से सुन्दर किसी भी वस्तु को स्वीकार नहीं करेगा। उस प्रभु से बड़ा वैज्ञानिक कौन हो सकता है जिसने इस ब्रह्माण्ड के समान इस शरीर को बना दिया। हम तो कुछ जानते ही नहीं। प्रभु ! जब चित्त में हम किसी सुन्दरता के अङ्कुर नित्य-प्रति बोते रहते हैं तो एक दिन हम उसमें तल्लीन हो जाते हैं। हम यह चाहते हैं कि ये अङ्कुर उत्पन्न ही न हों। यह स्थिति तभी आ सकती है, जब सर्वत्र प्रभु को ही दृष्टिपात करें। (तेरहवाँ पुष्प, १-११-६९ ई.)

वेद मन्त्रों का अनुवाद करते हुए ऋषि कहता है कि हे प्रभो ! तू वास्तव में हमारा कल्याण करने वाला है, जीवन को उद्बुद्ध करने वाला है। तेरी महत्ता में हम सदैव रमण करने वाले हैं। अज्ञान हमें आप से दूर ले जाता है। हम चाहते हैं कि सदैव प्रकाश में, आनन्द में रमण करते रहें। मानव आनन्द के लिये तथा जीवन की प्रतिभा

को जानने के लिये उत्पन्न होता है। प्रभो ! हमें सामर्थ्य प्रदान करो जिससे हम आपकी महती अनुपम कृपा के द्वारा आपकी महिमा को जानते हुए अपने मनुष्यत्व को जानते चले जायें। यह जगत आपसे ही व्याप्त हो रहा है। (बारहवाँ पुष्प, ८-४-६१ ई.)

हे परमात्मन् ! तू महान् है, अनन्तत्व में विराजमान है। तू अनन्त है, तेरी कोई सीमा नहीं है। हे प्रभो ! आपके समक्ष सभी बालक हैं। एक बालक जन्म लेता है और वृद्धपन को प्राप्त होता है। वह वृद्धपन उसकी अवधि का है। जैसे कृषि वसन्त ऋतु में परिपक्व हो जाती है तो हे प्रभु ! ऐसी ही आपके लिये बसन्त ऋतु यह है, जब मानव वृद्धपन को प्राप्त हो जाता है और वृद्धपन में ही वह आपको प्राप्त होता चला जाता है। उसका जो चित्त है वह एक महत्ता में परिणत रहता है। (बारहवाँ पुष्प, १६-४-६९ ई.)

हे प्रभो ! मेरे हृदय को उज्ज्वल, महान् तथा उस पवित्र पथ का गामी बना, जिस पर चलकर मानव की गति महत्ता में परिणत हो जाती है। प्रभो! मेरी चंचल गति का इस प्रकार दमन हो जाये, जैसे सायङ्काल का सूर्य। वह गति मेरे लिये घातक तथा मेरे जीवन को नष्ट-भ्रष्ट करने वाली है। प्रभो ! इन जीवन में नाना प्रकार की बाधाएँ हैं किन्तु सुपथ पर चलने के लिये तीन वस्तुएँ विशेष बाधक बनी हुई हैं। १-कंचन, २-कामिनी तथा ३-जातीय अभिमान। यह कंचन मेरे जीवन में ममतामयी धारा उत्पन्न करके उसे विकसित नहीं होने देता। इसी प्रकार कामिनी भी मेरे लिये इस जगत को लुभावना बना रही है। इसी लिये मैं कंचन और कामिनी से उसी प्रकार उदासीन होना

चाहता हूँ जैसे मनुष्य प्रातःकाल में शय्या को त्याग देता है ! प्रभो ! कंचन और कामिनी से जो हमें उदासीन नहीं होने देता वह हमारा जातीय अभिमान है, परन्तु जब संसार में, प्राणीमात्र में हम आपकी प्रतिभा को स्वीकार करेंगे, तो हमारा जीवन तथा हम इस संसार में उदासीन बन सकते है। प्रभो ! मैं उस सुपथ में जातीय-अभिमान, कंचन-अभिमान तथा कामिनी-अभिमान तीनों में से किसी को नहीं चाहता। क्योंकि वह मार्ग तो ऐसा है जिस पर चलकर हमारा जीवन पवित्र बनता चला जाता है। प्रभो ! मैं आपके चरणों की बन्दना करता हूँ। वन्दना करने का अभिप्राय यह है कि मैं अपने हृदय को उज्ज्वल बना रहा हूँ। आपकी शुद्ध, पवित्र, अमृत सम्वेदना के साथ में अपने हृदय को निर्मल और स्वच्छ जल से स्वच्छ बनाना चाहता हूँ। प्रभो ! तेरा अमृतमय ज्ञान, नम्रता, उदारता, उद्गम हृदय यह जगत है। मेरी ज्ञान की कामना यह है कि इनसे मैं अपने हृदय को पवित्र बनाऊँ। प्रभो! तू कितना उद्गम, कितना उदार, कितना महान् और कितना व्यापक है। तेरी उज्ज्वलता इस संसार में व्यापक है। प्रभो ! मैं इतना अल्पज्ञ हूँ कि मुझे अगली बार क्या भोजन मिलेगा ? यह भी मालूम नहीं किन्तु आप सब जानते हैं। प्रभो! मैं पाप कर्म करने को तभी उद्यत हो सकता हूँ जब आपका आनन्दमय स्रोत मुझसे पृथक् हो जाता है। मैं इस ज्ञान और पवित्रता को अपने से पृथक् नहीं होने देना चाहता। प्रभो ! जैसे आप उदार हैं ऐसे ही मुझे भी उदार बनाइये। प्रभो ! यदि मैं अपनी रसना में संसार के लावण्यमय सुस्वादु पदार्थों का पान करता रहा, तो मैं आपके रस से विंचत हो

जाऊँगा। प्रभो ! मैं अल्पज्ञ वाणी को आपकी आनन्दमयी वाणी से मिलान करना चाहता हूँ जिससे मेरा जीवन पवित्र बनता चला जाये। क्योंकि वह जो जीवन का आनन्दमय स्रोत है, उसी में से तो आनन्द की प्रतिभा ओत-प्रोत रहती है। (तेरहवाँ पुष्प, १७-१-७० ई.)

हे परमात्मन् ! तू अनुपम है, तू संसार को चेतना प्रदान करने वाला है। हम इस चेतना को चाहते हैं जिसमें मानव को अन्धकार प्राप्त नहीं होता, सदैव प्रकाश ही प्रकाश रहता है। जब मानव ब्रह्म-सुख में परिणत होकर ब्रह्म-चेतना में रमण करने लगता है और सर्वत्र ब्रह्म ही को देखने लगता है तो वह संसार में उज्ज्वलता को प्राप्त होता हुआ महान् मण्डल में परिणत हो जाता है। जहाँ अन्धकार नहीं होता, सूर्य एकरस रहता है। हे परमात्मन् ! हम उन लोकों को चाहते हैं जहाँ अन्धकार नहीं होता, सदैव प्रकाश ही प्रकाश रहता है। हम आपकी आराधना करते हुए मानव से देवता, देवत्व से महादेवत्व को चाहते हैं, जिससे हमारे हृदय में विडम्बना न होने पाये। यह विडम्बना मानव के विनाश का मूल कारण बनती चली जाती है। हे प्रभो ! हम अपने हृदय में प्रसन्नता, महत्ता और उज्ज्वलता चाहते हैं जिससे हमारा जीवन आनन्द में परिणत होता हुआ तथा महत्ता की वेदी पर रमण करता हुआ संसार सागर से पार हो जाये। (बीसवाँ पुष्प, २९-७-७३ ई.)

हे परमात्मन् ! तुझे वेद ने अग्नि स्वरूप कहा है। तू इस संसार को तपाने वाला है क्योंकि यह जो जगत है, यह आपकी ही चेतना पान कर रहा है। आपका जो अग्निमय स्वरूप है, उसी प्रकाश में यह

मानव प्रकाशमय होता चला जा रहा है। वेद ने तुझे मृत्युंजय कहा है जिसके निकट मृत्यु नहीं होती वह संसार को मृत्यु से ऊर्ध्व में ले जाने वाला है। (चौबीसवाँ पुष्प, १८-८-७२ ई.)

हे प्रभो ! आपको अग्निमय स्वरूप माना गया है क्योंकि अग्नि आपकी अग्नि स्वरूप चेतना से बनी है। हे प्रभो ! आप हमारे पापों का मोचन करने वाले हैं क्योंकि कर्मों के अनुसार जब हमें फल प्रदान कर देते हैं तो उससे हमारे जीवन में एक नवीनता का प्रसार होने लगता है। हे प्रभो! हमें प्रकाश आप ही की महिमा से प्राप्त होता है। आपके प्रकाश को जब अपने में दृष्टिपात करते हैं तो उसका वर्णण नहीं कर पाते हैं। क्योंकि वह ऐसा अद्वितीय प्रकाश है जिसको पान करने के पश्चात् मानव जीवन में एक महत्ता दीखने लगती है। हे प्रभो ! हमारा आपसे जो बिछुड़ना हो गया था, हम उसकी पुनः सन्धि चाहते हैं। यह सन्धि तभी हो सकेगी, जब आपकी हमारे ऊपर अनुपम कृपा होगी और हम उस सन्धि करने वाले पथ के पथिक बनेंगे। हे प्रभु ! हम आलस्य और प्रमाद को दूर करके उस पथ को अपनाना चाहते हैं जिसके अपनाने से आपकी और हमारी सन्धि हो जाये। हम लाखों-करोड़ों वर्षों से अथवा अरबों वर्षों से, न मालूम कितना समय हो गया जब आपसे हमारा विच्छेद हो गया था। हम पुनः से सन्धि चाहते हैं। और उस वैदिक प्रकाश को अपनाना चाहते हैं, जिस प्रकाश में हमारी और आपकी सन्धि होगी। वह पथ प्रकाशमय कहलाया गया है। हम उस पथ को वास्तव में अपनाना चाहते हैं। हे भगवन्! यह संसार तो विडम्बित होता चला जा रहा हैं।

यहाँ नाना प्रकार के विवाद होते रहते हैं। हम तो आपके समीप आये हैं और आपकी दया चाहते हैं। (पच्चीसवाँ पुष्प, ६-१०-७२ ई.)

मातृ रूप परमात्मा

वह माता हमारा पालन-पोषण करने वाली है। उस माता की कितनी सुन्दर लोरियाँ हैं, जिनके पान करने के पश्चात् एक परमानन्द प्राप्त होने लगता है। वह जो रस है, जिसको पान करके प्रकृति अपने आँगन में भ्रमण कर रही है। जिस सोमरस को पान करके ही मानव का हृदय सोम बन जाता है। हे माता! वास्तव में तू कैसी माँ है? तेरा जो अनुकरण है, तेरी जो महत्ता हमारे शरीर में व्याप्त हो रही है, इस प्रकृति के कण-कण में व्याप्त है। हे माता ! तू सबको अपने आँगन में धारण करने वाली है। हम भी तेरी उस आनन्दमयी लोरियों का पान करना चाहते हैं, जिस आनन्द को पान करने के पश्चात् मेरा जीवन विभोर होता चला जायेगा। हे माता ! वह कौनसा समय आयेगा जब मैं अपने को अनुभव करूँगा कि मैं सौभाग्यशाली हूँ, मेरा जीवन अमृतमय बन गया है। सांसारिक माता अपने पुत्र को त्याग सकती है, परन्तु आत्मा की जो वह पवित्र माता है, जिसके द्वारा सब साधन प्राप्त होते हैं। वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, तथा संसार की सभी सम्पदा प्राप्त होती है, सब कुछ समर्पित कर देती है। उसी का वर्णन गायत्री छन्दों में किया गया है। उस माता का वर्णन मानव के अन्तरात्मा से होता है। (बाईसवाँ पुष्प, पृष्ठ-७५)

हमें माता के समक्ष अपने को समर्पित कर देना चाहिये क्योंकि जो अपने को समर्पित नहीं करता, वह संसार में न मानव कहलाता

है और न वह माता का पुत्र ही होता है। माता का पुत्र जब माता के अधीन होता है, तो क्षुधा से पीड़ित होने पर वह अपने को माता के समर्पित कर देता है, माता उसे अपनी गोद में धारण करके उसके उदर की पूर्ति कर देती है। उदरपर्ति करने वाली माता से बालक प्रसन्न रहता है तथा माता भी प्रसन्न रहती है। जैसे बाल्यकाल में हम माता के समीप रहते हैं, वैसे युवावस्था में हमें उस चैतन्य और ज्योतिष्मान माता को समर्पित कर देना चाहिये। उस आनन्दमय परमात्मा को वेदों में ममतामय कहा है, तथा माता के रूपों में परिणत किया है, उसी को हमें अपने को समर्पित कर देना चाहिये। जो मानव प्रभु के समर्पित होना चाहता है, वह सौभाग्यशाली है। अतः हमें सौभाग्यशाली बनना चाहिये तथा उस माँ की जो चेतना है, जो संसार को चेतनित करने वाली है, तथा जिसके गर्भ से इस संसार का जन्म होता है, उसकी उपासना करनी चाहिये। उस ममतामयी माता को दुर्गे, महाकाली, वैष्णवी आदि नामों से पुकारा जाता है। योगिनी बनकर रहने वाली माँ को दुर्गा कहा जाता है। (अट्ठारहवाँ पुष्प, १७-३-७२ ई.)

पूजा किसे कहते हैं?

मेरे प्यारे ! सदैव प्रत्येक मानव को विचारना चाहिये कि पूजा का अर्थ है उसका सदुपयोग करना। जैसे कोई मानव अग्नि की पूजा करना चाहता है, उसका सदुपयोग होना चाहिये। जैसे कोई मानव जल की पूजा करना चाहता है तो जल का सदुपयोग होना चाहिये, क्योंकि जल में प्राण है। वह नाना प्रकार के रसों को स्वादन कराता

रहता है। इसी प्रकार माता वसुन्धरा को सदुपयोग में लाना है तो उसके खाद्य और खनिज को जान लेना चाहिये। वह उसकी पूजा है, पूजा का अर्थ है कि जो उसका सदुपयोग करता है। (चालीसवाँ पुष्प, ९-१०-८१ ई.)

१२ द्वादश अध्याय-वेद-ईश्वरीय-ज्ञान है

वेद क्या है ?

वेद वह विद्या है जिसको सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ने वमन किया और ऋषियों ने उसका पान किया। उस विद्या के ज्ञान-विज्ञान से हमारी आत्मा का कल्याण होता है, राष्ट्र का निर्माण होता है और हम उसके विज्ञान से ऋषि परम्परा को स्थापित कर सकते हैं। (चौथा पुष्प, १८-४-६४ ई.)

महाराज अश्वपति ने महर्षि मुद्गल जी से पूछा कि वेदों को ईश्वरीय ज्ञान क्यों कहते हैं ?

महर्षि ने बताया क्योंकि वेदों में रूढ़ि नहीं होती, जहाँ रूढ़ि नहीं होती, वही ईश्वरीय ज्ञान होता है। क्योंकि ईश्वर में रूढ़ि नहीं होती, इसलिये उसके ज्ञान में भी रूढ़ि नहीं होती।

वेद को ईश्वरीय ज्ञान इसलिये कहा गया कि बुद्धिमान प्राणी विचार विनिमय करता हुआ ''नेति-नेति'' का उच्चारण कर देता है तो, यह ज्ञानरूढ़ि में परिणत नहीं हुआ करता।

रूढ़ि उसे कहते हैं, जिसमें अज्ञान होता है, जिसमें पूर्णता नहीं होती, जिसमें ज्ञान और विज्ञान की प्रतिभा ओत-प्रोत नहीं हो पाती। मानव केवल अज्ञान का आश्रय लेकर अपनी मानवता को नष्ट करना आरम्भ कर देते हैं।

जहाँ बुद्धिमान प्राणी होते हैं, वहाँ एक-दूसरे के विचारों में टिप्पणी होना बहुत अनिवार्य है। जहाँ टिप्पणियाँ, विचार-विनिमय,

अनुसन्धान और अन्वेषण होते हैं, एक-दूसरे में मिलान करने की क्षमता होती है, वहाँ व्यापकवाद होता है, वहाँ सुविचार होता है, वहाँ मानवता का संगठन होता है, वहाँ एक मानवता ओत-प्रोत रहती है, वहाँ किसी प्रकार का वाद-विवाद नहीं रहता।

रूढ़िवाद का कारण

जब यह अभिमान आ जाता है कि मेरे वाक्यों की पुष्टि नहीं हुई, तो वहाँ रूढ़िवाद छा जाता है। रूढ़िवाद घृणा का केन्द्र है, इसमें सङ्कुचित विचार होते हैं। जहाँ संकीर्ण विचार और घृणा होती है, वहाँ बुद्धि का माध्यम नष्ट-भ्रष्ट होता रहता है। (चौदहवाँ पुष्प, १२-८-७० ई.)

वेद किसी पोथी का नाम नहीं है। वेद नाम एक प्रकाश का है और उस प्रकाश का है, जो मानव हृदय के अन्धकार को विदीर्ण करने वाला है, तथा मानवीय हृदयों को पवित्र एवम् ऊँचा बनाने वाला है। (तेईसवाँ पुष्प, ११-३-७२ ई.)

वेद का ज्ञान सब लोक लोकान्तरों में है

वेद किसी पोथी का नाम नहीं। वेद नाम ज्ञान का है। परन्तु वेद उस ज्ञान को कहते हैं, जो पराज्ञान है। जिससे मानव का अन्तरात्मा पवित्र होता है, उसी को वेद रूपी प्रकाश कहते हैं। क्योंकि मानव के जीवन से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

मानव चाहे आस्तिक हो या नास्तिक, प्रकाश को सभी चाहते हैं। वेद नाम प्रकाश का है। अतः संसार में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं हो सकता, जो वेद को न मानता हो।

वेद का विकास देवताओं के द्वार से है। देवताओं का जो ज्ञान है, वह व्यापक ज्ञान होता है। वह किसी व्यक्ति या विशेष समाज की सम्पदा नहीं होती। प्रत्येक प्राणी चाहे पृथ्वी का हो, सूर्य-मण्डल का हो, चन्द्र-मण्डल का हो, शुक्र में हो, या मंगल में हो, नास्तिक हो या आस्तिक, प्रकाश चाहता है। अपने हृदय में और अन्तरात्मा में शान्ति चाहता है, और वह यह भी मानता है कि वह किसी का अपमान न करे।

इसीलिये कहा जा सकता है कि मानव का जीवन वेद रूपी प्रकाश से सुगठित है। जहाँ वेद रूपी प्रकाश नहीं होता वहाँ मानवता भी नहीं होती। हम वेद रूपी प्रकाश को अपनाकर संसार को ऊँचा बनाते हुए इस संसार सागर से पार हो जाते हैं। (ग्यारहवाँ पुष्प, २-८-६८ ई.)

मानव का जो ज्ञान होता है उसमें अल्पज्ञता होती है। परमात्मा का जो ज्ञान है, जिसे हम वैदिक प्रकाश कहते हैं वह नितान्त (अत्यधिक) और गम्भीर माना गया है, और अनन्तता में परिणत माना है। इसलिये हम वैदिक ज्ञान-विज्ञान को मापा नहीं करते हैं, वह मापा नहीं जाता। मानव में सीमितता रहती है। वह सर्वज्ञ की वस्तु को किस प्र्कार माप सकता है। इसीलिये हमारे ऋषि-मुनि, अनुसन्धानवेत्ता भी परमपिता परमात्मा को नितान्त (पूर्ण) कहते हैं और अन्त में 'नेति-नेति' का प्रतिपादन करने लगते हैं। (तेईसवाँ पुष्प, २८-७-७१ ई.)

परमात्मा की इस अनुपम सृष्टि में नाना प्रकार की विद्याएँ है।

मानव उन पर अनुसन्धान करता रहता है और अन्त में शान्त हो जाता है जैसे प्रभु अनन्त है, इसी प्रकार उसकी रचना भी अनन्त है। मानव के विचार भी अनन्त हैं परन्तु प्रभु की महत्ता से बहुत सूक्ष्म हैं। (नौवाँ पुष्प, १-३-६८ ई.)

सम्पूर्ण विद्याओं का मूल वेद है

वेद नाम प्रकाश का है, जो संसार को राष्ट्र की, ऋषिमण्डल की, माताओं की अज्ञानता को नष्ट करता है। ऐसी कोई विद्या नहीं जो वेद में न हो, भौतिक विज्ञान, शरीर विज्ञान सभी हैं। वेद विद्या को प्राप्त करना सहज नहीं है। इसके लिये परिश्रम तथा अनेकों कष्टों को सहन करने की शक्ति की आवश्यकता हैं, वेद-वाणी हमें विरक्त बनाती है। इससे मनुष्यमात्र से प्रेम हो जाता है।

वेद-वाणी यह नहीं कहती कि मानव एक-दूसरे के रक्त का पिपासु बने। वेद वाणी कहती है कि भौतिक और आध्यात्मिक विज्ञान को जानो और इस मन को छुटकारा मत दो। जब यह मन छुटकारा पायेगा, उस समय यह तुम्हारी मृत्यु का सामान करने लगेगा। (चौथा पुष्प, २१-४-६४ ई.)

वेदों का ऐसा भयंकर वन है, जिसमें रमण करने के पश्चात् मानव को कोई भी मार्ग प्राप्त नहीं होता। वेद में योग के क्षेत्र में भी वन ही प्रतीत होता है। गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास और राष्ट्र आदि के क्षेत्र में जाने पर भी ऐसा ही प्रतीत होता है, वेद का ज्ञान बड़ा सुन्दर और अनुपम है। ज्ञान के साथ उसमें विज्ञान की व्यवहृतियाँ भी ओत-प्रोत हैं। वेद में ज्ञान के साथ-साथ सम्पूर्ण विज्ञान भी है। नाना प्रकार

के यन्त्रों के निर्माण के विषय के अतिरिक्त वह विज्ञान भी है, जिससे भयंकर अग्नि शान्त हो जाती है। (नौवाँ पुष्प, २९-७-६६ ई.)

वेद का प्रत्येक मन्त्र तथा उसका शब्दार्थ 'ओ३म्' से बिन्धा है क्योंकि 'ओ३म्' ही प्रभु का मुख्य नाम है। (दूसरा पुष्प, २१-८-६२ ई.)

वेद उसी को कहते हैं, जिसमें परमात्मा के ज्ञान विज्ञान की आभा का हमें दिग्दर्शन होता है। अधिक सूक्ष्मता से विचारने तथा अनुसन्धान करने पर यह जगत विज्ञानमय दृष्टिपात आने लगता है क्योंकि इसका एक-एक कण परमात्मा के विज्ञान से पिरोया हुआ है। यह सम्पूर्ण जगत परमात्मा के ऋत् और सत् में पिरोया होने के कारण सृष्टि कहलाता है। (पन्द्रहवाँ पुष्प, २३-८-७१ ई.)

वेदान्त कहते हैं, वेद के रस को। जैसे अन्तरिक्ष को मन्थन करके रस लिया जाता है। गो नाम का पशु वनस्पतियों को धारण करके उनका मन्थन करके गोरस बनाता है।

गो नाम पृथ्वी का मन्थन करके भौतिक, वैज्ञानिक, खनिज पदार्थ तथा खाद्य पदार्थों को प्राप्त करता है, जो पृथ्वी का मधु कहलाता है।

गो नाम के पशु के गोरस से यजमान यज्ञ करता है, तथा माता अपने पुत्र को पिलाती है। इस गोरस का सम्बन्ध अग्नि, वायु, जल, अन्तरिक्ष, महतत्त्व तथा द्यु-लोक से होता है।

इसी प्रकार यह वेदान्त वेदों का मन्थन किया हुआ रस है। जो मानव उसके अनुसार चलता है वह चन्द्रयान, मंगलयान, ध्रुवयान आदि कुछ भी बना सकता है।

परन्तु परमात्मा के द्वार पर जाने का जो यन्त्र है, वह केवल वेदवाणी है। उसके मन्थन से प्राप्त वेदान्त रूपी गोरस को जो अपनाता है वह यन्त्र में विराजमान होकर परमात्मा के द्वार पर जा सकता है। (पन्द्रहवाँ पुष्प, २३-८-७१ ई.)

वेदों की रचना

कहा जाता है कि व्यास ने वेद को चार भागों में बनाया इसलिये उसका नाम वेद व्यास पड़ा। वेदव्यास नाम के ऋषि होते रहते हैं। जैसे द्वापर में पाण्डवों के पुरोहित का नाम वेदव्यास था जिन्होंने वेदान्त दर्शन का निर्माण किया।

रघु के काल में वेद-व्यास हुए। सतोयुग में महीन नाम के राजा के पुरोहित भी व्यास थे। (दूसरा पुष्प, २-१०-६४ ई.)

वेदों के सम्बन्ध में मुख्य विवाद तीन हैं :.

१. वेद ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए और वेद नाम की एक ही वस्तु है।

२. वेद चार हैं। चारों ऋषियों अग्नि, वायु, आदित्य और अँगिरा पर प्रकट हुए।

३. वेद ऋषियों के काव्य हैं।

ये तीन प्रकार के विवाद वेदों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हैं।

सर्व प्रथम तृतीय पक्ष को लेते हैं। इस विषय में यही कहना है कि वेद ऋषियों के काव्य नहीं हैं, क्योंकि इसमें सम्पन्न विद्या है। अग्नि विद्या है, विद्युत् विद्या है और सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान है।

अन्य शंका समाधान इस प्रकार है कि काव्य वह होता है जो एक ही आधार पर होता है। जैसे बाल्मीकि रामायण, इसमें इतिहास भी है। वेद कोई इतिहास नहीं है। जब इतिहास नहीं है तो उसको काव्य उच्चारण करना व्यर्थ है।

शंका : ऋषि परमात्मा को मानते थे। वेद में परमात्मा की प्रशंसा है, तो यह इतिहास हो गया।

समाधान : परमात्मा साकार नहीं, निराकार है, वेद में निराकार के गुणों का प्रतिपादन है। जिसमें रंग-रूप नहीं उसकी प्रशंसा है, तो उसे इतिहास नहीं कहा जा सकता। इतिहास में कोई क्रीड़ा होती है जैसे राजाओं का वर्णन है। इतिहास से काव्य बनते हैं। उनका यह उच्चारण करना ऐसा है, जैसे अन्धकार में सूक्ष्म सा प्रकाश। यदि वे सूर्य प्रकाश में पहुँचे, तो उनको विदित हो जाये कि उससे भी ऊँचा प्रकाश है, क्योंकि एक-एक वेद मन्त्र में विश्व का विज्ञान है। जैसे गो शब्द है, गो नाम पृथ्वी, इसमें पृथ्वी का विज्ञान आ गया। गो नाम सूर्य की किरण का, इसमें सूर्य विज्ञान आ गया। गो नाम आत्मा की इन्द्रियों का, इसमें आत्म-विज्ञान है। आत्मा के विज्ञान को जानकर शरीर-विज्ञान आ गया। मनुष्य शरीर के विज्ञान को मन्थन करने से आयुर्वेद का सिद्धान्त और माता का सिद्धान्त आ गया। गो दूध देने वाले पशु को भी कहते हैं, इससे पशु विज्ञान आ गया। इनके विवेचन का तात्पर्य यह है कि जो कुछ वैज्ञानिकों ने जाना है, वह वेदों में पहले से ही है। अतः उन्हें काव्य कहना व्यर्थ है।

शंका : केवल गो शब्द ही क्यों न रख दिया जाये।

समाधान : गो शब्द का उदाहरण देने का अभिप्राय तो यह दिखाना है कि उसमें इतनी व्यवहृतियाँ और इतने वाक्य निकल सकते हैं। वेद तो एक शृङ्खला है, जो परमात्मा के ज्ञान-विज्ञान से भरी हुई है। एक-एक वेद मन्त्र में इसी प्रकार का विज्ञान है, सूर्य किरणों का वर्णन, नाना प्रकार के यन्त्रों का वर्णन, पृथ्वी के विज्ञान का वर्णन, वायु का, लोक-लोकान्तरों के विज्ञान का, ज्ञान का वर्णन है।

प्रथम और द्वितीय पक्ष दोनों यथार्थ हैं। वेद नाम प्रकाश का है जिसमें नाना प्रकाश हों, वही वेद है। वेद वह प्रकाश है जो मानव के अन्तःकरण के अन्धकार को नष्ट करने वाला है। ब्रह्मा नाम परमात्मा का है, वेद ब्रह्मा की वाणी है। वह निराकार से साकार वाणी इस प्रकार आयी कि चारों ऋषियों १. अग्नि, २. वायु, ३. आदित्य और ४. अंगिरा को ज्ञान था। परमात्मा की सहायता पाकर यह परमात्मा का ज्ञान इनके द्वारा प्रकट हो गया। इस प्रकार यह ब्रह्मा से आया, ऋषि-मुनियों के द्वारा आकर पोथी-रूप में बन गया। ये चार वेद कहलाते हैं।

वेद एक है, इसके चार काण्ड हैं। १. ज्ञानकाण्ड, २. कर्मकाण्ड, ३. उपासना काण्ड तथा ४. विज्ञान काण्ड। ये चारों काण्ड चारों ऋषियों द्वारा प्रकट हुए। इस प्रकार यह पक्ष भी यथार्थ है।

वेद उन्हीं चार ऋषियों पर क्यों प्रकट हुए ? इसका उत्तर यह है कि ये चारों ऋषि इससे पिछली सृष्टि में भी थे, इनके अन्त करण में वेदों का ज्ञान था। सृष्टि के आदि में परमात्मा की सहायता पा करके

इस जन्म में वह ज्ञान प्रकट हो गया। इससे संसार में इसका विकास होता है। इन चारों वेदों की विभिन्न ऋषियों द्वारा ११२७ संहिताएँ बन गयीं। जिस ऋषि ने जिस मन्त्र पर अनुसन्धान किया, उसी की शाखा बन गयी। आगे चलकर संसार में इस वेद-वाणी की कुछ रूप-रेखा विभक्त हो गयी। इसमें से और नाना प्रकार की साधारण विद्याएँ उत्पन्न हो गयीं।

वेद वाणी अपरिवर्तित है

वेद वाणी में कभी परिवर्तन न होने का कारण यह है कि इसका प्रत्येक मन्त्र 'ओ३म्' रूपी धागे से पिरोया है और उसका 'ओ३म्' से सम्बन्ध विच्छेद नहीं होता। संसार की जितनी भाषाएँ हैं वे सब वेद मन्त्रों से सम्बन्धित हैं। जो भाषाएँ वेद रूपी धागे से पृथक् हो जाती हैं, उनका परिवर्तन होता रहता है। कभी अधिक विस्तृत हो जाती हैं, कभी सूक्ष्म बीज रूप में आ जाती हैं। इन भाषाओं में परिवर्तन होता रहता है। एक दूसरे की भाषा का मिश्रण होकर उनका स्वाभाविक रूप समाप्त होता रहता है।

यह स्थिति इस प्रकार है कि एक माला तभी तक है, जब तक उसके मनके पिराये हुए हैं। मनकों का धागों से सम्बन्ध न रहने पर वे बिखर जाते हैं, इसी प्रकार संसार की अनेकों विद्याएँ तथा भाषाएँ 'ओ३म्' से सम्बन्ध न रहने के कारण बिखर जाती हैं। किसी काल में उनका प्रचार अधिक हो जाता है, किसी में ये बीज रूप में रह जाती हैं। परन्तु रहती हैं किसी न किसी रूप में अवश्य।

प्रलयकाल में यह वेद-वाणी परमात्मा के द्वारा चली जाती है

अर्थात् परमात्मा में लीन हो जाती है। वेद-वाणी में परमात्मा का विज्ञान है। जिन तत्त्वों को हम जानते हैं वे प्रलयकाल में प्रकृति स्वरूप बन गये और जो आत्माएँ मोक्ष के निकट होती हैं, उनमें वेदों का ज्ञान ओत-प्रोत रहता है। प्रलयकाल में संसारी जीवों का वेद ज्ञान भी परमात्मा में रमण कर जाता है। इस प्रकार इसके विभाग हो जाते हैं, विभाग होकर यह वाणी रहती है, किन्तु बिखरी हुई रहती है।

जिस प्रकार मनुष्य के कर्म अन्तःकरण में अंकित हो जाते हैं और उन्हीं के आधार पर आगे जन्म लेता है, इसी प्रकार यह वेद-वाणी परमात्मा के 'महत्' में अंकित हो जाती है। परमात्मा सृष्टि को जब पुनः रचता है तो यह उसी 'महत्' के साथ-साथ ऋषि-मुनियों के द्वारा परमात्मा की सहायता से पुनः प्रकट हो जाता है। (आठवाँ पुष्प, अप्रैल-१९६५ ई.)

वेद-ज्ञान अमर है

वेद-ज्ञान अरबों-वर्षों से भी अधिक पहले ऋषियों की परम्परा से प्रकाशित हुआ था। (पाँचवाँ पुष्प, २०-१०-६४ ई.)

वेद का ज्ञान न कहीं से आता है और न कहीं जाता है। जहाँ सृष्टि के आदि में, प्रारम्भ में प्रभु का सन्निधान होता है, वहीं वे आत्माएँ आ जाती हैं जिनको पूर्व से वेदों का ज्ञान था। जैसे वेद-पाठी है, वह निद्रा में भी वेद-पाठी है, जाग्रत होने पर भी। इसी प्रकार वेद का ज्ञान सदैव रहता है, वह कहीं से न आता है और न कही जाता है। आत्मा में जितनी जिसमें शक्ति होती है, उतना उसमें

ज्ञान होता है और जितनी महत्ता होती है, वह प्रभु के गर्भ में होती है। (नौवाँ पुष्प, २९-७-६७ ई.)

कोई काल ऐसा न हुआ जिसमें यह न हो। प्रत्येक काल में यह विद्या होती है। किसी काल में ऊँचे और दार्शनिक व्यक्ति होते हैं, किसी में कम होते हैं, किसी में अधिक, यह होता है। (तीसरा पुष्प, ७-४-६२ ई.)

गुरु ब्रह्मा जी, गरुड़, लोमश, काकभुशुण्ड, नारद आदि ने इस मत की पुष्टि की है कि जिन ऋषियों पर परमात्मा की अनुपम कृपा होती है, उनको वेदों का ज्ञान प्रकट होता है। जो ऋषि संसार में मुक्ति का प्रयत्न करते हैं और प्रयत्न करते-करते उन्हें वेदों का ज्ञान होता है, और मुक्ति का सूक्ष्म समय रहते हुए, प्रलय हो जाती है तो उन आत्माओं को वेदों का ज्ञान स्वतः रहता है।

जब सृष्टि प्रारम्भ होती है, तो इन ऋषियों को विशेष सत्ताएँ प्राप्त हो करके वेदों का ज्ञान प्रकट हो जाता है और संसार में यह प्रणाली चलने लगती है। इस प्रणाली से ज्ञानी और विज्ञानी अपने को ऊँचा बनाया करते हैं। (चौथा पुष्प, १८-४-७४ ई.)

वेदों की रचना मानव नहीं कर सकता

प्रत्येक वेद-मन्त्र में ज्ञान और विज्ञान भरा हुआ है। ऐसे मन्त्रों को कोई भी मनगढ़न्त नहीं बना सकता, क्योंकि प्रथम तो कोई सूक्ष्मता या न्यूनता नहीं।

द्वितीय यदि कोई बनाता भी है तो उसके आँगन (मस्तिष्क) में जाकर न तो उसका छन्द ही बनता है, न कोई सार मिलता है, न

कोई सन्धि मिलती है। इसीलिये वह असफल हो जाता है। (सातवाँ पुष्प, २२-८-६२ ई.)

वेदों का विस्तार

वेदों की त्रयी-विद्या की उत्पत्ति सृष्टि के आरम्भ में तीन देवताओं से मानी जाती है। इन देवताओं का कारण भी ब्रह्म ही है। (नौवाँ पुष्प, १-३-६८ ई.)

यह कहा जाता है कि सृष्टि आरम्भ में देवताओं का मन्थन किया तो त्रिविद्या१-ज्ञान, २-कर्म और ३-उपासना का जन्म हुआ। इसमें ब्रह्माण्ड का ज्ञान-विज्ञान ओत-प्रोत रहता है। चतुर्थ-काण्ड, विज्ञान-काण्ड कहा जाता है।

१-महर्षि-अग्नि, २-महर्षि-वायु, ३-महर्षि-आदित्य और ४-महर्षि-अंगिरा इन चार ऋषियों द्वारा इस विद्या का आगमन हुआ। (नौवाँ पुष्प, २६-१०- ६७ ई.)

वेद की शाखाओं की रचना ऋषियों द्वारा

सतयुग में चार वेद थे। आगे चलकर इनकी ११२७ (ग्यारह सौ सत्ताईस) संहिताएँ बन गयीं। जिस ऋषि ने वेद के जिस एक विषय को लिया उसी की संहिता बन गयी। (छठा पुष्प, १५-५-६२ ई.)

चारों वेदों की ११२७ (ग्यारह सौ सत्ताईस) संहिताएँ हैं। जैसे १. पिप्पलाद-संहिता २. रेवक संहिता ३. कात्यायनी संहिता, ४. दालभ्य-सँहिता, ५. श्रृंगकेतु संहिता, ६. गौतम-संहिता, ७. कन्या भू-संहिता, ८. पणपेतु-संहिता, ९. शांगति-संहिता, १०. भृगु-संहिता, ११. सोमकेतु-संहिता और १२. ब्रह्माणी संहिता आदि।

श्रृंगकेतु-संहिता में बुद्धि की नाना प्रकार की रश्मियों तथा ज्ञान-विज्ञान का विवरण है। (नौवाँ पुष्प, २६-१०-६७ ई.)

महर्षि श्रृंगी जी महाराज ने त्रेता युग में पुत्रेष्टि यज्ञ पर जो संहिता लिखी थी, उसको 'श्रृंगकेतु-संहिता' कहते हैं। (छठा पुष्प, १५-५-६२ ई.)

हिमालय में शाखा ग्रन्थों की सम्भावना

उत्तराखण्ड में पर्वतों में अब भी ऐसे योगी, ऋषि और महर्षि हैं, जिनके पास भोज-पत्रों पर सभी संहिताएँ हैं। वे ऋषि-महर्षि तो इसलिये शान्त बैठे हैं कि संसार में जायेंगे तो संसार के नाना प्रभावों में पड़ करके हमारा जीवन भी शान्त हो जायेगा और वेद की संहिताओं का भी इतना महत्व नहीं रहेगा। वे यहाँ इसलिये नहीं आते, कि जब ऐसी-ऐसी आत्माओं को यहाँ कष्ट दिया जाता है, तो वे क्यों आयें? (छठा पुष्प, १५-५-६२ ई.)

वेदों की भाषा

वेद की भाषा को प्राकृतिक भाषा (वैदिक-भाषा) कहते हैं जो आदि काल में परब्रह्म की प्रेरणा से ऋषियों द्वारा प्रकाश में आयी। ऋषियों को जो प्रेरणा मिली, वही लिपिबद्ध उसी प्रकार चली आती है।

इससे नीचे की जो श्रृङ्खला है, उसको हम संस्कृत कहते हैं। आगे चलकर ऋषि-मुनि उसका सुन्दर प्रतिपादन करते हैं।

रावण-भाष्य में संस्कृत का प्रतिपादन किया गया।

संसार में जितनी वाणियाँ होती हैं उन सब का सम्बन्ध संस्कृत

से होता है। सभी भाष्य संस्कृत से सम्बन्धित होते हैं। रावण ने प्राकृतिक भाषा वेद-वाणी का भाष्य किया था। उसके पश्चात् आगे चलकर संस्कृत लिपिबद्ध मानी जाती है। लिपिबद्ध वह किसी काल में किसी प्रकार होती है।

देवनागरी का आरम्भ

पुरातन काल मे जो मनुष्य अज्ञान के कारण और विद्या में पारंगत न होने के कारण संस्कृत का उच्चारण नहीं कर सकता था, वह देव नागरी का प्रयोग करता था।

आदि-ब्रह्मा से वैदिक स्वरों का प्रकाशन

सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा हुए, जो प्रजापति कहे जाते थे। उन्होंने अपने को जाना, तथा जान करके उस प्रणाली को जाना, जिस यौगिक प्रणाली से स्वरों को जाना जाता है।

हमारे शरीर में बहत्तर करोड़ बहत्तर लाख दस हजार दो सौ दो (७२,७२,१०,२०२) नाड़ियाँ हैं। उन सब का सम्बन्ध उदर-घ्राण आदि से होता हुआ ब्रह्मरन्ध्र से होता है। जिसको लघु-मस्तिष्क कहते हैं। जब मानव योगाभ्यास करता है, तो अपनी मानसिकता के ऊँचे शिखर पर पहुँच जाता है, तब उसकी मानसिकता पवित्र बन जाती है। लघु-मस्तिष्क में वाक्य उत्पन्न होते हैं।

शिव के डमरू से वर्णोत्पत्ति कपोल-कल्पित

यह कहा जाता है कि शिव ने डमरू बजाया उससे उत्पन्न ध्वनि को पाणिनि ने एकत्रित करके व्याकरण की उत्पत्ति कर दी। किन्तु पाणिनि तो द्वापर में हुए हैं।

सारे अक्षरों का विकास 'ओ३म्' से

प्रश्न : यह है कि आदि काल में अक्षरों का विकास कैसे हुआ।

उत्तर : सब अक्षरों का विकास 'ओ३म्' से होता है, जो परमात्मा का भी मुख्य नाम है। प्रत्येक वेद-मन्त्र 'ओ३म्' रूपी धागे से पिरोया रहता है, जैसे माला। इसका कारण यह है, कि जितने शब्द वेद मन्त्र में होते हैं, उन सबका विकास ओ३म्' से होता है। जैसे अ़उ से 'ओ' बनता है। उसको इस प्रकार न ले करके उसकी मात्र ली जाये तो वह और रूपों में अक्षर बन जाता है। परन्तु वह 'ओ३म्' की ही शाखा रूप होता है। जितने अक्षर हैं वे सब 'ओ३म्' रूपी धागे से पिरोये रहते है। उन्ही में उनका सम्बन्ध होता है।

वेद-वाणी संस्कृत का सम्बन्ध सभी भाषाओं से होता है, क्योंकि वेद-मन्त्र का मिलान 'ओ३म्' से रहता है। ओ३म् से अक्षरों का निकास होता है, और जिन अक्षरों का निकास होता है वे वेद-मन्त्रो में विराजमान हैं। इन अक्षरों की श्रृङ्खला का नाम वेद मन्त्र मान जाता है। उन्हीं अक्षरों का संकलन जब मात्राओं में कटिवद्ध कर देते हैं, तो वह एक वेद की ऋचा बन जाती हैं। परन्तु उस वेद-ऋचा का सम्बन्ध मूल से उसी प्रकार रहता है, जैसे वृक्ष का सम्बन्ध जड़ (मूल) से होता है। 'ओ३म्' जड़ (मूल) है तथा वेद मन्त्र और ऋचाएँ उसकी शाखा मानी जाती हैं।

वेद-वाणी अपरिवर्तित और अखण्ड क्यों है ?

हमारे मस्तिष्क में १-त्रिकट, २-जटत तथा ३-सुभांग नाम की तीन नाडियाँ होती हैं। योगी इसको जानते हैं। जब वे योगाभ्यास में

जाते हैं, तो इन तीन नाड़ियों का एक चक्र सा होता है। जब प्रकृति और प्राणों का इन तीन नाड़ियों से मिलान होता है तो नाड़ी अपनी परिधि त्यागकर दूसरी परिधि में परिणत हो जाती है। इस परिवर्तित परिधि में इनका आकार 'ओ३म्' का हो जाता है। यह सम्बन्ध होने पर नाड़ियाँ प्राण और आत्मा की सहायता से आपस में मिलान करती है।

मिलान होने पर उनमें से एक ध्वनि होती है। उस ध्वनि को जो जानता है, वह व्याकरण में पारंगत माना जाता है।

हमारे ऋषियों ने वेदमन्त्रों की ध्वनि को जाना और वेदमन्त्रों को एकत्रित किया। वेद को परमात्मा का ज्ञान उच्चारण करने का कारण यह है कि संसार की भाषा परिवर्तित होती रहती है। परन्तु वेद का वाक्य परिवर्तित नहीं होता। वह अखण्ड रहता है क्योंकि इसका सम्बन्ध 'ओ३म्' से रहता है।

अन्य भाषाओं का सम्बन्ध जड़ (मूल) से न होने के कारण उनमें परिवर्तन आता रहता है। 'ओ३म्' से इसका सम्बन्ध सूक्ष्म होता है।

इससे हमें यह जान लेना चाहिये कि जिस मानव का सम्बन्ध परमपिता परमात्मा से रहता है, उसका जीवन अग्रगण्य होता है और जिसका सम्बन्ध उससे छूट जाता है, उतना ही वह परिवर्तनशील बनता रहता है।(बारहवाँ पुष्प, ३-१०-६४ ई.)

सारी भाषाओं का मूल वैदिक भाषा है

प्रत्येक भाषा अङ्कुर रूप में सदा रहती है। यदि कोई भाषा अङ्कुर रूप में न रहे तो संसार में कोई व्यक्ति उत्पन्न नहीं हुआ, जिसने

किसी नवीन भाषा को संसार में उत्पन्न कर दिया हो। इसका अभिप्राय यह है कि जिस वाणी का भी विकास होता है, उसका अङ्कुर रूप से उस संस्कृत से मिलान रहता है। जैसे गंगा में पर्वतों व नाना कन्दराओं से स्वच्छ व निर्मल जल आता है किन्तु उसमें रज भी सम्मिलित रहता है। यदि वह न हो तो कभी भी वह जल रजस्वला नहीं बन सकता।

जिस प्रकार शरीर त्यागने पर कर्मेन्द्रियों का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर के साथ रहता है इसी प्रकार इस देवनागरी का सम्बन्ध भी संस्कृत के साथ रहता है।

जैसे सूर्य की किरणें यज्ञ में पड़कर सुगन्धि लेकर जाती हैं तथा सर्प योनि पर पड़कर विष लेकर जाती हैं, उसी प्रकार वेद-वाणी का प्रयोजन है। वेद वाणी से जैसी बुद्धि वाला होता है, वैसे ही उसकी बुद्धि विकासदायक होती है।

जहाँ राष्ट्र की जैसी वाणी होती है, उन्हीं वेद-मन्त्रों से वह उसी प्रकार विकास कर लेता है।

वाणी का कण्ठ से मिलान होता है। इसलिये उसी प्रकार की वाणी उसके द्वारा आकर ओत-प्रोत हो जाती है।

सङ्क्षेप में सब भाषाएँ अङ्कुर रूप में रहती हैं तथा उसका मिलान उच्च संस्कृत से रहता है। (दूसरा पुष्प, २-१०-६४ ई.)

वेद-मन्त्रों का अर्थ करने की पद्धति

एक वेद का मन्त्र है, उसका दो प्रकार का अर्थ माना गया है। एक को हमारे यहाँ रूढ़ि कहते हैं और द्वितीय को यौगिक कहते हैं।

१. रूढ़ि उसे कहते हैं, जिसमें मानवीय साधारण पद्धति होती है। मानव का विचार, मानव का रहन-सहन, मानव की प्रतिभा, उसको रूढ़ि कहते हैं। वेद से उसका सम्बन्ध रहता है।

२. यौगिक उसे कहा जाता है कि जहाँ प्राण-तत्त्व क्या है ? मनस-तत्त्व क्या है? मन क्या कार्य करता है? प्राण क्या कार्य करता है ? (सत्ताईसवाँ पुष्प, २-५-७६ ई.)

व्याकरण का निर्माण

सृष्टि का निर्माण तो विश्वकर्मा प्रभु ने किया, परन्तु व्याकरण की महत्ता सत्संग से हुई। हमारे ब्रह्मरन्ध्र में, मस्तिष्क में जहाँ त्रिवेणी का स्थान है, वहाँ नाना शब्दार्थों का कोष माना जाता है। उस कोष को लेकर योगियों ने व्याकरण का निर्माण किया।

आदि ब्रह्मा ने अपने को जाना, शरीर के पाँच तत्त्वों को जाना। पाँचों प्राणों का सम्बन्ध करके, वे पाँचों भौतिक जो कार्य कर रहे हैं, उनमें नाना प्रकार की ध्वनि होती है। उस ध्वनि को जानकर लेखनी लिखी, उससे ही व्याकरण तथा शब्दार्थों का विशेष ज्ञान हुआ। (सातवाँ पुष्प, २२-८-६२ ई.)

प्रश्न : वेद-वाणी क्रमबद्ध क्यों रहती है? क्या यह प्राकृतिक है या क्रमबद्ध करने का कोई साधन होता है?

उत्तर : सृष्टि के आरम्भ में आदि ब्रह्मा जी ने योग से व्याकरण को जाना। उन्होंने योगाभ्यास किया। १. प्राण, २. अपान, ३. व्यान, ४. उदान, ५. समान, इन पाँचों प्राणों को जानकर एकाग्र किया और उन्हें ब्रह्मरन्ध्र में ले जाया गया, जहाँ एक चक्र होता है। उस चक्र का

विस्तार रूप हुआ। प्रत्येक मानव के मस्तिष्क में एक अनहद नाम का नाद बाजा होता है। एक नाद सिंह-नाद, रिद्धि-नाद, डमरू-नाद होता है। वहाँ नृत्य भी होता है। इस नाद को जानकर हम वैज्ञानिक बनते हैं। इससे नाना प्रकार की व्याहृतियों को जानने वाले और अपनी मानवता का विकास करने वाले बनते हैं। अनहद से जो नाना प्रकार के स्वर चलते हैं, ब्रह्मा जी ने उनको जाना। उन स्वरों को जानकर अक्षरों को जाना। इन अक्षरों से प्रत्येक वेदमन्त्र क्रमबद्ध होते चले गये। ये वेदमन्त्र ऋचाएँ कहलाती हैं। उन्हीं शब्दार्थों से संसार की भाषाओं का विकास हुआ। वे ही शब्दार्थ परम्पराओं में चले आ रहे हैं। उन्हीं शब्दों को मनुष्य अपनी कल्पना से कुछ परिवर्तन करता रहता है। इस प्रकार से नाना प्रकार की भाषाओं का विकास हो जाता है। इस प्रकार यह व्याकरण सृष्टि के आदि से चला आ रहा है। (पाँचवाँ पुष्प, २१-१०-६४ ई.)

ध्वनियों के प्रादुर्भाव का यथार्थ स्वरूप

सृष्टि के आदि में व्याकरण और अक्षरों का बोध हुआ था। इसको लगभग एक अरब छियाणवें करोड़ आठ लाख त्रेपन हजार उनासीवाँ (१९६०८५३०७९) वर्ष चल रहा है जब ब्रह्मा ने अनहद नाद को जाना था। (दूसरा पुष्प, २-१०-६४ ई.)

ऐसा कहा जाता है, "महाराजा शिव ने डमरू बजाया, पार्वती ने गाना गाया। उस डमरू से जो ध्वनि हुई, उससे महर्षि पाणिनि के व्याकरण का विकास हुआ।"

यदि इस वाक्य को साधारण रूप में लिया जाये तो इसका

ध्वनि से कोई सम्बन्ध नहीं, इसको गम्भीरता से विचारने पर यह मिलता है कि शिव नाम परमात्मा का है, पार्वती नाम प्रकृति का है। जब शिव ने इस सृष्टि का प्रादुर्भाव किया, संकलन हुआ, उस समय भगवान् शिव ने प्राण-रूपी डमरू बजाया जिससे इस प्रकृति में चेतना आ गयी। यह प्रकृति ऊँचे स्वरों (रूपों) में गान गाने लगी। इससे लोक-लोकान्तरों का विकास हो गया।

इसके पश्चात् जब शिव और पार्वती ने गान गाया तो ध्वनि उत्पन्न हो गयी। परन्तु इन ध्वनियों को जानने वाला कोई योगी ही हो सकता है। उस काल के आदि ब्रह्मा ने इन सबको जाना।

डमरू की ध्वनि का यथार्थ स्वरूप

उस प्रकृति में से महत् के द्वारा प्राण-रूपी डमरू की जो ध्वनि थी, जो मानव के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में जाकर जानी जाती है, उन ध्वनियों का नाम ही यहाँ संसार में विद्या का विकास माना जाता है। इस प्रकृति में सब प्रकार का संकलन रहता है। जब महत् का मिलान होता है तो उसमें अङ्कुर रूप में सबका विकास रहता है। अन्तरिक्ष में समस्त विद्याएँ एवम् वाणियाँ रमण करती रहती हैं। जब इच्छा हो उस वाणी में वाक्य उच्चारण करने लगो और उसी वाणी में अपने विचारों का प्रतिपादन करने लगो।

इस प्रकार जो यह कहता है कि देवनागरी आज आयी या हजारों वर्षों से आयी है, यह वार्ता एक स्वप्नवत् है, यह यथार्थ नहीं। आगे चलकर हमें प्रकृति के प्रत्येक अङ्कुर को जानना चाहिये। यह वेद से ही जाना जा सकता है। (दूसरा पुष्प, २-१०-६४ ई.)

आदि ब्रह्मा से लिपि का आरम्भ और विकास

डमरू की ध्वनि को ब्रह्मा ने जाना, पाणिनी ने नहीं। 'पाणिनी' नाम के ऋषि भी हुए, किन्तु ब्रह्मा के अनुसार पाणिनी उस महान् आत्मा को कहते हैं, जो शव्दों को लेखनी से लिखने वाला होता है। आदि ब्रह्मा ने लेखनी से वेदों का वह विशाल ज्ञान कराया। वह लेखनी लिखी जिसको पा करके हम अपने जीवन में अनुभव करते हैं, कि हम भी अपने जीवन को व्यापक एवम् उन्नत बना सकते हैं। परमपिता परमात्मा की असीम कृपा से ब्रह्मा ने जिस वाक्य का प्रसार किया, उसका कोई भी व्याक्ति संशोधन नहीं कर सकता। जिसने पूर्णता को पा लिया वह कोई अपूर्ण वाक्य नियुक्त नहीं करता। (नौवाँपुष्प,२२-८-६२)

ब्रह्मा के व्याकरण तथा पाणिनी के व्याकरण में भिन्नता है। पाणिनी द्वापर में हुए, परन्तु वेदों का उच्चारण तथा उसकी प्रतिक्रिया अरबों वर्षों से चली आ रही है। इन सब पर विचार करना चाहिये। (चौथा पुष्प, २८-७-६३ ई.)

पाणिनी का काल कोई महाभारत के कुछ पूर्व का मानते हैं तथा कुछ बाद का। (दूसरा पुष्प, २-१०-६४ ई.)

महर्षि पाणिनी ने व्याकरण को कुछ सरल रूपों में लिया है, उन्होंने अक्षरों का वर्णन करते हुए भिन्न-भिन्न रूपों में इसका प्रतिपादन किया है, उन्होंने चौदह सूत्रों को अपने योग द्वारा प्रकृति के महान् तत्त्वों से या डमरू से, किसी प्रकार स्वीकार कर लिया। परन्तु हमें यह स्वीकार करना चाहिये कि शिव नाम परमात्मा का, पार्वती

नाम प्रकृति का तथा डमरू नाम महत् का है। शिव ने डमरू बजाया तो संसार रच गया।(पाँचवाँ पुष्प, २१-१०-६४ ई.)

आदि-ब्रह्मा ने व्याकरण रचा

आज का वेद पाठी पाणिनी के व्याकरण के आधार पर ही वेदों की यथार्थता को आँकता है, जो उचित नहीं। प्रथम व्याकरण तो ब्रह्मा ने बनाया था। ऋषि दयानन्द ने जो खोज करके प्रस्तुत किया वह यथार्थ है, उसको अपनाना चाहिये। (छठा पुष्प, १५-५-६२ ई.)

जब मानव वैदिक प्रकाश को, वैदिक ज्ञान को, वैदिक ऋचा को, अपने हृदय में चिन्तन करता हुआ हृदयग्राही बना लेता है, उस समय उसको मृगराजों का भी भय नहीं होता। परन्तु जब तक अक्षरों का बोधि होता है, अक्षरों को जानता रहता है, वैयाकरणी ब्राह्मण होता है, व्याकरण को जानने वाला पण्डित होता है। परन्तु व्याकरण का शोधन तब तक नहीं होता, जब तक ब्रह्मरन्ध्र में जो भ्रिंकत अनहद ध्वनि (अनाहत ध्वनि) होती है, उस ध्वनि का और बाह्य-व्याकरण दोनों का मिलान नहीं होता तब तक मानव निर्भय नहीं होता। उसके द्वारा वह पवित्रता नहीं आती, जो वह लाना चाहता है। (तेईसवाँ पुष्प, २९-७-७१ ई.)

वेद का विषय

वेद में क्या है? इस विषय पर अनेकों ऋषियों जैसे मुद्गल, दधीचि, जमदग्नि, भारद्वाज आदि ने अपने जीवन भर अनुसन्धान में लगा दिये। उन्होंने कुछ टिप्पणियाँ दी हैं। (सोलहवाँ पुष्प, १-८-७० ई.)

परमात्मा ने वेद ज्ञान को आत्मा के लिये उत्पन्न किया और कहा है कि हे आत्मा ! तू संसार में चल और ऊँचा कार्य कर, तू प्रकाशमान बन। जब तू प्रकाशमान हो जायेगा, मेरे में लय हो जायेगा, तो मुझको प्राप्त हो करके दुःखों से छूट जायेगा। जैसे मैं शेषनाग की शय्या पर स्थिर हो रहा हूँ, तू भी शेषनाग की शय्या पर स्थिर हो जायेगा तथा लक्ष्मी तेरे चरणों में ओत-प्रोत हो जायेगी।(सातवाँ पुष्प, १२-७-६२ ई.)

वेद में चारित्रिक और सामाजिक शिक्षा

वेद में कोई भी ऐसा शब्द नहीं है, जिसमें मानव-समाज, राष्ट्रवाद तथा चरित्र का निर्माण न होता हो। वेद सर्वप्रथम चरित्र की घोषणा करता है, उसके पश्चात सामाजिक जीवन की। (इक्कीसवाँ पुष्प, पृष्ठ-६६)

दैवी आपदाओं का मूल कारण

वेद कहता है कि किसी की वेदना को जानो। प्रकृति की वेदना, समुद्रों की वेदना, महापुरुषों की वेदना, प्राणियों की वेदना, आदि ये सब जानने के विषय हैं।

जब कोई मानव प्राणियों को नष्ट करते समय उनकी वेदना को नहीं जान सकता, तो वह इस प्रकृति की वेदना को किस प्रकार जान सकता है ? यही कारण है कि दैविक आपदाओं, अनावृष्टि, अतिवृष्टि आदि से संसार पीड़ित है। (छठा पुष्प, १-९-६६ ई.)

वेद में कोई ऐसी विद्या नहीं कहीं गयी है जो अव्यवहारिक हो। परमात्मा ने वेदों में सब विद्याओं का प्रसार किया है जिससे मानव व

संसार तथा लोक लोकान्तर वासियों के जीवन का हर प्रकार से विकास हो सके। (प्रथम पुष्प, ६-४-६२ ई.)

जीवन को ज्योतिष्मान बनाओ

जिस प्रकार वट-वृक्ष का एक बीज उपजकर विशाल वृक्ष बन जाता है, इसी प्रकार वेद का एक एक मन्त्र वट-वृक्ष के बीज के समान है, उसमें सभी विद्याएँ हैं। हम उसे अन्तःकरण में धारण करके, जब अपने जीवन को उसके अनुकूल बनाते हैं, तो वह अन्तःकरण में उपजता है और हमारा हृदय विशाल बन जाता है। वह वेदमन्त्र वेद की ज्ञानमय अग्नि का अङ्कुर अग्नि बन करके, उस विशाल अग्नि से हमारा मिलान करा देती है, जहाँ विशाल अग्नि में रमण करके हम अग्नि स्वरूप बन जाते हैं। हम वेद की एक व्यवहृति (जिसका आचरण किया गया हो, आचरित) को अपने में धारण करके सम्पन्न वेद के ज्ञाता बन सकते हैं। हमें अग्नि बनना चाहिये। हम अपने मानवत्व को विकासदायक बनायें, अग्निमय ज्योति बनायें। जब हम मानव के लिये, राष्ट्रीयता के लिये तथा योगित्व के लिये अग्निमय ज्योति को धारण कर लेते हैं, मानवमात्र हमारे लिये लाभदायक हो जाता है। (दूसरा पुष्प, २-८-६४ ई.)

शरीर की वाहक नाड़ियों का सम्बन्ध सर्व लोक-लोकान्तरों से है

वेद वाणी में मानवीय विज्ञान तथा प्रकृति का भी विज्ञान है। इसको जानने के लिये मानव सदैव लालायित रहता है। इसका कारण यह है कि मानव के शरीर में सूक्ष्म-सूक्ष्म वाहक नाड़ियाँ होती हैं, जिनसे सूक्ष्म-सूक्ष्म धाराओं का जन्म होता है। उन धाराओं का

सम्बन्ध प्रकृति अथवा वसुन्धरा के गर्भ में सर्वजगत तथा लोक लोकान्तर आ जाते हैं। इस प्रकार वाहक नाड़ियों का सम्बन्ध सर्व लोक लोकान्तरों से होता है। (बीसवाँ पुष्प, २९-३-७३ ई.)

मानव जीवन की उन्नति मात्र वैदिक ज्ञान से

वेद में परमात्मा के ज्ञान विज्ञान रूपी विधि से निर्मित वह योजना छिपी है जो मानव कल्याण के लिये लगभग पौने दो अरब वर्ष पूर्व (आरम्भ सृष्टि के आदि काल में) बनायी गयी थी। मानव जीवन को उच्च बनाने के लिये उस योजना को जानना आवश्यक है। वेद ईश्वरीय ज्ञान है, आत्मा परमात्मा का बालक है। वेद आत्मा का भोजन है। वेदमन्त्रों को गाते-गाते मुग्ध हो जाता है और अन्तःकरण पवित्र हो जाता है। उस समय हृदय में ज्योति जाग्रित हो जाती है। (दूसरा पुष्प, ७-३-६२ ई.)

प्रभु की चेतना को वेद कहा गया है

ब्रह्म की चेतना संसार में कार्य कर रही है। ब्रह्म विद्या ही मानव को ऊँचा बनाती है, राष्ट्र को ऊँचा बनाती है तथा राष्ट्र को धर्म में ला देती है। इसलिये आज हमें तथा प्रत्येक राष्ट्र को ब्रह्म विद्या की आवश्यकता है। जब प्रत्येक मानव धर्मनिष्ठ होता है, उसी समय उसकी विचारधारा में महत्ता का दिग्दर्शन तथा उसकी प्रतिष्ठा होती है। जिससे वह महान् कहलाता है।

प्रभु स्वयम् ही यज्ञ है, उसकी महत्ता वेदों में परिणत हो रही है। वेद की अनुपम धारा तथा प्रकाश मानव के अन्तःकरण को पवित्र बनाता है क्योंकि वेद की अनुपमता, ब्रह्मविद्या तथा महत्ता में एक-एक

शब्द पक्षपात रहित है। उसी को ब्रह्म विद्या कहते हैं। परमात्मा रूढ़ि नहीं होता, इसलिये वेद पाखण्ड नहीं है। क्योंकि पाखण्ड तो अशुद्ध वाक्य को कहते हैं परन्तु वेद पाखण्ड नहीं है। वेद तो पवित्र है, प्रकाश है, मानव के अन्तःकरण की ज्योति है। जो इस ज्योति को जान लेता है, वह उस अखण्ड ज्योति को जान लेता है, जो प्रभु ने मनुष्यों को प्रदान की है। जो सृष्टि में प्रकाश हो रहा है, सूर्य अखण्ड रूपों में प्रकाश दे रहा है, अग्नि द्युलोक में नाना प्रकार की आभाओं से प्रकाशित हो रही है, वह प्रकाश, वह ज्योति, अदृश्य ज्योति एवम् दृश्यमान ज्योति, ये सब ज्योतियाँ प्रभु के मुखारविन्द से उत्पन्न होती हैं। यह प्रभु की चेतना है और प्रभु का जो विज्ञान है, ज्ञान है, उसको हमारे यहाँ वेद कहा गया है। (तेईसवाँ पुष्प, ११-३-७२ ई.)

रूढ़िवाद विनाशकारी है

वेद के अनुसार मानव को अपने जीवन को ऊँचा बनाना चाहिये। जो मानव रूढ़ियों में परिणत हो जाते हैं (अर्थात् रूढ़िवादी बन जाते हैं) उनके जीवन का विनाश हो जाता है, उनके मानसिक संकलन की धाराओं में भिन्नता आ जाती है। (पन्द्रहवाँ पुष्प, १७-२-७१ ई.)

परमात्मा की व्यापकता

वेद वाणी में परमपिता परमात्मा का गुणगान गाया जाता है। परमात्मा हमारे निकट रहने वाला है। संसार में कोई वस्तु ऐसी नहीं जिसमें परमात्मा न हो। यह संसार उसी की पवित्र आभा का दृश्य माना गया है। यह जगत स्थूल रूप में भी परमात्मा का गृह प्रतीत होता है। उनकी प्रतिभा तथा उज्ज्वलता का स्वरूप इस प्रकृति के

कण-कण में दृष्टिपात आता है। (सत्रहरवाँ पुष्प, २५-२-७२ ई.)

वेद-वाणी में परमात्मा की आभा का प्रायः वर्णन किया जाता है। क्योंकि परमात्मा ऐसी अमूल्य चेतना है, जिससे यह जगत क्रियाशील हो रहा है। इस चेतना के बिना संसार में कोई प्राणी गतिमान् नहीं हो सकता। वह देव गतिमान है तथा प्रकृति के कण-कण में ओत-प्रोत है। उसके विशेषणों का गुणगान गाने में वाणी मोहित हो जाती है। (उन्नीसवाँ पुष्प, २६-२-७२ ई.)

विज्ञान की प्रतिष्ठा जीवन में होनी चाहिये

वैदिकता वही है, जो लोक लोकान्तरों के विज्ञान में परमात्मा की जो सम्पन्न विद्या है। आज मानव जितना भी अनुसन्धान कर सकता है, वैदिक साहित्य में प्रायः जिसका विश्लेषण प्राप्त होता है, उसकी विचार धारा में ओत-प्रोत रहती है। उसी का नाम वैदिकता कहा जाता है। वैदिकता का अभिप्राय यह है कि जो भी हमारा जीवन है, कर्म काण्ड है, वह वेद के आधार पर जब होता है, तो वह इतना सुन्दर होना चाहिये, इतना पवित्र होना चाहिये, इतना शान्त होना चाहिये, क्रियात्मक जीवन वाला होना चाहिये, जिससे उस कर्म काण्ड में, उस क्रिया में विज्ञान निहित होता हो। क्योंकि विज्ञान किसी की सम्पदा नहीं है, विज्ञान रूढ़ि नहीं है। विज्ञान तो एक सामान्य विचार है। एक मस्तिष्क का विचार है। उसको लाने के लिये मानव को सदैव प्रयास करना चाहिये।

वैदिक साहित्य में रूढ़ि नहीं है। जहाँ रूढ़ि नहीं होती वहाँ सामान्य धर्म, सामान्य विज्ञान, व्यापक विद्या तथा व्यापक ही धर्म

होता है। इसीलिये हमारे यहाँ वेद की प्रशंसा ऋषि मुनियों ने तथा महान् तपस्वियों ने की है। क्योंकि उसमें ऐसी वस्तुओं को अपने में निर्धारित किया है, जिस पर वह और भी जितना अनुसन्धान करे उतना ही उसका मस्तिष्क और भी विकसित होता चला जाता है, प्रकाशमान होता चला जाता है। (चौवीसवाँ पुष्प, १७-८-७२ ई.)

वेद की योजना

वेद विवाद के कई पक्ष हैं।

१. प्रथम पक्ष कहता है कि मूल वेद चार हैं। चारों वेदों की संहिताएँ हैं।

२. द्वितीय पक्ष कहता है कि वेद नाम प्रकाश का है। वेद ब्रह्मा की वाणी है। सृष्टि के आरम्भ में इसका अवतरण ब्रह्मा से हुआ।

३. एक पक्ष कहता है कि चार ऋषि ब्रह्मा के शिष्य बने और वेद रूपी प्रकाश को चार भागों में विभक्त कर दिया १. ज्ञान काण्ड, २. कर्मकाण्ड ३. उपासना काण्ड और ४. विज्ञान काण्ड।

प्रश्न यह है कि ज्ञानकाण्ड में उपासनाकाण्ड, उपासना में विज्ञान काण्ड आदि पाये जाते हैं। ऐसा क्यों है ? इसका उत्तर यह है कि वेद नाम प्रकाश का है। वह ब्रह्मा से उत्पन्न हुआ है। चारों ऋषियों ने उसकी चार व्याहृतियाँ बना दी हैं। प्रकाश तो सूर्य भी देता है, किन्तु वह प्रकाश सांसारिक पदार्थों की उत्पत्ति करने के लिये होता है। परन्तु वेद का प्रकाश मानव के अन्धकार को नष्ट करके अमूल्य ज्ञान देता है। (चौथा पुष्प, १८-४-६४ ई.)

वेदों की त्रिविद्याएँ

वेद में तीन विद्याएँ होती है। १. ज्ञान, २. कर्म और ३. उपासना। वेद की सबसे प्रथम व्यवहृति का नाम ज्ञान माना गया है। ज्ञान के क्षेत्र में जाकर मानव को प्रत्येक वस्तु का ज्ञान हो जाता है। जैसे पृथ्वी, उसकी विद्या; जल, उसकी विद्या; दिशाएँ, उनकी विद्या; वायु, उसकी विद्या; अग्नि, उसकी विद्या आदि। इस प्रकार के विचारों के आने पर एक विशाल विचार आना आरम्भ हो जाता है। वह विशाल विचार ही ज्ञान है। यह ज्ञान किसी व्यक्ति विशेष की सम्पदा नहीं, किन्तु संसार की है।

वैदिक कर्म-काण्ड से मानव वैज्ञानिक बनता है

ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् मानव कर्मकाण्ड में चला जाता है। कर्मकाण्ड के क्षेत्र में जाकर वह व्यक्ति वैज्ञानिक बनता है, राष्ट्र पिता बनता है, अधिराज बनता है। कर्म काण्ड यह सब ही है, कि मानव कैसे अपने आसन पर बैठे, कैसे प्रस्थान करे, कैसे दूसरों का आदर करे, उसके हृदय में कैसी सहानुभूति होनी चाहिये ? इस प्रकार के कर्मकाण्ड से मानव ऊँचा बनता चला जाता है।

जब राष्ट्र में कर्मकाण्ड सुन्दर हो तो वह राष्ट्र भी उत्थान की ओर अग्रसर होता चला जाता है। राष्ट्र के कर्मकाण्ड के उदाहरण इस प्रकार हैं :.

१. ब्राह्मण कैसा हो, उसका स्थल कहाँ होना चाहिये।

२. न्यायालय में राजा का स्थान कैसा हो, राजा की किस काल में कैसी गति होनी चाहिये ?

३. कैसे मन्त्री हों, क्या-क्या वार्ता होनी चाहिये ? किस प्रकार के अपराध के लिये कैसा न्याय होना चाहिये, आदि-आदि ?

४. माता जब अपने पुत्र को लोरियाँ देती है, उसके नामकरण आदि संस्कार होते हैं, यह भी कर्मकाण्ड है।

५. यज्ञ में १-ब्रह्मा, २-अध्वर्यु, ३-उद्गाता, ४-पुरोहित, ५-होता, ६-यजमान आदि के स्थान को निर्धारण करना भी कर्मकाण्ड है।

६. महर्षि याज्ञवल्क्य द्वारा रचित शतपथ ब्राह्मण में कर्मकाण्ड की व्याख्या इस प्रकार से है कि यज्ञ करते समय आहुति किस प्रकार से दी जाये? उसको देते समय कौनसा शब्द हो और उस शब्द की रचना कैसी हो? यह जानकर होता 'स्वाहा' बोलता है। 'स्वाहा' बोलते समय उसकी वाणी में कितनी महत्ता और प्रबलता होनी चाहिये। आहुति देते समय भुजाओं की कैसी स्थिति हो, कैसे विचार होने चाहिये।

७. यज्ञ की परिक्रमा करने का अभिप्राय भी यही है कि हम जान सके कि वह जो महान् ब्रह्म है, जिसने इस ब्रह्माण्ड रूपी यज्ञ को रचा है, उसका कर्मकाण्ड कितना विशाल है।

८. कर्मकाण्ड मानव के जीवन से कटिबद्ध होना चाहिये। यदि इसका मानव जीवन से सम्बन्ध नहीं, तो हम इसको कर्मकाण्ड नहीं कह सकते। राष्ट्र और समाज सभी इसमें सुगठित रहते हैं।

९. इसी प्रकार इसमें वैज्ञानिक होते हैं। वे विभिन्न प्रकार की धातुओं को जानकर कर्मकाण्ड के द्वारा अनेक यन्त्रों का निर्माण करते हैं।

उपासना

१. जैसी जो वस्तु हो, उसको ज्यों का त्यों उच्चारण करने को उपासना कहा जाता है। जैसे सूर्य को सूर्य, चन्द्रमा को चन्द्रमा, ज्ञान को ज्ञान आदि।

२. प्रभु की उपासना करना, प्रभु का चिन्तन करना और प्रभु से जो वस्तु हमें प्राप्त होती है, उसको अपने में धारण करने का नाम उपासना है।

३. अग्नि की उपासना या पूजा का तात्पर्य यह है कि उसका सदुपयोग किया जाये।

४. वायु की पूजा यह है कि वायु जो वेग से चलती है, उसका सदुपयोग किया जाये, उसको प्राणायाम द्वारा धारण करने पर कोई रोग नहीं हो पाता है। रोगों के निवारण का महत्वपूर्ण प्राकृतिक साधन है।

५. पृथ्वी की उपासना यह है कि उसको जोतकर उससे सुन्दर-सुन्दर अन्न तथा वनस्पतियाँ उत्पन्न की जायें तथा इस कामधेनु को यथाशक्ति दुहा जाये।

६. माता की उपासना यह है कि उसकी सेवा की जाये, उसकी अन्न व जल से तृप्ति की जाये, उसके हृदय को सदैव प्रसन्न रखा जाये, इससे मानव का हृदय सुन्दर बनेगा तथा हृदय में ऊँचे संस्कारों की उपलब्धि होती चली जायेगी।

७. परमात्मा की उपासना यह है कि हम प्राणायाम करें, ब्रह्मचर्य की रक्षा करें। प्राणायामों अर्थात् रेचक, पूरक और कुम्भक आदि के

द्वारा कृकल, देवदत्त आदि उपप्राणों को सबल करते हुए ब्रह्मचर्य की रक्षा करें। तब ब्रह्मचारी में ब्रह्मचर्य की ऊर्ध्वगति हो जाती है।

जब श्वासों की गति में ब्रह्मचर्य के सूक्ष्म परमाणु गति करने लगते हैं तो १-इडा, २-पिंगला और ३-सुषुम्णा नाम की नाड़ियों में ओज उत्पन्न हो जाता है, ओज उत्पन्न होकर प्राणायाम करने से उनकी गति प्रबल हो जाती है और हृदय में मानवता के विशेष अङ्कुर उत्पन्न होने लगते हैं।

८. पति की उपासना यही है कि पत्नी पति का यथाशक्ति स्वागत करे, उसके वाक्यों पर और पद-चिन्हों पर चले। यदि गृहस्थाश्रम में पति या पत्नी में से किसी में कुरीति आ जाये तो उसकी साम, दाम, दण्ड, भेद आदि के द्वारा यथायोग्य उपासना करनी चाहिये क्योंकि किसी प्रकार की कुरीति आने पर गृह भ्रष्ट हो जाता है। इससे समाज की पद्धतियों में कुरीति आ करके राष्ट्र तक उसका प्रभाव चला जाता है।

९. राजा को उन व्यक्तियों को दण्डित करना चाहिये जो राष्ट्र द्रोही हैं, यही उसकी उपासना है। दोषी व्यक्ति को प्रभु द्वारा दिए जाने वाले दण्ड से पाठ पढ़ाना चाहिये। प्रभु पापियों को दण्ड देता है। उसके राष्ट्र में सबको समान सुविधाएँ प्राप्त हैं। उन सुविधाओं का भोग भी व्यक्ति को उसके अपने संस्कारों के अनुकूल ही प्राप्त हो पाता है। यही प्रभु की महत्ता है।

निष्कर्ष यह है कि त्रिविद्या (वेद) की चार धाराएँ हैं। इन चार धाराओं में तीन प्रकार की विद्याएँ हैं। १. ज्ञान २. कर्म और ३.

उपासना। इनका मन्थन करने के पश्चात मानव और ऊँचा हो जाता है, तो उसका नाम विज्ञान है।

विज्ञान दो प्रकार का होता है। १. एक भौतिक विज्ञान, २. दूसरा आध्यात्मिक विज्ञान।

१. भौतिक-विज्ञान वह है जिसमें विद्युत् आदि को जानना, नाना यन्त्रालयों का बनाना, सुन्दर भवनों का निर्माण करना, उनमें सुन्दर यन्त्रों का निर्माण आदि आते हैं।

२. आध्यात्मिक-विज्ञान में आत्मा में प्रभु को प्राप्त करना तथा प्रभु-सृष्टि को जानना तथा प्रभुत्व को जानना आदि आते हैं। इन दोनों प्रकार के विज्ञान को जानना ही हमारे यहाँ विज्ञान काण्ड कहलाया जाता है।

मानववाद और वैदिकवाद दो नहीं, एक ही हैं। (ग्यारहवाँ पुष्प, २-८-६८ ई.)

वेद ही वास्तविक प्रकाश है। क्योंकि उसमें सदैव चेतना रहती है।

उस वेद से हम अपने-अपने पटल के अनुसार तथा अपने यन्त्रालयों के अनुसार आध्यात्मिक-विज्ञान, भौतिक विज्ञान, कर्मकाण्ड, उपासना काण्ड आदि अन्य अनेक प्रकार के ज्ञान विज्ञान को प्राप्त करते रहते हैं। सूर्य का प्रकाश नेत्रों को प्रकाशित करता है। जबकि वेद का प्रकाश अन्तःकरण को पवित्र बनाता है। जब मानव का अन्तःकरण वेद रूपी प्रकाश से प्रकाशित हो जाता है तो यह अन्धकार के लिये अग्रसर नहीं होता, वह सदैव प्रकाश के लिये संलग्न रहता है और प्रकाश में ही अपने को स्वीकार करने लगता है।

(दसवाँ पुष्प, ६-११-६८ ई.)

श्रुति

हमारे यहाँ पुरातन काल में बाल्यावस्था में ही श्रुति का रमण (स्मरण रटाकर) कराया जाता था। उसको रटन्त-विद्या कहा जाता है। उसको श्रुति कहा जाता है। क्योंकि हमारे यहाँ आदि परम्परा से आचार्यजन, गुरुजन, वेद की पोथी उन्हें कण्ठ करा देते थे।

यह इस प्रकार होता है कि जब मन गुरु के चरणों में रहता, शब्दों में रहता और कण्ठ हो जाता, तो उसको श्रुति-ज्ञान कहा जाता। हमारे यहाँ पुरातन काल से वेदों को श्रुति कहा जाता है। श्रुति का अभिप्राय यह है कि जो श्रवण करने से कण्ठ होती है। अक्षरों का ज्ञान नहीं होता परन्तु वेदों के मन्त्र उसके समीप रहते हैं।

जैसे बाल्यकाल में माता अपने प्यारे पुत्र को लोरियाँ देती रहती है तथा उसे ब्रह्म का उपदेश देती रहती है। आचार्य कुल में जाता है तो आचार्य उसे श्रवण करा रहा है'आओ बालक ! विराजो। पाठ उसे कण्ठ करा दिया। वह कण्ठ में उसे रमण कर रहा है, रटन्त कर रहा है। मन और बुद्धि उसके समीप हैं। वेद का वेद (सारा वेद) उसको कण्ठ हो जाता है। वेद जिसके कण्ठ हो जाते हैं, श्रुति कण्ठ हो जाती है, तो उन्हीं की आभा को लेकर वह व्याख्या करता है। अपने मन को उस व्याख्या में रमण कर देता है, तो उस मानव को हम क्या कह सकते हैं।

वह मन की ही एक आभा है। उसे वेदों को ज्ञान हो जाता है। जिसको हम गायत्री से शुद्ध करते हैं। शुद्ध करने का अभिप्राय यह है

कि वह एक-एक अक्षर में, अपने एक-एक तत्त्व में, अपने मस्तिष्क में उसको जब मानव लेखनी बद्ध करता है, तो इसी प्रकार मस्तिष्क में उसकी लेखनी बद्ध हो जाती है। लेखनी बद्ध होते ही उसे श्रुति कहते हैं। (अट्ठाईसवाँ पुष्प, १६-११-७४ ई.)

वेद और योग

जितना भी मस्तिष्क अविक्षिप्त होगा, पक्षपात से रहित होगा, विचारक होगा, यौगिक होगा, उतनी ही मानव के हृदय में एक जानकारी की ऐसी अमूल्य निधि आने लगती है, जिससे मानव वास्तव में विभोर हो जाता है, वेदों के रहस्य को मानव रूढ़ि से नहीं जान सकता। उसको जब मन रूपी अपने घृतसे उस मस्तिष्क की अग्नि को प्रदीप्त करते हैं, ज्ञान के द्वारा हृदय की नाना प्रवृत्तियों को, बाह्य प्रवृत्तियों को जब आन्तरिक बना लेते हैं और मस्तिष्क में विचार विनिमय आरम्भ हो जाता है, उस विचार को ध्यानावस्थित कहते हैं। ध्यान की अवस्था होते ही उस वेद के मन्त्र में, परमात्मा की वाणी में जो रूढ़ि होती है, वह समाप्त हो जाती है, उसका वास्तविक स्वरूप उसके समीप आ जाता है।

उसका मस्तिष्क उन सूक्ष्म रहस्यों को जानने लगता है। जहाँ रूढ़ि नहीं होती, वहाँ वास्तविक ज्ञान होता है। इसलिये वेद के रहस्यों को जानने वाला प्रायः योगी ही होता है। योगी ही वेद के रहस्यों को जानता है। क्योंकि प्रकाश से प्रकाश का सम्बन्ध कर देना जो जानता है, इनका निदान जानता है, जो अपने प्राण और मन दोनों का समन्वय करना जानता है, हृदय और मस्तिष्क दोनों का

समन्वय कर देता है, वह वेद के ऐसे प्रकाश में चला जाता है कि उसके जीवन में रात्रि अथवा अन्धकार नहीं होता। (बाईसवाँ पुष्प, प्रथम प्रवचन)

गायत्री

गायत्री नाम गायन का है जो गाया जाता है। कण्ठ से गाया जाता है, हृदय से गाया जाता है, आत्मा के उत्सव से गाया जाता है, किन्तु गाया वही जाता है जो आत्मा के अनुकूल होता है और जिसे आत्मा कहता है।

गायत्री की अनेक प्रकार की साधना करनी पड़ती है। जैसे पुट गायत्री, छन्द-गायत्री है। मानव को गायत्री माता को अपनाना चाहिये, इसकी सर्व वार्त्ताएँ जाननी चाहिये।

यह आत्मा जब भी प्रशंसा करेगा, आत्मानुकूल जो भी वाक्य होगा, वह माता प्रभु के सम्बन्ध में होगा, जिसकी गोद में बैठकर उसने जीवन पाया है और संसार की महत्ता को जाना है। (तीसरा पुष्प, ९-१२-६२ ई.)

जितने वेद के मन्त्र हैं उनमें पवित्र छन्द हैं। वे 'ओ३म्' की व्याहृतियों में बद्ध होने के कारण गायत्री कहलाते हैं। कहा जाता है कि सृष्टि के आदि में यह गंगा ब्रह्मा के कमण्डलु में विराजमान थी, जो देवताओं तथा शिव के अनुरोध से इस संसार में आयी, वह जो गंगा है, वह है वेदवाणी का पवित्र ज्ञान। इस गायत्री रूपी गंगा में रमण करता हुआ मानव अपने हृदय को पवित्र बनाता है।

इस गायत्री-माता को वेदों ने काली कहा है क्योंकि यह हमारे

कालेपन को समाप्त करके पवित्र बनाती है। इसको दुर्गा कहा है, क्योंकि यह हमारे दुर्गुणों को शान्त करने वाली है। इसको चामुण्डा कहा है क्योंकि वह दैत्यों को नष्ट करती है और देवताओं की रक्षा करती है। इसको सरस्वती, भगवती, वैष्णवी देवी आदि नामों से कहा है।

वैष्णव नाम दिशाओं का है। आठ दिशाएँ हैं१-पूर्व, २-पश्चिम, ३-उत्तर, ४-दक्षिण, ५-आग्नेयी, ६-नैऋत्य, ७-वायव्य और ८-ईशान। ये आठ दिशाएँ मानव को आकर्षण से इसी प्रकार धारण किये रहती हैं, जिस प्रकार चुम्बक लोहे को आकर्षित करता है। हमें इस विज्ञान को जानना चाहिये। वैष्णव नाम किरण का भी है। सूर्य की आठ किरणें हैं। इनके विज्ञान को जानना चाहिये। (पाँचवाँ पुष्प, १८-१०-६४ ई.)

गायत्री कामधेनु है

कामधेनु नाम ही सरस्वती या गायत्री का है। जब मानव इस संसार में आकर उस कामधेनु अमृतमयी को धारण करता है, और अपने कण्ठ में उसके दुग्ध को पान करता है, तो उसका कल्याण हो जाता है। जब मानव इस संसार से उत्थान होकर जाता है, तो वह अमृत लोक में चला जाता है। राजा इन्द्र के राष्ट्र में चला जाता है। इन्द्र के पास एक कामधेनु है। मानव संसार में कामधेनु को प्राप्त करने के लिये आता है। उसे प्राप्त करके मानव जीवन का कल्याण हो जाता है। इन्द्र लोक या अमृत लोक वे ही हैं, जिसे माधुर्य लोक या ब्रह्मलोक कहते हैं, जहाँ ब्रह्म का वास होता है।(चौथा पुष्प, २१-४-६४ ई.)

गायत्री और छन्द

गायत्री गायी जाती है तथा छन्दों को हृदय में धारण किया जाता है। छन्द उसे कहते हैं कि आभाओं का जन्म होकर चित्त में जो तरंगें उत्पन्न होती हैं, उनका नाम छन्दावली है। वेद के मन्त्र को गाया जाता है। जब इसे स्वर से गाया जाता है, तो इससे दो वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं।

१-जो मानव वेद-वाणी को गाता है, उसकी वाणी में सत-वाद आ जाता है।

२-सत-वाद आ जाने पर सत में मधुरपन आ जाता है।

जिसकी वाणी में सतवाद और मधुरपन दोनों हों तो वह मानव समाज में कृतज्ञ हो जाता है। जिस मानव में सतवाद तो हो, किन्तु मधुरपन न हो, तो उस मानव के सुकृतों का हनन हो जाता है। यह बात गायत्री और छन्दों से सिद्ध होती है।

गायत्री द्वारा आध्यात्मिक यज्ञ से लाभ

गायत्री का यजन करने वाला प्राणी जब अन्तरात्मा में यज्ञ करता है, तो उसे चार वस्तुएँ प्राप्त होती हैं।

१-शब्द उच्चारण करना।

२-मधुरपन आ जाना।

३-तप आ जाना। इसके पश्चात्

४-क्रोध का सत रूप में परिणत हो जाना।

जो मानव गायत्री गान को नहीं गाता, वह मानव जीवन लेकर संसार में अभागा ही बना रहता है। गान वही गा सकता है, जिसका

अन्तःकरण शान्त होता है तथा चित्त शान्त होता है। चित्त तभी शान्त होता है, जब उसका भोजन उसे प्राप्त होने लगता है।

अन्तःकरण अथवा चित्त का भोजन है ज्ञान तथा विवेक। जब इन्द्रियों के नाना प्रकार के विषयों में अस्वादन से मानव का आत्मा उपराम हो जाता है, तो उसे ज्ञान और विवेक आता है। इस अन्न को प्राप्त करके चित्त स्वयम् शान्त हो जाता है। उसकी वाणी में मौनपन तथा ओजस्विता आ जाती हैं, वह मानव संसार में भाग्यशाली है।

यह गायत्री माता है। जैसे जब कोई बालक माता के अनुकूल चलता है तो वह प्रसन्न रहती है तथा प्रतिकूल होने पर वह दूर हो जाती है। इसी प्रकार यह अक्षरों वाली गायत्री माता है। इसमें जो तीन व्याहृतियाँ हैं, वे तीन शब्द हैं, ये मानव को ऊर्ध्व गति को प्राप्त करा देते हैं। यह चौबीस अक्षरों वाली गायत्री है।

जब छन्द सहित अन्तरात्मा से इसका यज्ञ करते हैं, तो मानव को सर्व वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं।

जब मानव में ममता नहीं रहती, तो उसमें कर्त्तव्य की भावना आ जाती है और वाणी में मधुरपन आ जाता है। उसका निरन्तर तप सिद्ध हो जाता है। (इक्कीसवाँ पुष्प-पृष्ठ ६६)

गायत्री की व्याहृतियाँ

प्रत्येक वेद'मन्त्र गायत्री है। क्योंकि प्रत्येक वदे'मन्त्र में ज्ञान और विज्ञान है। इसकी तीन व्याहृतियाँ होती हैं। जैसे माता का जीवन तीन भागों में बँटा होता है

१-पुत्र को गर्भ में धारण करना।

२-उत्पन्न होने पर लोरियों का पान कराना।

३-युवक होने पर उसको अपने हृदय से पृथक् कर देना।

इसी प्रकार गायत्री की व्याहृतियाँ हैं। जब मानव इस गायत्री माता के गर्भ में जाने के लिये लालायित होता है, तो जहाँ भी देखता है, वहीं माता को देखता है। जहाँ दृष्टिपात करता है वहीं माता का दृश्य उसके समक्ष है। माता उसकी प्रतीक बनी है। जब वह सब जगह माता को देखता है, तो सोचता है कि मैं पाप करने कहाँ जाऊँ? क्योंकि सब जगह मेरी माता है। यदि माता ने पाप को जान लिया तो दण्ड देगी। ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाने पर वह पवित्र गायत्री, उस मानव को अपने कण्ठ में धारण कर लेती है।

इस प्रकार यह मानव योगी बनकर पिता परमात्मा तथा माता गायत्री का बालक बनता है। एक स्थान प्रकृति-गायत्री-माता तथा एक स्थान से पिता ब्रह्म उस महान् आत्मा को अपने में धारण कर लेते हैं।

प्रकृति माता तथा पिता-परमात्मा के मध्य जो विरोध था उसको इस महान आत्मा ने नष्ट कर दिया। प्रकृति को वैज्ञानिक रूपों में अपनाया और परमात्मा को उपासना रूप में अपनाकर वह उपासक ज्ञानी और वैज्ञानिक योगी कहलाता है। (पाँचवाँ पुष्प, १८-१०-६४ ई.)

मानव शरीर के चौबीस तत्त्वों से गायत्री का सम्बन्ध

संसार मे जितने भी वेद-मन्त्र हैं प्रत्येक वेद-मन्त्र उस महान् प्रभु की आभा है। उसी का गान गाते रहते हैं। परन्तु ऋषि-मुनियों ने वेदों

से उस वस्तु को व्यवहार में साकार रूप दिया, जिसका जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध माना जाता है। जैसे गायत्री :२४ अक्षरों वाली गायत्री कहलाती है। उसमें तीन व्याहृतियाँ मानी जाती हैं।

हमारा यह स्थूल मानव शरीर चौबीस तत्त्वों से बना हुआ है। प्रत्येक अक्षर का सम्बन्ध प्रत्येक तत्त्व से माना गया है। इस मानवीय तथ्य को भी जानना है।

उस महान प्रभु की प्रतिभा के विभाग किये जाते हैं। कुछ शब्द इस प्रकार के हैं, जिनका सम्बन्ध प्राणों से है, कुछ का मन से, कुछ का मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से तथा कुछ का इन्द्रियों से है। परन्तु प्रत्येक अक्षर का जो बोधक है, यह हमारा शरीर है। ऋषि मुनियों ने इन वाक्यों को साकार रूप दिया। साकार रूप देने का एक ही अभिप्राय था कि इसके ऊपर अनुसन्धान कर सकें।

गायत्री का अभिप्राय है, जो गायी जाती है। वेद का प्रत्येक शब्द गाया जाता है। जब ऋचा को गाते हैं तो मन मग्न हो जाता है। (पच्चीसवाँ पुष्प, १२-३-७३ ई.)

गायत्री प्रार्थना

हे माता गायत्री ! तू अपने पुत्रें को अपने कण्ठ में धारण कर, जिससे हम तेरे कण्ठ में, तेरी आनन्दमयी गोद में विराजमान होकर उस आनन्द का अनुभव कर सकें। तू सुख के देने वाली है, पवित्र बनाने वाली है। तू संसार की माता तथा ब्रह्मा की पुत्री कहलाती है। तेरी तीन प्रकार की व्याहृतियाँ हैं, जो वेद में उपलब्ध हैं। हे माता ! तू संसार को पवित्र बनाने वाली है। जो तेरा अनुकरण करता है वही

संसार सागर से पार हो जाता है। जो तेरी इस भावुकता में करूणामय आनन्द को पान करने वाला है वह इस संसार की कटुता में, जो एक दूसरे का विरोध है, उसे नष्ट कर देता है। हे माता ! जब यह हृदय तेरी भावुकता से ऐसा परिपक्क हो जाता है, तो जैसे सूर्य की किरणों से यह संसार प्रकाशमान हो जाता है, ऐसे ही ज्ञान रूपी किरणों से हमारा हृदय प्रकाशमान हो जाता है। १-मल, २-विक्षेप, ३-आवरण दूर हो जाते हैं।

उस समय हम अपने 'प्रातर्भूषणाम्' अग्नि की आराधना करते हुए अपनी आत्मा को पवित्र बनाते हैं। हे माता ! तू हमारी आत्मा को वास्तव में पवित्र करने वाली है। हे माता! जब तेरा अनुकरण करते हैं, तेरे गर्भ में तेरी महत्ता की आराधना करते हैं, तो उस समय हमारे हृदय में जो नाना प्रकार के पाप हैं, वे सब भस्म हो जाते हैं जैसे अग्नि ईंधन को नष्ट कर देती है। हे माता! आप ही हमारी लक्ष्मी, श्री माता और राजा हैं। हम आपको चुनौती (आह्वान) देते रहें। संसार में सिवाय आपके किसी को नमस्कार न करें। 'नमः' हो तो केवल आपके लिये क्योंकि आप हमारे अधिराज हैं। आप पापों को नष्ट करने वाली हैं।

हम आपको नमस्कार करते हुए आपकी शरण में रहें, हृदय में, वाणी में हर समय आपका उच्चारण करते रहें, आपकी आनन्दमय ज्योंति में रमण करते रहें।

हे माता ! हम बारम्बार तुझे पुकारते चले जा रहे हैं। तू हमारे पापों को नष्ट कर और ऐसा पवित्र बना, कि हम संसार में जन्म लेते

हुए यौगिकता को प्राप्त करते रहें तेरे गर्भ में आयें। अपने हृदय को ऐसा पवित्र बनाते रहें, जिससे तेरी गोद में, तेरी शरण में आ सकें। हमें अपने से दूर न कर, यदि हम तेरे से दूर हो गये तो हमारा जीवन व्यर्थ होता चला जायेगा। हमारे जीवन में न प्रीति रहेगी न आनन्द रहेगा। यदि हमारे हृदय में आपकी ज्योति रहेगी, तो हम संसार को ज्योतिष्मान् कर सकते हैं अन्यथा हमारा जीवन अन्धकार में डूबता रहेगा। (पाँचवाँ पुष्प, १८-१०-६४ ई.)

प्रातःकाल की बेला में माता अनुसुइया तथा अत्रि मुनि एक स्थान पर विराजमान होकर माता गायत्री का अनुसरण किया करते थे। जिस गायत्री से यह संसार रचता है तथा ऊर्ध्वगति को प्राप्त होता है और इसी में लुप्त हो जाता है। (पाँचवाँ पुष्प, १८-१०-६४ ई.)

उद्गीत

वह प्रभु कितना अलौकिक है, इसका वेदों में सुन्दर निरूपण किया है। मानव प्रायः यह विचारता है कि तू गुणगान वाणी से गा रहा है, परन्तु ऐसा नहीं। वेद-वाणी का जो एक उद्गार होता है वह अन्तरात्मा से चला करता है। क्योंकि अन्तरात्मा की पिपासा अपने सखा के लिये होती है और माता पिता के लिये होती है। (बाईसवाँ पुष्प, पृष्ठ-७५)

परमात्मा के गुणों का वर्णन गायन रूपों में ही होता है। इसको गाना ही चाहिये। किन्तु गायन उसी का हो जिसका उद्गीत होता है। जिसका उदय होता है, उसी का उद्गीत होता है। उदय होने वाला वह प्रभु है।

किन्तु वह तो सदा रहने वाला है, अतः उसके उदय होने का वाक्य मिथ्या हो जाता है, यहाँ उदय होने का अभिप्राय यह है कि वह परमात्मा सर्वत्र रहने वाला है। कण-कण में उसकी ज्योति व्याप रही है। उसको उद्गीत इसलिये कहा जाता है कि उस मानव की वाणी में सत्यता की महत्ता ओत-प्रोत हो जाती हैं।

गान वही गाता है जो सत्यवादी होता है। ऋषियों का कथन है कि सत्य में ही प्रभु रमण करते हैं। जिस मानव में सत्यता का गुण हो जाता है उसमें प्रभु का उद्गीत होता है। उसका उस वाणी के संसर्ग में उदय होने लगता है। इस प्रकार उस प्रकाश के आँगन में मानव का उदय होने लगता है।

उद्गीत गाने से मानव का उदय होता है

स्वप्नावस्था में मन आत्मा के प्रकाश में उद्गीत हो जाता है। इसी शरीर में यद्यपि नदी, पहाड़ तथा नाना प्रकार के भोग-विलास नहीं होते, किन्तु उस समय वे सब उत्पन्न हो जाते हैं। यह तब परमात्मा के प्रकाश में ही तो उद्गीत गाता है। मानव की वाणी का सम्बन्ध हृदय से होता है।

उद्गीत गाने से उस मानव का उदय होता है, प्रभु का नहीं

उद्गीत मन तथा वाणी के द्वारा गायन रूपों में गाया जाता है, प्रभु की प्रतिभा का वर्णन गायन रूपों में ही होना चाहिये।

सत्य की प्रतिष्ठा के पश्चात् उद्गीत का अधिकारी होता है

वेद के पठन-पाठन में जो स्वर हैं, वे उद्गीत कहलाये जाते हैं। ये वाणी तथा सत्यता के द्वारा गाये जाते हैं। वेद का उच्चारण करने का

वही अधिकारी होता है, जिसकी वाणी सत्य होती है। सत्य की प्रतिष्ठा के बिना वेद का उच्चारण करना व्यर्थ होता है। उसका उद्गीत सुन्दर गायन-रूपों में नहीं गाया जाता। वह तो केवल एक पक्षी की भाँति रटन्त विद्या हो जाती है। जब वह अपने को प्रभु में तन्मय करके गाता है तो उसका नाम उद्गीत है। (सोलहवाँ पुष्प, ४-८-७१ ई.)

हृदय से मन्त्रोच्चारण करने पर ही आनन्द की प्राप्ति

जिस वेद-मन्त्र में मानव का हृदय जुड़ा हुआ होता है अथवा उससे जीवन का सम्बन्ध होता है, उसकी प्रतिभा में एक महत्ता की ज्योति जागरूक हो जाती है। जब तक वेद-मन्त्र के साथ हृदय का मिलान नहीं होता, तब तक उसमें आनन्द भी प्राप्त नहीं होती। मानव प्रायः शब्दों को अच्छी प्रकार जान नहीं पाता, परन्तु मानव के हृदय से उच्चारण किया हुआ शब्द मानव के मन को बहुत प्रिय लगा करता है।

वेद का ज्ञान और विज्ञान अनन्त है। इसका अनुपम प्रकाश मानव के हृदय को पवित्र बनाता चला जाता है। वह द्यु-लोक में घृत-समिधाओं के सहित शब्दावलियों में प्रदीप्त हो रहा है। जब उसका शब्दावलियों से विशेष सम्बन्ध हो जाता है, तो मानव का हृदय विभोर हो जाता है और वेद की प्रतिभा में एक महत्ता की ज्योति जागरूक हो जाती है।

जब कोई महापुरुष लेखनीबद्ध करने लगता है तो जितना उसके हृदय से सम्बन्ध होता है, मन की एकाग्रता होती है, उतना ही उसके

द्वारा लिखे गये शब्दों में व्यापकवाद आता चला जाता है। इसी आधार पर जब हम वेद की प्रतिभा पर विचार करते हैं तो विचारक का जितना सुचरित्र, सुविचार तथा मन की सूक्ष्मता होती है, उतनी ही शब्दावलि में विचित्रता आती चली जाती है, उतनी ही महत्ता का दिग्दर्शन होने लगता है। (पन्द्रहवाँ पुष्प, १२-४-७१ ई.)

उद्गीत का स्वरूप

संसार में प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्थान पर गान गा रहा है। एक पदार्थ का दूसरे से मिलान होता है उसी को उद्गीत कहते हैं। जैसे सूर्य का मिलान पृथ्वी से होता है, तो वह भी अपना उद्गीत गा रहा है। उद्गीत का अभिप्राय यह है कि 'उत् और गै' दोनों का समन्वय करने के पश्चात् उद्गीत हो जाता है। उद्गीत का अभिप्राय यह है 'गीतम् ब्रह्म'। गीत का अभिप्राय यह है कि जो मानव हृदय से भावनाएँ और तरंगें उत्पन्न होती हैं, उन्हें उद्गम कहते हैं। उसी को उद्गीत कहते हैं।

छन्द-गायत्री आदि सभी गान के रूपक होते हैं। इसीलिये उनका सम्बन्ध सब लोकों के पदार्थों से होता है। जैसे यज्ञशाला में अग्नि प्रदीप्त होती है। अग्नि अर्थात् 'द्यु' और 'समिधा' का दोनों का मिलान हो करके उद्गीत हुआ करता है। जब सामग्री का 'स्वाहा' देते हैं, तो अग्नि में एक महान् प्रदीप्तपन आ जाता है, वह उद्गीत कहा जाता है। दो वस्तुओं के मिलान करने का नाम ही उद्गीत कहा जाता है। हमें उद्गीत गाने वाला बनना चाहिये तथा अपनी मानवीय प्रक्रिया को ऊँचा बनाने का प्रयास करना चाहिये। (सोलहवाँ पुष्प, १-८-७० ई.)

वेद की ऋचाओं को निचोड़ने का मन्तव्य है गायन। गायन को निचोड़ने का मन्तव्य है छन्द, छन्द को निचोड़ने का मन्तव्य है ब्रह्मविद्या। वह जो निचोड़ा हुआ ब्रह्म-विद्या रूपी रस है, उसे जो पुत्री और ब्रह्मचारी पान कर लेता है, वह संसार सागर से पार हो जाता है। उसके मस्तिष्क में अज्ञान नहीं रहता, अज्ञानता का न रहना प्रकाश में आना है, और उस प्रकाश को अपने में धारण करना ही ब्रह्म का ज्ञान, ब्रह्म को साक्षात्कार करना है। (छब्बीसवाँ पुष्प, ३-१२-७३ ई.)

वेद ही ब्रह्म विचार है

वेद एक अनुपम प्रकाश को कहते हैं, जो मानव के अन्तःकरण की ज्योतियों को अथवा विभिन्नताओं को जन्म देता है। वह अन्तःकरण के अन्तर्द्वन्द्व को स्पष्ट करके प्रकाश में परिणत कर देता है। जैसे सूर्य की किरणें नेत्रों का देवता बनकर मानव को प्रकाश देती हैं, और मानव उससे संसार के व्यापार में संलग्न हो जाता है। इसी प्रकार वेद रूपी सूर्य के प्रकाश से हमारे अन्तःकरण के अन्तर्द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं, तथा उसमें जन्म-जन्मान्तरों से संस्कारों की उपलब्धियाँ अङ्कुर रूप में मानव के समीप आने लगती हैं। अन्तःकरण, जिसमें मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार का समूह एकत्रित है, उसमें दिव्य-ज्योतियों की जागरूकता होने लगती है। इस पर विचार करने को ही ब्रह्म-विचार कहते हैं।

मानव का जितना भी आध्यात्मिक विचार होता है, उसकी उपलब्धि वेद के द्वार से ही होती है। वेद केवल पोथियों में बद्ध नहीं

किया जाता। वेद तो मानव के अन्तःकरण की सुन्दर रश्मियों का नाम ही माना गया है।

वैदिक शब्दों की उत्पत्ति कहाँ से ?

श्री ब्रह्मचारी कृष्णदत्त जी ने किसी पूर्व जन्म में गुरुवर्य ब्रह्मा जी से पूछा था कि ''वेदों की शब्दावलियों की उपलब्धि कहाँ से होती है?''

श्री गुरुवर्य ब्रह्मा जी ने समाधान किया, ''जब हृदय और मस्तिष्क दोनों का समन्वय हो जाता है, ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के विषयों की सामग्री बनाकर हृदय रूपी यज्ञ-शाला में उसकी आहुति दे दी जाती है, तो इन्द्रियों की सहस्रों-सहस्रों प्रकार की धाराओं का जन्म हो करके, उनका सम्बन्ध ब्रह्मरन्ध्र से होता है।

ब्रह्मरन्ध्र में जो चक्र है, उसमें गति आती है। जब उसमें देदीप्यमान गति आती है, तो उसका प्रकाश सहस्रों सूर्यों से भी अधिक होता है।

ब्रह्मरन्ध्र की ज्योति की धारा का जब चक्र चलता है, तो उससे नाना प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न होने लगती हैं। उन ध्वनियों का सम्बन्ध नाना प्रकार की धाराओं से होता है, तथा नाड़ियों से होता है, नाड़ियों का सम्बन्ध नाना प्रकार के लोक लोकान्तरों से होता है तथा द्युलोक से भी होता है, उन ध्वनियों को 'अनहद-नाद' कहा जाता है।

उन ध्वनियों को जान कर योगी जब लेखनीबद्ध करता है, तो उसी ध्वनी से व्याकरण की उत्पत्ति होती है।

करोड़ों वर्षों के ऋषियों के विचार आज भी द्युलोक में रमण

करते हैं तथा उन विचारों को योगी अपने में आकर्षित करके धारणा कर लेता है। सूक्ष्म शरीर की रश्मियों को अच्छी प्रकार जान लेता है।

जो 'अनहद-नाद' बजता है, उससे गायत्री तथा छन्दों का निर्माण होता है। गायत्री उसे कहते हैं, जो गायी जाती है। जो ब्रह्मरन्ध्र के द्वारा गायी जाती है, उस रश्मि का नाम गायत्री है। उस पवित्र आभा का नाम गायत्री है जिसके द्वारा ब्रह्मरन्ध्र नृत्य करने लगता है। सूर्य तथा लोक-लोकान्तर अपने आसन पर नृत्य करने लगते हैं। (पन्द्रहवाँ पुष्प, १३-४-७१ ई.)

वेद के पठन-पाठन की विधियाँ

वेद के पाठ्य-क्रम की पद्धति आर्ष मानी गयी है। इसमें मानवता के सुगठित विचार होते हैं। जब वेद के गर्भ में जाने का विचार करते है, तो उस समय हमारा जीवन महत्ता को प्राप्त होने लगता है। परमात्मा का ज्ञान-विज्ञान सदैव महत्ता में परिणत रहता है। (चौदहवाँ पुष्प, ३-८-७१ ई.)

वेद मन्त्रों का पाठ्य-क्रम महान् और विचित्र है, क्योंकि उसकी धाराओं में जो महत्ता का दिग्दर्शन होता है, उससे हमारा हृदय तथा मानवत्व विचित्र दिखायी देने लगता है। परमात्मा की महिमा का गुण-गान गाना वैदिक प्रकाश में मुख्य है। उससे हमें महत्ता तथा विचित्रता का दिग्दर्शन होता रहता है क्योंकि वह ज्योति वेद की प्रतिभा में रमण कर रही है। जिस प्रकार विद्युत से यह द्युलोक प्रभावान् हो रहा है उसी प्रकार वायुमण्डल विचित्र तरंगों से छायामान्

हो रहा है। उन्हीं के कारण एक मानव दूसरे का विश्लेषण कर रहा है। (बारहवाँ पुष्प, ३-८-७१ ई.)

वेद-पाठ माधुर्यता सहित अन्तःकरण से करना चाहिये तभी हमें शान्तिदायक होगा। जब बिना मन्थन किये केवल उच्चारण करते हैं, तो रटन्त से कोई लाभ नहीं। वेद-वाणी के अनुकूल ही हमें विचारों को भी उच्च बनाना चाहिये। (तीसरा पुष्प, १२-३-६२ ई.)

विभिन्न वेद पाठ

वेदों का पाठ कई प्रकार से किया जाता है। जैसे माला-पाठ, धनपाठ, जटा-पाठ आदि मन्त्रों में स्वरादि का विलगाव तथा सन्धि करना। (दूसरा पुष्प, ७-३-६२ ई.)

विसर्ग-पाठ, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित आदि नाना प्रकार के विभेदन तथा उनकी प्रक्रियाएँ विचित्रता में परिणत की गयी हैं। (दसवाँ पुष्प, ७-११-६२ ई.)

धन-पाठ ऐसी मनोहर शैली से किया जाता है कि मार्ग के सिंह तक आकर उस गान को सुना करते हैं। (दूसरा पुष्प, ७-३-६२ ई.)

वेद-मन्त्र पाठ से वायुमण्डल तथा अन्तरिक्ष की शुद्धि

वेद-मन्त्रों से शब्दायमान होकर वायु-मण्डल तथा अन्तरिक्ष शुद्ध हो जाते हैं। इससे मानव के अन्तरात्मा में शुद्ध भावनाएँ आती हैं। (प्रथम पुष्प, १-४-६२ ई.)

वेद मन्त्र का उच्चारण 'ओ३म्' के साथ

एक समय महर्षि रेवक के आश्रम में विभाण्डक, पिप्पलाद, दालभ्य, शौनक, काककेतु आदि ऋषि एकत्रित हुए। उनमें विवाद

छिड़ा कि वेद-मन्त्रों के उच्चारण में 'ओ३म्' पहले क्यों बोला जाता है ?

बहुत वाद विवाद के पश्चात् निर्णय किया गया कि :.

'ओ३म्' धागा है तथा वेद की ऋचाएँ मनके हैं। प्रत्येक वेद-मन्त्र के पूर्व 'ओ३म्' को उच्चारण करने से एक प्रकार की माला बन जाती है। इसीलिये इस प्रकार के पठन-पाठन के क्रम को माला पाठ कहते हैं। मन्त्र का उच्चारण बिना 'ओ३म्' के न तो शुद्ध, पवित्र ही होता है और न सुन्दर ही लगता है।

त्रिविद्या का स्वरूप

जितना ज्ञान-विज्ञान है वह केवल तीन प्रकार की १. आत्मा २. परमात्मा तथा ३. प्रकृति की विवेचनाओं में आ जाता है।

जैसे परमाणुवाद का विज्ञान तथा ऊँचे विज्ञान की व्याख्या ऋत की व्याख्या है, इसको प्रकृति कहते हैं। कृषि-विज्ञान, भूगर्भ-विज्ञान, अन्तरिक्ष-विज्ञान, वायु की तरंगों का विज्ञान, विद्युत् विज्ञान आदि जो दृष्टि पात आता है, जिसको यन्त्रों द्वारा खोज करके यन्त्रों में परिणत कर देते हैं, यह सब प्रकृति पर ही आधृत (आधारित) है।

जितना ऋतवाद व व्यापकवाद कर्ता भोगता है, उसको भोगवाद कहते हैं, वह आत्मा पर आता है। क्योंकि जीवात्मा करता है, तथा प्रकृति की तरंगों को जानने वाला है।

प्रकृति के कण-कण में रमण होने से, क्रियाशील बनने से प्रभु-शब्द बनता है अर्थात् 'ओ३म्' शब्द बनता है। उसको परमात्मा, ईश्वर, विष्णु आदि नामों से पुकारा जाता है। वेद की प्रत्येक ऋचा के

आरम्भ में इसी 'ओ३म्' शब्द का उच्चारण किया जाता है।

मन्त्र के आरम्भ में ओ३म् का उच्चारण इसलिये भी किया जाता है क्योंकि 'ओ३म्'प्रकृति के कण-कण में ओत-प्रोत है। जैसे माला में मनका और मनका में धागा होता है, इसी प्रकार 'ओ३म्' रूपी धागे में ये वेद-मन्त्र पिरोकर उनकी माला बना दी जाती है। जब हम 'ओ३म्' को व्यापकता में परिणत करके विचार करते हैं, तो उस समय यह 'ओ३म्' रूपी धागा प्रकृति तथा इस संसार में ओत-प्रोत हुआ प्रतीत होता है।

प्रत्येक प्राणी एक दूसरे से दूरी पर है, इसलिये उनमें भिड़न्त नहीं हो पाती। परन्तु वह 'ओ३म्' सबमें व्यापक है।

इस प्रकार वह 'ओ३म्' रूपी धागा प्रकृति के कण-कण में ओत-प्रोत होने के नाते, तथा वेद की ऋचाओं में रमण करने के नाते, संसार में रमण करने तथा व्यापक होने के नाते 'ओ३म्' रूपी धागा कहलाया गया है। वेद की ऋचाएँ, ज्ञान-विज्ञान, कर्मकाण्ड आदि सब इस 'ओ३म्' रूपी धागे में निहित हैं।

वेद की त्रिविद्या-ज्ञान, कर्म-उपासना इस 'ओ३म्' रूपी धागे में पिरोये हुई है, इसीलिये प्रत्येक वेदमन्त्र के आरम्भ में 'ओ३म्' का उच्चारण किया जाता है।

हम 'ओ३म्' रूपी धागे को, उस परमदेव को अपने में धारण करने वाले बनें क्योंकि संसार में सर्वशक्तिमान वह 'ओ३म्' ही है, उसमें तीन प्रकार की व्याहृतियाँ बनती हैं। व्याहृतियों के आधार से जितना ज्ञान-विज्ञान है, तथा जितना मानववाद है, वह सब उसी में

निर्धारित रहता है। (दसवाँ पुष्प, ७-११-६८ ई.)

वेद का महत्व

वेद वह अमूल्य बीज है, वह अमूल्य बिन्दु है जिसमें इस संसार का ज्ञान और विज्ञान है। जिस बिन्दु को जानकर हम संसार में ज्ञान और विज्ञान को जानने वाले बन जाते हैं, इसको जानना हमारे लिये अनिवार्य है। (छठा पुष्प, १९-७-६४ ई.)

जो मानव वेद का रसिक तथा प्रकाशक होता है, उसके जीवन में अन्धकार नहीं होता, मानवता होती है। वेद के आधार पर ऐसे-ऐसे आविष्कार किये जा सकते हैं कि हमारा मस्तिष्क चकित हो जाता है। संसार में जितना विद्यावाद है, प्रकाश है, वह वेदों की ही प्रतिभा है। (सोलहवाँ पुष्प, १-८-७० ई.)

अहंकार विनाशक है

महर्षि कपिल मुनि महाराज ने कहा है कि वेद का जो अमृत है वह आत्मा के ज्ञान के साथ पान किया जाता है। आत्म-ज्ञान प्राप्त करके ही कोई यदि यह कहे कि मैं सम्पन्न विद्याओं का ज्ञाता बन गया हूँ तो यह असम्भव है तथा उसका कथन भी मिथ्या है, क्योंकि जिस प्रकार परमात्मा अनन्त है, ऐसे ही उसकी विद्या भी अनन्त हैं, उसकी रचना भी उतनी ही अनन्त है। जो व्यक्ति बिना तपस्या के केवल अक्षरों का बोधि हो करके कहे कि मैं सम्पन्न और सम्पूर्ण विद्याओं को जानता हूँ, तो उसका कथन मिथ्या है। (नौवाँ पुष्प, २९-७-६६ ई.)

वैदिक ज्ञान से ही जीवन का विकास

जिस प्रकार भौतिक-विज्ञान को खोजने के लिये हमें प्रकृति में नाना तत्त्वों की आवश्यकता होती है, तभी हम उस ज्ञान-विज्ञान को खोज पाते हैं, इसी प्रकार आत्मा के स्वाभाविक ज्ञान को जगाने के लिये वेद की विद्या का प्रसार करना तथा उसे ग्रहण करना पड़ेगा। जब वेद-विद्या की सन्धि आत्मा में पहुच जाती है, उस समय उस परमात्मा के दिये हुए वैदिक-ज्ञान से एक-एक सम्बन्ध हो जाने पर मानव जीवन पूर्ण विकास को प्राप्त हो जाता है। वेद-ज्ञान को पाकर हम परमात्मा के उपासक, पवित्र और सुशील बन जाते हैं। तब हम अमृत को पाकर अमृत बन जाते हैं। तब यह अमृत-आत्मा आनन्द ही आनन्द भोगता रहता है। सुशील बनकर हम दार्शनिकों के समाज में जाकर नाना प्रकार के प्रश्न कर सकते हैं तथा उनके उत्तर पाने वाले बन जाते हैं। (दूसरा पुष्प, ३-४-६२ ई.)

प्रश्न है कि वेदमन्त्रों के गान से आत्मा प्रसन्न क्यों होता है ?

इसका उत्तर यह है कि आत्मा-परमात्मा का सम्बन्ध ऐसा ही है जैसे माता और पुत्र का या पिता और पुत्र का। जैसे पुत्र प्रसन्न होकर माता-पिता के गुण गाने लगता है, इसी प्रकार आत्मा-परमात्मा के गुण गाता हुआ प्रसन्न होता है। (चौथा पुष्प, १७-४-६४ ई.)

आत्म-साक्षात्कार द्वारा ही वेद ज्ञान की प्राप्ति

केवल वेद की विद्या ही विद्या पुकारने से कुछ नहीं होता, जब तक उसका अध्ययन करके उस पर जीवन को न चलायें। यदि वेद की विद्या को पाना है तो हमें सबसे पूर्व अपने को पाना होगा, अर्थात् अपने आत्मा का साक्षात्कार करना होगा, अपने को पाकर ही

हम वेद की विद्या को अच्छी प्रकार पा सकेगें। (तीसरा पुष्प, १६-७-६३ ई.)

एक वेद मन्त्र के जीवन में धारण करने से ही आर्य बन जाते हैं

यदि हम एक वेदमन्त्र को भी अपने जीवन में धारण कर लेते हैं, उसके अंग-प्रत्यंग को जानने वाले बन जाते हैं, तो हम यथार्थ आर्य बन जाते हैं। ऋषियों ने कहा है कि जब तुम एक ही वेद-मन्त्र के आधार से चलोगे, तो उस समय यह चारों वेदों की पोथी तुम्हारे समक्ष आ जायेगी। मानव को पहली प्रणाली जान लेने पर आगे का सब ज्ञान हो जाता है। (दसवाँ पुष्प, २६-७-६३ ई.)

परमात्मा की वाणी वेद ज्ञान आत्मा का ज्ञान है। इसमें उदारता और पवित्रता है। वह हिंसक प्राणियों को भी अहिंसक बना देती है।

हिंसक प्राणियों में भी आत्मा है और मनुष्यों में भी। जब आत्मा-आत्मा का तारतम्य हो जाता है, तो हिंसक भी अहिंसा का पालन करने वाला बन जाता है। हिंसक प्राणियों की आत्मा हिंसक योनि में आकर भी वेद-वाणी की इच्छुक रहती है। इसीलिये वे ऋषि-मुनियों के चरणों को छू-छूकर अपने स्थानों को चले जाते हैं। (पाँचवाँ पुष्प, २१-१०-६४ ई.)

वेद वाणी वह अमूल्य ज्ञान है, जो अहिंसावादी होने की शिक्षा देता है, जिससे मानव का उत्थान होता है। वेद वाणी का उच्चारण करना उसी समय सफल होता है जब उसके अनुकूल हम अपने आचरण को बना लेते हैं।

न करने से कुछ करना ही सुन्दर है। अधिक न सही कुछ तो

करना ही चाहिये और नहीं तो आहार को ठीक बना लेना चाहिये। (दूसरा पुष्प, २७-९-६४ ई.)

हृदय से वेद-मन्त्र गायन का प्रभाव

वेद ज्ञान वह अमूल्य ज्ञान है, जिसको गाता हुआ मनुष्य तो अमृत बनता ही है, पक्षीगण तथा यह पृथ्वी भी अमृत बन जाती है। इसको गाते हुए ऋषि मुनि भी शान्त हो गये। वेद वाणी में ओज, तेज, आस्तिकता और सदाचार की तरंगें होती हैं जब इन तरंगों का भावरूप से विस्तार होता है, तो एक सीमित वस्तु भी असीमित हो जाती है। जैसा समाज और वातावरण हो उसी के अनुसार वेद मन्त्रें का गान गाना चाहिये। (चौथा पुष्प, १-४-६४ ई.)

स्वार्थ सिद्धि के लिये वेद पाठ भ्रान्तियों को फैलाता है

संसार में बहुत से व्यक्ति ऐसे होते हैं कि वेद का अभ्यास किया और जिसमें जिसको अपने स्वार्थ की सिद्धि हुई उन वार्ताओं को चुन लिया और अपने को कहते हैं वेद-पाठी। इस प्रकार संसार में नाना भ्रान्तियाँ आती हैं। इससे मानव अपना विकास नहीं कर पाता। संसार में विकास न होने का कारण यही है। गम्भीर वाक्यों को गम्भीरता में ले जाकर गम्भीरता से, बुद्धि और यौगिकता से और अपने आत्मिक तत्त्वों से विचारना चाहिये। इस प्रकार विचारते रहने से उसका विकास भी होता चला जायेगा।(दूसरा पुष्प, २-१०-६४ ई.)

हमारा जीवन वेद के प्रकाश के निकट रहता है। यदि मानव के जीवन में प्रकाश न रहकर अन्धकार आ जाये, तो वह त्रिविद्या तथा परमात्मा से बहुत दूर रहता है। अन्धकार उसे कहते हैं, जब मानव

अपनेपन और मौलिकता को नहीं जानता हुआ भी कुमार्ग पर चला जाता है। जो मानव वेद को जानता हुआ भी उससे दूर रहता है, वह प्रकाश को त्यागकर अन्धकार को अपनाता है। (नौवाँ पुष्प, २९-७-६६ ई.)

जैसे माला में धागे और मनके होते हैं इसी प्रकार हम वाणी और मन के द्वारा इन वेद मन्त्रों को मनका बनाते हैं। मन और वाणी के अन्तर्द्वन्द्व को समाप्त करके उसका धागा बना लेते हैं। उस धागे का सम्बन्ध हमारी अन्तरात्मा तक रहता है। जब मन और वाणी में अन्तर्द्वन्द्व नहीं रहता, तो वाणी में एक महान् अमृत की प्रतीति होने लगती है। जिसे 'अनवाक्- रसास्वादन' (बिना रस के रस का आस्वादन) कहते हैं। यह अमृत हमें वेद ज्ञान के द्वारा ही प्राप्त होता है। (तेरहवाँ पुष्प, २२-८-६९ ई.)

वेद में सारी विद्याएँ बीज रूप में विद्यमान है

जैसे वट-वृक्ष अङ्कुर रूप से बीज में विराजमान रहता है, इसी प्रकार संसार की जितनी विद्याएँ हैं, वे सब वेद में बीजाङ्कुर में विद्यामान हैं। इनको जानने के लिये आत्मा के बल को ऊँचा बनाना अनिवार्य है। (पाँचवाँ पुष्प, १८-१०-६४ ई.)

संसार में जितनी विद्याएँ हैं, उन सबका सम्बन्ध वेद से है और वेद का सम्बन्ध 'ओ३म्' से है। एक दूसरे से सम्बन्ध होते हुए विकास होता है। वेद ज्ञान मानव के हृदय में विराजमान आत्मा के ज्ञान-विज्ञान को प्रकट कर देता है। जब ज्ञान-विज्ञान और वेदों की व्याहृतियों का मिलान होता है, तो ज्ञान रूपी अग्नि, नाना अन्धकार

रूपी ईंधन को भस्म कर देती है। (पाँचवाँ पुष्प, २०-१०-६४ ई.)

वेद में मानवता के प्रसार की विधि

हमारे वैदिक ज्ञान में मानवता के प्रसार के लिये विशेष वर्णन है। वेद एक प्रकाश है। हम उसकी किसी मुद्रा को लें और उस पर सूक्ष्म विचार करें तो मानवता सर्वप्रथम प्राप्त होती है। वेद के एक-एक अङ्कुर में हमें सर्वप्रथम एक ही वस्तु प्राप्त है। और वह है, परमात्मा का विज्ञान, जो मानवता के निकट है। जब मानव उस परमपिता परमात्मा के विज्ञान पर विचार-विनिमय करता है, तो उसे मानवता का सुन्दर विचार प्रकट होता है। जिन विचारों को लेकर मानव अपने जीवन का अनुसन्धान करता है और अपने मानवत्व को ऊँचे शिखर पर ले जाता है। (आठवाँ पुष्प, ४-४-६५ ई.)

मानव को योग से वैदिक ज्ञान के प्रकाश की प्राप्ति होती है

वैदिक पद्धति हमारी परम्परा वाली पद्धति है, जिसमें मानवता का, यौगिकता का और राष्ट्रवाद का प्रदर्शन होता है। जो वेदमार्ग पर चलने वाले हैं, वे इस परम्परागत पद्धति को जानते हैं। मानव की जीवन-चर्या के सम्बन्ध में जो पवित्र पद्धति है, वह हमें जीवन का एक प्रदर्शन कराती है। वेद में तीनों कालों की वार्ता विराजमान होती है। यदि ऐसा न हो, तो वेद को प्रकाश नहीं कहा जा सकता। जहाँ प्रकाश होता है, वहाँ आगे का, पीछे का, और वर्तमान का तीनों प्रकाश उसके समीप होते हैं। इसीलिये हम वेद को प्रकाशमान कहते हैं। यह हमें तभी प्रतीत होता है, जब हम यौगिकता में जा पहुँचते हैं। (सातवाँ पुष्प, २७-४-६४ ई.)

वैदिकपद्धति सदा नवीन रहती है

वैदिक पद्धति में न कभी वृद्धपन ही आता है और न ह्रास ही होता है, सदैव नवीनता रहती है। वैदिक-सहित्य तथा वैदिक परम्परा पर मानव को सदैव विचार करना चाहिये। क्योंकि इसके ज्ञान में मानव की सम्पदा है। जब मानव इस पर विचार करता है तो उसको वैदिक प्रकाश मिलता है। वह धर्म के मर्म को जान लेता है। वह विचारों की सम्पदा तो वैदिक-ज्ञान में ही है। (तेरहवाँ पुष्प, ९-११-६९ ई.)

वैदिक-ज्ञान व्यापक है

वेद का ज्ञान चतुष्पाद में वर्णित है। जिस प्रकार परमात्मा कण-कण में व्याप्त है। उसी प्रकार उसका ज्ञान भी कण-कण में व्याप्त है। (बारहवाँ पुष्प, ३-३-६९ ई.)

वेद मन्त्रों पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होने लगता है कि प्रकृति का एक-एक परमाणु उस परमपिता से सुगठित हो रहा है, क्योंकि परमात्मा सर्वत्र होने के नाते प्रत्येक स्थान में दृष्टिपात करने लगते हैं, तो हमारे जीवन में महत्ता के विशेष अङ्कुर उत्पन्न होने लगते हैं। (ग्यारहवाँ पुष्प, २-८-६८ ई.)

हम जिस पिपासा से पीड़ित हैं, उसे यह संसार का ऐश्वर्य शान्त नहीं कर सकता क्योंकि वह एक चेतना से प्राप्त होती है। हमें उस चेतना का सोम ही प्राप्त करना चाहिये अर्थात् वैदिक ज्ञान का स्रोत है, सोम है, हमें उसे प्राप्त करना है। सोम नाम ज्ञान का है, विवेक का है। जब हम सौम्य हो जाते हैं तो हममें दृढ़ता और पवित्रता आ

जाती है। जिस मानव के हृदय में यह निष्ठा हो जाती है कि इस सोम को पान करने वाला वह आनन्द-देव है, प्रभु है, तो वह प्रभु सदा उस पर दयालु रहता है तथा नम्रता को सदा प्रदान करता रहता है, मार्ग में आने में अनेकों कठिनायों की कठोरता को सहन करता हुआ वह अपने व्रत को पूरा करता चला जाता है। (चौदहवाँ पुष्प, २२-३-७० ई.)

वेद सदा नवीन रहता है

वेद ज्ञान में सदैव नवीनता बनी रहती है, उसमें किसी भी काल में वृद्धपन नहीं आता क्योंकि वह परमपिता परमात्मा की आभा है। वृद्धपन उन वस्तुओं में आता है जिनका निर्माण रहता है। जैसे मानव शरीर में वृद्धपन आता है क्योंकि उसका निर्माण माता के गर्भस्थल में हुआ है। पंच-महा भौतिक परमाणुओं के मिलान करने वाला वेत्ता कोई है, उसमें बाल्यकाल तथा वृद्धपन आता है तथा एक समय वह आता है कि उसका रूपान्तर हो जाता है। वेदों का ज्ञान सदैव उसी रूप में बना रहता है जैसे करोड़ों वर्ष पूर्व था। क्योंकि परमात्मा सर्वज्ञ है, वह एक चेतना है, उस चेतना का न कभी निर्माण हुआ और न होगा। वह सदा एकरस बना रहता है, उसमें वृद्धपन नहीं आता। इसीलिये उसके ज्ञान-विज्ञान में भी वृद्धपन नहीं आता। (पच्चीसवाँ पुष्प, ११-११-७२ ई.)

वेद-विद्या से विश्व का कल्याण

वेद की विद्या के द्वारा यह संसार ऊँचा बनता चला जाता है। ऋषियों की कल्पना यह रही है कि विश्व का कल्याण हो। वेद किसी

व्यक्ति विशेष की सम्पत्ति नहीं। यह तो विश्व के प्रत्येक प्राणी के लिये कल्याणकारी है। जब कोई उसे व्यक्तिवाद सम्पत्ति समझने लगता है तो संकीर्णता आ जाती है और तब इससे विश्व का कल्याण करने की कल्पना नहीं की जा सकती। (ग्यारहवाँ पुष्प, २-८-६८ ई.)

वेदवाणी में परमात्मा का ज्ञान-विज्ञान निहित रहता है। यह जगत विज्ञानमय है, तथा प्रतीत होता है कि यह जगत परमात्मा का ही विज्ञानमय स्वरूप है। क्योंकि परमात्मा को विज्ञानमय माना गया है। ज्ञान विज्ञान की आभा पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है, कि हमारे मुख से जो शब्द निकलते हैं, उनमें जितने परमाणु निकलते हैं उनमें भी एक प्रकार का मानवीय चित्रण होता है।

जब हम अपने मानवीय जीवन को विज्ञान की उस आभा पर ले जाते हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है, कि हम परमात्मा के विज्ञान-भवन में विराजमान हैं। वह परमात्मा महान् विज्ञानवेत्ता है जिसकी वैज्ञानिकता अनन्तता में परिणत है। वेद की आभा पर विचार करते समय तीन प्रश्न हमारे समक्ष आते हैं :.

१-वेद क्या है ?

२-वेद में किसकी आभा है ?

३-आभा किसके लिये मानी जाती है और किसका स्वरूप हमारे समक्ष आना चाहिये ?

उत्तर : परमात्मा को ज्ञान-विज्ञान स्वरूप माना गया है अर्थात् जितना भी विज्ञान भौतिकवाद, आध्यात्मिकवाद दृष्टिपात आता है, उसकी आभाओं और तरंगों का मौलिक स्रोत वह परब्रह्म परमात्मा

ही है। वह शून्यता में क्रिया लाने वाला है, उसे हम अपने हृदय में सदैव ध्यानावस्थित करते रहें, जिससे आध्यात्मवाद, मानववाद का दिग्दर्शन करके, इस संसार सागर से पार होते हुए, जीवन को महान् बनाते चले जायें। (अट्ठारहवाँ पुष्प, ११-४-७२ ई.)

वेद-वाणी में कोई न कोई अनुपम सन्देश होता है। वेद में परमात्मा को सर्वत्र माना है अर्थात् प्रकृति के कण-कण में तथा ऋत और सत् में व्याप्त है। (तेरहवाँ पुष्प, १३-४-७२ ई.)

वेद का अनुकरण

वेद की पुस्तकों के अक्षरों को पढ़ना अच्छी बात है। किन्तु लाभ तभी होगा, जब उसमें समाहित विद्या को अपने जीवन में ओत-प्रोत कर दें। (छठा पुष्प, १५-७-६४ ई.)

वेद के आधार पर ऋषियों द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलने के लिये हमें सर्वप्रथम चरित्र की आवश्यकता है। चरित्र के साथ-साथ मानव को वेद की व्याहृतियों (व्यवहारों) के अनुकूल चलकर अपने ज्ञान-विज्ञान को उन्नतिशील बनाना है। वेद और दर्शन के ऊपर हमें चलना है, यही हमारा सुपथ है। (छठा पुष्प, १९६६ ई.)

ऊर्ध्वगति कैसे करें?

एक-एक वेद मन्त्र में परमात्मा का महान् विज्ञान निहित है। मानव उसको क्रिया में लाना चाहता है। क्रिया में उस समय तक नहीं आ सकता, जब तक मानव का मनस्तत्त्व ऊँचा नहीं होगा, उससे प्राण-तत्त्व का मिलान नहीं होगा।

यदि मन ऊर्ध्व नहीं जाता, स्वच्छ नहीं बनता तो प्राण के समीप

कैसे पहुँचेगा ? विद्या का अध्ययन करना तो बहुत ही सहज कहलाया गया है। उससे हमारा जीवन अक्षरों का बोधि बन जाता है, अक्षरों का ज्ञान हमारे समीप आ जाता है। उन अक्षरों को जब हम गम्भीरता में ले जाते हैं, तो मेधावी बन जाते हैं। जब और भी शोधन करते हैं, तो वैज्ञानिकता में रमण करने लगते हैं। जब हम उसको और भी गम्भीरता में क्रिया में लाना चाहते हैं, तो ऋतम्भरा से पूर्ण मानव के जीवन का स्वच्छ-प्रकाश समीप आने लगता है। उस महान् स्वच्छ प्रकाश को जान करके मानव प्रकाशित होता है। वही प्रकाश मानव के जीवन को ऊँचा और ऊर्ध्वगति में ले जाता है। (सत्ताईसवाँ पुष्प, २-३-७६ ई.)

वेदानुकूल जीवन

वेद का पठन-पाठन परम्परा से परम-पवित्र माना गया है। परम-पवित्र उसे कहते हैं, जिसमें उस परमपिता की मनोहर आभाओं का तथा उसके ज्ञान-विज्ञान का सदैव दृष्टिपात होता रहता है। जब हम वेद विचार का दीर्घ दर्शन करते हैं, तब हमें प्रतीत होता है कि वास्तव में वेद क्या है?

जब योगियों का हृदय वेद के अनुकूल हो जाता है, १. मल, २. विक्षेप और ३. आवरण पृथक् हो जाते हैं। वैदिक प्रकाश से उसका हृदय प्रकाशित रहता है। वेद का ज्ञान-विज्ञान नितान्त (अत्यधिक) है। वह मानव के हृदय में इतना क्रियात्मक होना चाहिये कि हृदय इतना पवित्र हो जाये कि वह वेद के वाक्यों को श्रवण करना ही नहीं उन्हें क्रियात्मक रूप में लाना सहज स्वीकार कर ले।

यदि हम वेद का अनुकरण न करके उसको जीवन में धारण नहीं करते, तो वेद का पण्डित होने पर भी वह अक्षरों का बोधि ही कहलाता है, वैदिक नहीं कहलाता है, वैदिक नहीं कहलाया जा सकता। इसलिये हमें अपने जीवन को उसके अनुकूल बनाने का प्रयास करना चाहिये।

वेदों का ज्ञान बहुत गम्भीर है। हमें उसके ऊपर गौरव होना चाहिये। प्रभु ने हमें इसलिये दिया है क्योंकि जीव प्रभु के प्रिय पुत्र हैं। हम इस मार्ग से प्रकृति के आवेशों को त्याग कर अपनी मानवता को जानते रहें। प्रभु ने ऐसा उसमें संकेत दिया है। हमें योग की प्रक्रिया में जाकर प्रभु को जानना चाहिये। (सोलहवाँ पुष्प, १७-१०-७१ ई.)

वेदाध्ययन का अधिकार

वेद रूपी प्रकाश को जानने के लिये हमें आर्य बनना है। प्रकाश में चलने वाले को आर्य कहते हैं तथा अन्धकार में चलने वाले को अनार्य कहते हैं। (चौथा पुष्प, २८-७-६३ ई.)

हमारे यहाँ परम्परा से ब्रह्मवाद में कन्याएँ ब्रह्मवेत्ता थीं। विद्या को धारण करने वाली कन्याएँ वेदों का अध्ययन करती थीं। वेदों की विदुषियों ने अपने जीवन को निचोड़ा और निचोड़ कर संसार के समक्ष नियुक्त किया।

वेद की विद्या को पाने का अधिकार उन सभी को है, जो उसके अनुकूल चलने वाला हो, वह चाहे किसी कुल में उत्पन्न हुआ हो।१

महाभारत क्यों हुआ

प्रकाश ही वेद है और प्रकाश ही सौम्य है। इसलिये योग की मीमांसा तथा वेद का भाष्य रुढ़िवाद में नहीं जाना चाहिये। रूढ़िवाद ही समाज को अन्धकार में ले जाता है। महाभारत काल में दो प्रकार की मीमांसा होने लगी थी। उसका परिणाम निकला कि राष्ट्र में घृणा-द्वेष आ गया और संग्राम हो गया। अधिकार और अनाधिकार की मीमांसा भी होती रही। (बाईसवाँ पुष्प, १३-२-७४ ई.)

वेदमन्त्रों से वायुमण्डल का शुद्धिकरण

जहाँ पर ऋषियों का समाज वेदयुक्त भगवान की चर्चाएँ करता है, उस स्थान पर पापी का मन भी लालायित हो जाता है तथा उसका हृदय कहता है कि स्थान कितना पवित्र है, जहाँ मेरे दुर्भाव समाप्त हो गये

तथा हृदय पवित्र हो गया है। वह स्थान वेद के शब्दों से भरा है, इसमें पाप के भाव नहीं होते। इसी प्रकार जहाँ यज्ञ होता है, वहाँ यज्ञ की सुगन्धि और वेदमन्त्रों की ध्वनि वायुमण्डल में मिलकर आगे को रमण करती हुई देवताओं तक पहुँचती है। वे शब्दार्थ भी उसके साथ साथ अन्तरिक्ष में पहुँचते हैं। वे ज्ञान और विज्ञान की दृष्टि से ऊँचे भाव देते हैं। (चौथा पुष्प, १-४-७१ ई.)

शब्द भी एक अणु है। परमाणुओं के समूह का नाम ही शब्द है। वह द्यु-लोक में रमण करने वाला है तथा किसी भी काल में समाप्त नहीं होता। इस प्रकृतिवाद को वाणी, शुद्ध अन्तःकरण तथा मानवत्व के द्वारा जितना शुद्ध बनाना चाहें, बना सकते हैं। यदि इसको अशुद्ध कर दिया जाये तो अशुद्ध हो जाता है।

प्रलयकाल में वेद-ज्ञान परमात्मा में लीन रहता है

वेद का वैज्ञानिक सिद्धान्त यह है कि जो भी वाक्य अन्तरिक्ष में रमण करता है, वह नष्ट नहीं होता। वह तब तक नष्ट नहीं होता जब तक प्रकृति अपने स्थल में नहीं चली जाती। जैसे मानव के कर्मफल के अनुकूल मन का सम्बन्ध रहता है, इसी प्रकार अन्तरिक्ष के साथ इस वाक्य का सम्बन्ध रहता है। यह वाक्य अन्तरिक्ष का मन माना जाता है और रमण करता है। जब प्रलयकाल हो जाता है तो यह वाक्य अपने सूक्ष्म तत्त्व में चला जाता है, प्रकृति भी सूक्ष्म तत्त्व में चली जाती है। परमात्मा अपनी महत् सत्ता को अपने में शोषण कर लेता है। संसार की प्रलय हो जाती है। तभी यह वाक्य समाप्त होता है। (पाँचवाँ पुष्प, १८-१०-६४ ई.)

लोक-लोकान्तरों में वेद

गुरुवर्य ब्रह्मा जी के अनुसार वेदों का मूल कारण तो वह आदि ब्रह्मा परमपिता परमात्मा है, जो लोक-लोकान्तरों का स्वामी है। अतः वेद तो उसके राज्य में सभी लोक-लोकान्तरों में है, क्योंकि यह उसकी अपने पुत्रों को दयापूर्ण देन है।

जहाँ अग्नि होती है, अग्नि और वेद का तारतम्य बहुत निकट का होता है। अग्नि तो भौतिकता में परिणत हो जाती है। एक ज्ञान-शून्य वस्तु है।

परन्तु वेद एक ऐसा अनुपम प्रकाश है, जो शून्य अग्नि को प्रकाश में लाने का कार्य करता है। जैसे मानव शरीर में आत्मा के साथ ज्ञान और प्रयत्न दो स्वाभाविक गुण माने जाते हैं, परन्तु जड़ता और

प्रकृति के आवेशों से आत्मा का ज्ञान दबा हुआ है।

जब वेद रूपी प्रकाश की किरणें मानव के अन्तःकरण को छूती हैं, तो किरणों के आते ही उसका अन्तःकरण प्रकाशमान् हो जाते हैं और उसका हृदय ऊँचा होता चला जाता है। (आठवाँ पुष्प, अप्रैल-१९६५ ई.)

१३ त्रयोदश अध्याय-प्रचलित अलङ्कारिक-याज्ञिक शब्दों की व्याख्या

अजामेध

'अजा' शब्द के १. माता, २. पृथ्वी, ३. यज्ञ, ४. राष्ट्र और ५. प्रजा अर्थ होते हैं। 'मेध' शब्द के अर्थ १. यज्ञ और २. राजा होते हैं। हमें प्रसंग के अनुसार जिस शब्द के जिस अर्थ की आवश्यकता होती है, उसी का ग्रहण करना आवश्यक है, अन्य अर्थ का नहीं। इसी से मानव का विकास होगा और इसी से मानव का आत्मा उच्च बनेगा। (दूसरा पुष्प, ३-४-६२ ई.)

अहिल्या

१. पृथ्वी का नाम है, २ रात्रि का है, ३. माता का है, ४. आत्मा का है और ५. बंजर भूमि को भी अहिल्या कहते हैं।

(चौथा पुष्प, १७-४-६४ ई.)

६. प्रकृति तथा ७. विद्या को भी अहिल्या कहते हैं। अहिल्या का अभिप्राय है, जिसे दुहते हैं। (तेईसवाँ पुष्प, १८-११-७३ ई.)

८. जो अन्धकार को नष्ट करके प्रकाश को लाने वाली हो, उसको अहिल्या कहा जाता है। ९. इस आत्मा का नाम अहिल्या है क्योंकि यह मानव को प्रकाश में ला देती है। अहिल्या पृथ्वी का भी नाम है, जिसके गर्भ में जाकर भौतिक वैज्ञानिक खनिज और खाद्य को जानते हुए राष्ट्रीयता तथा मानवता दोनों को उज्ज्वल बना लेते हैं। (चौदहवाँ पुष्प, २७-३-७० ई.)

लोक-कथा

सृष्टि का आरम्भ होने के पश्चात् ब्रह्मा कमण्डलु से एक कन्या का जन्म हुआ। युवा होने पर इन्द्र ने उसको प्राप्त करने की इच्छा की। ब्रह्मा ने इसे स्वीकार कर लिया। जब इन्द्र देवताओं की सहायता के लिये चले गये तो ब्रह्मा ने इस अहिल्या कन्या को गौतम को इस आदेश के साथ दिया कि वह इसे इन्द्र को देदे।

इन्द्र ने लौटकर जब ब्रह्मा से इसे माँगा, तो उन्होंने उसे गौतम के पास भेज दिया। इन्द्र ने अपने साथ चन्द्रमा को लिया। चन्द्रमा द्वारपाल बना तथा इन्द्र मुर्गा बना। मुर्गा बोलने पर गौतम गंगा स्नान को चल दिये। वहाँ गंगा ने उन्हें बताया कि तुम्हारे गृह में छल हो गया।

गौतम ने लौटकर चन्द्रमा को भीगे वस्त्र से मारा तथा इन्द्र को सहस्त्र भगों वाला और अहिल्या को वज्र बनने का शाप दे दिया।

आगे पूछने पर अहिल्या को कहा कि त्रेता में जब राम आयेंगे, वे उद्धार करेंगे राम के पदों से अहिल्या अन्तरिक्ष को चली गयी।

उल्लिखित लोक कथा का वास्तविक स्वरूप

इस कथा के प्रसंग में रात्रि का नाम अहिल्या है, गौतम नाम चन्द्रमा का है, इन्द्र नाम सूर्य का है।

सूर्य ने अन्धकार को ब्रह्मा से माँगा, जिससे वह इसे अपनी सविता सत्ता से नष्ट कर सके, किन्तु ब्रह्मा ने इसे चन्द्रमा को दे दिया। चन्द्रमा रूपी गौतम रात्रि रूपी अहिल्या का पति है, वह इसका भोग करता है। संसार को सुख और आनन्द देता है।

प्रातःकाल इन्द्र रूपी सूर्य आकर अपनी किरणों से अहिल्या रूपी

रात्रि को अपने में रमण कर लेता है। सूर्य प्रतिबिम्ब से चन्द्रमा गदला (मलिन प्रकाशहीन) हो जाता है। (पाँचवाँ पुष्प, २०-१०-६४ ई.)

महर्षि गौतम की पत्नी का नाम भी अहिल्या था। (तेईसवाँ पुष्प, १८-११-७३ ई.)

वैदिक साहित्य में अहिल्या नाम रात्रि का है। अहिल्या नाम प्रकृति का है। गौतम नाम परमात्मा का भी है, गौतम चन्द्रमा को भी कहते हैं, परन्तु ये लोकोक्तियाँ होती हैं। अलंकारिक चर्चाएँ होती हैं।

रात्रि का जो प्राण है, जिसको मुर्ग कहते हैं, स्वभूति कहते हैं। गौतम परमात्मा रात्रि का पति है। जैसे सूर्य है, वह अपनी नाना प्रकार की किरणों की कान्ति में अन्धकार को अपने में समेट लेता है, धारण कर लेता है। रात्रि उसे अपने को समर्पित कर देती है।

ऐसे ही प्रकृति परमात्मा की गति से चल रही है। इसलिये प्रकृति को भी अहिल्या कहा गया क्योंकि परमात्मा इस प्रकृति को गतिशील बनाते हैं। यहाँ परमात्मा को गौतम माना है। इस प्रकृति को अहिल्या माना है।

बुद्धिमानों का कर्तव्य है कि अलंकारिक वाणी को अच्छी प्रकार जान लेना चाहिये। इनका अशुद्ध रूप बन जायेगा, तो समाज में अन्धकार छा जायेगा। अन्धकार से वर्णसंकरपना आ जाता है। उससे मानव का संयम समाप्त हो जाता है।

इसलिये वेद का ऋषि कहता है कि ''अहिल्याणि गच्छत्तः प्रभे अस्वातिः'' अहल्या कहलाती है, जो संसार का कल्याण करने वाली है, अहिल्या उस रात्रि को कहते हैं।

जब मानव प्रातःकाल से सायंकाल तक कार्य ही करता रहता है, और सायंकाल को जब थकित हो जाता है, तो माँ अहिल्या की गोद में यह मानव चला जाता है। निद्रा में तल्लीन हो जाता है। १. मन, २.बुद्धि, ३. चित्त, ४. अहंकार अपनी साम्य अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। अहिल्या माँ से वे शक्ति को प्राप्त करते हैं। उस शक्ति को प्राप्त करने के पश्चात् जब इन्द्र नाम का सूर्य उदय होता है और वह अहिल्या रूपी जो रात्रि है, उसमें समाहित हो जाती है तो यह मानव जागरूक हो जाता है और उतनी ही शक्ति को प्राप्त कर लेता है, जितनी शक्ति जाने वाले प्रातःकाल में थी। (तेईसवाँ पुष्प, १८-११-७३ ई.)

गौतम

परमात्मा का नाम भी है। (चौथा पुष्प, १८-४-६४ ई.)

अनुसन्धान

किसी वस्तु को यथार्थ रूपों में जानकर ज्यों का त्यों उच्चारण किया जाये, वह अनुसन्धान का तात्पर्य है। (उन्नीसवाँ पुष्प, १८-३-७२ ई.)

आर्य

'आर्य' की उपाधि उसको प्रदान की जाती है, जो श्रेष्ठ हो, सच्चा सनातन हो, परम्परा को मानने वाला हो, वैदिक विचारों तथा वैदिक ज्ञान-विज्ञान वाला हो, दुराचारी न हो।

ऐसे सच्चे सनातन को धारण करने वाले महा पण्डित को धन्य है। यदि वह दार्शनिक बनता है, तो उसके विचार संसार में ओत-प्रोत

होते हैं, और राष्ट्र तक पहुँचते हैं। यदि राजा तक पहुँचते हैं, तो वह धन्य हो जाता है। (चौथा पुष्प, २१-४-६४ ई.)

इन्द्र

इन्द्र की उपाधि उसको दी जाती है जो १०१ अश्वमेध यज्ञ कर लेता है।

अश्वमेध यज्ञ का अभिप्राय यह है, कि जो संसार को विजय करके अपनी भावनाओं से, अपनी विद्या से तथा अपने बल से यज्ञ कर देता है।

इन्द्र उसको कहा जाता है जो पूरे राष्ट्र मण्डल का एक नेतृत्व करने वाला होता है, एक नियमावली बनाने वाला होता है तथा राष्ट्र को अपने नियन्त्रण में लाने वाला होता है। जिसका कोई विरोध नहीं करता है।

वास्तव में ऐसा कोई होता ही नहीं, जिसका कोई विरोधी न हो। परन्तु यदि कोई विरोधी हो भी तो उसको अपनी विद्या से तथा अपने बल से विजय करने वाला हो। (सत्रहवाँ पुष्प, २२-२-७२ ई.)

राजा इन्द्र उसको कहते हैं, जो १०१ अश्वमेध यज्ञ करके इन्द्र बन कर हमारा कल्याण करता है। १०१ अश्वमेध यज्ञ वह करता है, जो अपनी संस्कृति से संसार को विजय कर लेता है।

इन्द्र देवताओं का अधिपति माना गया है, शिवपुरी और इन्द्रपुरी का स्वामी कहलाता है। हमारा राजा इन्द्र हो, जो देवताओं की दैत्यों और असुरों से रक्षा करने वाला हो और अपनी मनोहर संस्कृति तथा मानवता को पवित्र बनाने वाला हो। यह पदवी अनेक राजाओं जैसे

शिव आदि को दी गयी थी। (पाँचवाँ पुष्प, १९-१०-६४ ई.)

इन्द्र की उपाधि महाराजा अश्वपति को दी गयी थी। (अट्ठारहवाँ पुष्प, १३-४-७२ ई.)

इन्द्र बकासुर युद्ध आख्यान

एक समय इन्द्र बकासुर संग्राम हुआ जिसमें संसार का जीवन अस्त-व्यस्त हो गया। उस समय देवताओं के अधिराज इन्द्र ने यह विचारा कि इस बकासुर को मैं कैसे नष्ट करूँगा। उसने ऋषि मुनियों तथा देवताओं का एक समूह एकत्रित किया। देवताओं ने इन्द्र को प्रेरणा दी कि हे इन्द्र! यदि दधीचि की अस्थियाँ आये तो उसका वज्र बनेगा, तब बकासुर परास्त हो सकेगा, अन्यथा यह नष्ट नहीं होगा। यह बड़ा धूर्त है, यह पामर है। यह देवताओं का शत्रु बनकर देवताओं से संग्राम करता है।

इन्द्र ने इस वाक्य को सुनकर प्रस्थान किया। वह भ्रमण करते हुए महात्मा दधीचि के द्वार पर जा पहुँचे।

महाराज दधीचि के यहाँ एक कामधेनु गौ थी। कामधेनु गौ ने दधीचि की अस्थियों के ऊपर जो माँस था उसे अपनी जिह्वा से पान कर लिया। जब अस्थियाँ रह गयी, तो अस्थियाँ महाराजा इन्द्र को प्रदान कर दी गयीं। उसका वज्र बना और वज्र बन करके बकासुर का विनाश हुआ।

कथा का यथार्थ-अभिप्राय

बकासुर नाम १. अभिमान, २. क्रोध, ३. काम, ४. तृष्णा, और

५. मेघ का है। बकासुर की गदा का अर्थ १. कामना और २. क्रोध रूपी विद्युत है। देवता दैवी प्रवृत्तियाँ हैं।

इन्द्र का अर्थ१. आत्मवेदना, २. आत्मा, ३. वायु है।

दधीचित्रदध्ृचि, यह जो धारणा की जाती है। उसकी 'प्रवअस्वय' (दध्-धारणे) धातुओं से उत्पन्न होने के पश्चात्, यहाँ दधीचि नाम, यहाँ विवेक और ज्ञान को कहा गया है, तेज या सूर्य भी है।

दधीचि की अस्थियाँ ज्ञान और विवेक से उत्पन्न होने वाली तरंगें हैं, जो बकासुर शत्रु का नाश करती हैं।

सूर्य की किरणों को भी कहा है।

कामधेनु है स्वाध्याय; मानव की शान्त प्रवृत्तियाँ, विद्या (ब्रह्म-विद्या), प्रकृति।

आध्यात्मिक व्याख्या

अभिमान को सबसे पहले नष्ट किया जाता है। जिस मानव के द्वारा अभिमान होता है, वह कदापि भी आत्मवेत्ता नहीं बन सकता। क्योंकि उसका बकासुर जीवित है। वह जीवित रहता हुआ मानव के सुकृतों को हनन करता रहता है। वह कभी ऊर्ध्व (ऊँचा-प्रबल) जाता है, कभी ध्रुव (निम्नगति) में आता है। किसी काल में वह उन्नत होता रहता है।

वही बकासुर है जो क्रोध रूप में धारण होता है, वही बकासुर है, जो मृत्यु को प्राप्त होता है। जितनी निराशा आ जाती है, क्रोध की मात्र उतनी ही प्रबल हो जाती है।

वही काम बनकर शरीर का ह्रास किया करता है, वही बकासुर प्रभु से सन्धि नहीं होने देता।

वही अभिमान रूपी बकासुर तृष्णा के रूप को भी धारण कर लेता है। १-काम, २-क्रोध, ३-मद, ४-मोह, ५-लोभ इन सर्वरूपों को धारण करता है। इन्हीं के द्वारा वज्र या गदा बनाता है, जिससे वह प्रहार करता है और सुकृत नष्ट हो जाते हैं।

ज्ञान और विवेक रूपी दधीचि की अस्थियों को लेकर दोनों की सन्धि करता है तो उसका वज्र बनता है, वज्र बन करके बकासुर को नष्ट ही किया जाता है।

दधीचि की कामधेनु-रूपी स्वाध्याय, शान्त प्रवृत्तियाँ तथा विद्या शनैः शनैः उस आध्यात्मिक मार्ग के साधक में विवेक लाती रहती हैं और उसकी निन्दा रूपी माँस को निगलती रहती हैं। विद्या के गर्भ में अज्ञान चला जाता है। जब ज्ञान हो जाता है तो अज्ञान कामधेनु के गर्भ में चला जाता है।

आधिदैविक व्याख्या

वायु रूपी इन्द्र बकासुर रूपी मेघों पर अपनी पत्नी शचि के द्वारा प्रहार करता है। सूर्य रूपी दधीचि अपनी अस्थियों रूपी किरणों के द्वारा समुद्र को तपाता है, इन मेघों को तपाता है, तथा वायु में भरण कर देता है।

वायु इन्द्र का स्वरूप धारण करके उन किरणों के तेज का वज्र बनाकर मेघ रूपी बकासुर को छिन्न-भिन्न करता हुआ शचि के तप के

द्वारा धीमी-धीमी वृष्टि कर देता है, उससे वनस्पतियों का जन्म होता है। (पच्चीसवाँ पुष्प, ६-१०-७२ ई.)

इन्द्र नाम वायु का तथा बकासुर मेघ का नाम है। मेघ समुद्र से जल लेकर वर्षा नहीं करता है। उस समय यह इन्द्र अपने प्राण रूपी वज्रों से मेघों पर आक्रमण करता है। मेघों को छिन्न भिन्न करने का नाम ही वर्षा है। बकासुर शान्त हो जाता है, वही हमारे लिये शान्तिदायक है। (तीसरा पुष्प, १२-३-६४ ई.)

ऊषा : नाम सूर्य की किरण का है।

(पाँचवाँ पुष्प, २०-१०-६४ ई.)

कृष्ण :

नाम प्राणों का भी है। शरीर में जिस समय अन्धकार छाया हुआ होता है और ये प्राण तीव्र गति से चलते होते हैं, ये शरीर की रक्षा करते हैं, अन्धकार के स्वामी होने के नाते प्राणों को भी कृष्ण कहते हैं। (सातवाँ पुष्प, २२-८-६२ ई.)

कागभुषुण्ड

ये पक्षी नहीं बल्कि ऋषि हुए हैं। जो काक की भाँति वाक्य उच्चारण करने वाला हो उसे काक कहते हैं। जैसे काक ही चंचल वृत्ति होती है उसी प्रकार जो ऋषि चंचल वृत्ति से रहता है, वह काक ऋषि कहलाता है।

परन्तु जब वह अपने विचारों पर, अपनी वाणी पर नियन्त्रण करके संसार के ज्ञान-विज्ञान को जान लेता है, उसको काक भुशुण्ड कहते हैं। (चौथा पुष्प, २१-४-६४ ई.)

गणेश

गणेश की परम्परा से उपाधि चली आ रही है। शिव के पुत्र का नाम भी गणेश था। (चौबीसवाँ पुष्प, १-५-७३ ई.)

गणेश कहते हैं प्रारम्भ को। प्रारम्भ में केवल एक प्रभु रहता है, इसीलिये उसका पूजन होता है। जब भी कोई पूजा होती है तो उस समय महाराज शिव का पूजन, शिव नाम उस गणपति का है, जिसका पूजन होता है। गणेश का अभिप्राय यह है कि गणो-गणो अस्ति, गणेभ्यो नमः, अस्त गति नमः।' वेद में आता है 'गणेभ्यो नमः'। जो गणपति है वह प्रभु है, जो चेतना है, जो आरम्भ में था। जब यह संसार शून्य गति में रहता था तो उस समय यह प्रभु ही था, जिसको गणपति कहते हैं। गणपति या गणेश प्रभु का जो उदर है, वह इतना ऊर्ध्व (विशाल) है कि सर्व संसार उसी प्रभु के गर्भ में वास करता है, उसी के गर्भ में रमण करता है। (चौबीसवाँ पुष्प, १-५-७३ ई.)

गणेश नाम परमात्मा का भी है तथा मानव को भी कहते हैं। यह एक उपाधि भी है। गणेश उसको कहते हैं जो गणेति हो, गणैति करने वाला हो। अयुक्त (निर्लिप्त) रहने वाला हो, जिसको न राग हो न द्वेष हो।

जिसकी घ्राण शक्ति अधिक हो, जो सब गन्ध-सुगन्ध को अपने में धारण करने वाला हो। (दूसरा पुष्प, ७-३-६२ ई.)

शिव

१-राजा का नाम है, २-सूर्य का नाम है, ३-परमात्मा का नाम है,

४-शिव पर्वतों का नाम भी है। 'शिव' शब्द नाना प्रकार की धातुओं से बना है। (तीसरा पुष्प, १७-४-६२ ई.)

५-शिव नाम की औषधियाँ भी हैं।

(चौदहवाँ पुष्प, ६-३-७० ई.)

६-जिस राजा के राज्य में ज्ञान एवम् विज्ञान से, आत्मिक-बल से, वेदों के स्वाध्याय से, प्रजा महान् व ऊँची हो, देवकन्याएँ और मानव ऊँची भावना वाले कैलाश पर्वत के समान हों, उस प्रजा के स्वामी को शिव कहा जाता है। (दूसरा पुष्प, ७-१-७३ ई.)

७-आत्मा का नाम भी (शिव) है। (चौबीसवाँ पुष्प, १-५-७३ ई.)

८-न्यायकर्त्ता का भी नाम है।

९-शिव, संकल्प भी है।

शिव की उपाधि

शिव की उपाधि उसको दी जाती है जो पुरुष महान् आकृति वाला हो। महान् आकृति से तात्पर्य यह है कि जिसकी प्रवृत्ति इतनी विशाल हो कि जैसा विशाल कैलाश पर्वत है, उसको भी निगल जाती हो अर्थात उसकी कठोरता को भी सहन करने की शक्ति हो। उसमें अहिंसा का भाव हो और उसमें हिंसा न आने वाली हो। (सत्रहवाँ पुष्प, २८-२-७२ ई.)

विष्णु

'विश्वन्ति' शब्द से विष्णु शब्द की उत्पत्ति हुई है, विष्णु ज्ञानी को कहते हैं जो परमात्मा के गुणों को धारण करने वाला हो, उच्चकर्म करने वाला हो। (प्रथम पुष्प, ६-४-६२ ई.)

१-आत्मा, २-परमात्मा, ३-राजा तथा ४-सूर्य का नाम विष्णु है।

परमात्मा का नाम विष्णु है, जो संसार का पालन कर रहा है, इन लोक-लोकान्तरों को स्थिर करके उन्हें अपनी परीधि में रमण कर रहा है, किसी भी लोक में तथा स्थान पर रहने वाले प्राणियों को जीवन विष्णु का दिया हुआ है। सबका कल्याण करने से परमात्मा का नाम विष्णु है। (चौथा पुष्प, १७-४-७४ ई.)

विष्णु की पदवी

विष्णु की पदवी उस राजा को दी जाती है जिसकी चार भुजाओं में से १-एक में पद्म, २-दूसरे में गदा, ३-तीसरे में शù और ४-चौथे में चक्र हो।

१-पद्म नाम सदाचार और शिष्टाचार का है। जिस राज्य में सदाचार न हो, हृदयों में एक-दूसरे का सम्मान न हो, वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

राष्ट्र में यथार्थ विद्या हो, विद्या में सदाचार और शिष्टाचार हो, ऐसी विद्या राज्य को सफल बना देती है।

२-गदा नाम क्षत्रियों का है। राज्य में क्षत्रिय बलवान हों, उन्हें अपनी आत्मा का ज्ञान हो, वे ब्रह्मचर्य से पुष्ट हों, अपराधी को दण्ड देने में समर्थ हों, दुराचार को न रहने दें। अपने राष्ट्र की वार्ता दूसरे राष्ट्र में न पहुँचने दें। जिस राज्य में ऐसे क्षत्रिय हों वह सफल होता है।

३-चक्र नाम संस्कृति का है, संस्कृति वह अमूल्य वाणी है जो मानव को शिष्टाचार तथा सदाचार देने वाली है। जो वाणी राष्ट्र से

लेकर कृषि करने में, व्यापार में, धनुर्विद्या में, नाना प्रकार के यन्त्रों के अविष्कार में, सदाचार में, ब्रह्मचर्य के सुरक्षित रखने में, और परमात्मा तक पहुँचने में ओत-प्रोत हो, वह संस्कृति कहलाती है।

४-शंख : शंख नाम वेद-ध्वनि का है। जिस राजा क राष्ट्र में वेद-ध्वनि विभिन्न प्रकार के पाठों में हो, वहाँ का अन्तरिक्ष वेद-मन्त्रों से आच्छादित रहता है। (चौथा पुष्प, १७-४-६५ ई.)

विष्णु की पदवी उसको दी जाती है जिसमें मान और अपमान न हों तथा जिसमें महत्ता के दर्शन हों।

सूर्यमण्डल के राजा को भी विष्णु कहा जाता है। (सत्रहवाँ पुष्प, २२-२-७२ ई.)

वामन

१-वामन पुरोहित को कहते हैं जो नाना प्रकार के प्रमाण देकर मानव के अन्धकार को समाप्त कर देता है।

२-वामन नाम सूर्य का भी है जो संसार के अन्धकार को स्वयम् समाप्त करता है।

३-वामन नाम परमात्मा का भी है। क्योंकि सृष्टि जब रची जाती है, तो मानव वामन रूपों को धारण करके इस संसार रूपी चक्र को रचता है, इससे मानवत्व पवित्र बनता है। (सातवाँ पुष्प, ३०-९-६४ ई.)

प्रकृति

प्रकृति का नाम १-देवी, २-धेनु, ३-रेणुका, ४-काली माँ, ५-दुर्गेवति, ६-सोमधामकेतु, वैष्णावी आदि हैं।

ब्रह्मा

वेदों का पण्डित होने के नाते, कर्मकाण्ड युक्त होने के नाते, रचना कराने के नाते 'ब्रह्मा' की उपाधि प्रदान की जाती है।

(सत्रहवाँ पुष्प, २२-२-७२ ई.)

ब्राह्मण

१. ब्राह्मण सूर्य को भी कहते हैं। क्योंकि वे जब प्रातःकाल में आते हैं, तो तीनों लोकों को तपायमान कर देते हैं।

२. ब्राह्मण उसी को कहते हैं, जो प्रकाश देने वाला हो।(दूसरा पुष्प, ३-४-६२ई.)

नग

१. नग किरणों का नाम है, २. प्रकृति का भी। (पाँचवाँ पुष्प, १९-१०-६४ ई.)

लिंग

१. ज्ञान का नाम है, तथा २. द्रव्य का भी।(आठवाँ पुष्प, १३-११-६३ ई.)

वसुन्धरा

१. वसुन्धरा पृथ्वी को कहते हैं। क्योंकि इसमें खाद्य पदार्थ, वनस्पतियाँ तथा खनिज पदार्थ उत्पन्न होते हैं। यह कल्याणमयी है, हम इसके गर्भ में बसते हैं। इसीलिये इसे वसुन्धरा कहते हैं। यह हमें जीवन देती है, हमारा पालन करती है। हम इसे नमस्कार करें।

२. वसुन्धरा उस महान् प्रभु को भी कहते हैं, जिसके गर्भ में सर्व ब्रह्माण्ड है। जिसकी प्रक्रिया में यह पृथ्वी क्रियाशील हो रही है।

(बारहवाँ पुष्प, ८-४-६१ ई.)

सूर्य

सूर्य का नाम विष्णु भी है। क्योंकि वह हमें प्रकाश देता है। विष्णु उसको कहते हैं, जिसके प्रकाश में अन्धकार को नष्ट करने की भावना भी हो तथा सत्ता भी हो और प्रकाश को लाता भी हो। (चौथा पुष्प, १७-४-६४ ई.)

सूर्य के अन्य नाम १. वराह, २. सिंह, वामन अवतार हैं। सूर्य अपनी किरणों से संसार को प्रकाशित करता है, इसीलिये वामन तथा ब्रह्मण कहलाता है। (सातवाँ पुष्प, ३०-९-६४ ई.)

सोम

सोम चन्द्रमा का नाम है, तथा समुद्र का भी है। (पन्द्रहवाँ पुष्प, २३-८-७१ ई.)

चन्द्रमा का नाम कृति है। वह कान्तिदायक है। (चौथा पुष्प, १७-४-६४ ई.)

चन्द्रमा का नाम गौतम है। (सातवाँ पुष्प, ३०-९-६४ ई.)

शकुन्तला

१. विद्या का नाम है। २. माया का नाम भी शकुन्तला उस काल में होता है, जब राष्ट्र को ऊँचा बनाने वाली हो। ३. इसे लक्ष्मी भी कहते हैं। (सातवाँ पुष्प, ३०-९-६४ ई.)

श्यामकरण

१. श्यामकरण मन, २. अग्नि, तथा ३. सूर्य को भी कहते हैं। (तीसरा पुष्प, ९-३-६२ ई.)

स्वायम्भुव मनु

जो एक मन्वन्तर के आरम्भ में आकर राष्ट्र का ऊँचा निर्माण कर दे, उसको यह उपाधि दी जाती है। (दूसरा पुष्प, २१-८-६२ ई.)

शचि

शचि विद्युत् का नाम है, जो जल, वायु, अग्नि और पृथ्वी में रमण करती है। (पाँचवाँ पुष्प, १९-१०-६४ ई.)

संस्कृति

संस्कृति उसको कहते हैं, जिस वाणी में, जिस भाषा में यौगिकता हो, सदाचार को देने वाली हो, ऊँचे विचार देने वाली हो और जिसमें सम्पन्न विद्याएँ हों। संस्कृति किसी व्यक्तिगत भाषा का नाम नहीं।

संस्कृति उसको कहते हैं, जिससे मानव का चरित्र बनता हो, उसके दुर्गुण नष्ट होते हैं।

राष्ट्रीय संस्कृति वह है, जिससे राष्ट्र पवित्र बनता हो, सदाचार की भावनाएँ आती हों; उसमें संसार का ज्ञान-विज्ञान भी हो।

ऐसी संस्कृति वही है, जो हमारे ऋषियों की परम्परा है, जिसमें ऋषियों का योगित्व भरा है।

सबसे उत्तम संस्कृति वेद में है और जो वेद से अनुकरण की हुई भाषा है, उसको संस्कृत कहते हैं। (पाँचवाँ पुष्प, १९-१०-६४ ई.)

संकल्प

उदाहरण :.१. माता का पुत्र है तथा पिता का भी पुत्र है। माता का यह संकल्प है, कि यह मेरा पुत्र है। पुत्र का भी संकल्प है कि

यह मेरी माता है, जिसके गर्भ से मैंने जन्म लिया है। उसके गर्भ में मैंने अपनी प्रतिभा को प्राप्त किया है, मुझे उसका निरादार रहीं करना चाहिये।

२. इसी प्रकार पति-पत्नी का भी संकल्प है। उसमें भी शिव का संकल्प है। यह मानवीय संकल्प कहलाता है।

१. यह जगत प्रभु का शिव-संकल्प है। उसी संकल्प के आधार पर यह संसार की चेतना चल रही है, यह संसार अपनी क्रिया में क्रियाशील हो रहा है।

४. शिव-संकल्प ही मानवता को उज्ज्वल बनाता है। इसीलिये मानव को संकल्प करना चाहिये, जिससे उसके जीवन में ह्रास न आये।

५. यह शरीर परमाणुओं का पिण्ड है, जो आत्मा का संकल्प है। जितना भी यह पिण्डवाद है, यह शिव प्रभु का ही एक उज्ज्वल संकल्प है।

६. सूर्य परमात्मा का संकल्प है, इसीलिये इसको शिव कहा जाता है। यह संकल्प संसार को क्रियाशील बना रहा है।

(चौदहवाँ पुष्प, ६-३-७० ई.)

नारद

नारद मन को और परमात्मा को भी कहते हैं तथा नारद नाम के ऋषि भी हुए हैं। यह ऋषि पद्वी है। (बारहवाँ पुष्प, ३-१०-६४ ई.)

जो मन की गति जान जाता है और उस गति से स्वयम् चलने वाला बन जाता है, उसे नारद की उपाधि मिल जाती है। (दूसरा

पुष्प, २१-८-६२ ई.)

१. यह इस प्रकार की उपाधि है कि जिसके मन की गति ज्ञान के सहित इतनी प्रबल हो कि मन की क्षमता में कहीं का कहीं रमण कर जाता है।

२. उसी प्रकार जो ब्रह्मवेत्ता बन करके तथा ध्यानावस्थित हो करके इस संसार का दिग्दर्शन करने वाला हो।

३. जो अपने मन में किसी प्रकार का कपट न रहने दे, उसको नारद कहा जाता है।

नारद का अभिप्राय यह है कि जो अपने को इस संसार में रमण करा देता है। संसार में अपनी आभाओं तथा इच्छाओं को त्याग देता है। वह लोक-लोकान्तरों में अपनी आभाओं को ले जाने वाला होता है। (सत्रहवाँ पुष्प, २२-२-७२ ई.)

वशिष्ठ

१. वशिष्ठ मुनि का वर्णन उस काल में भी है जब वहाँ स्वायम्भुव मनु थे। स्वायम्भुव मनु के पुत्र इक्ष्वाकु ने एक पुत्रेष्टि यज्ञ कराया था। इस यज्ञ को वशिष्ठ ने कराया था, वे ही इस यज्ञ के ब्रह्मा थे।

२. त्रेता युग में वशिष्ठ पुरोहित माने जाते थे।

स्वायम्भुव मनु के ७५०० वंशज हुए हैं। (अर्थात् इनका वंश ७५०० पीढ़ियों तक चला था।)

२. स्वायम्भुव मनु के पुत्र का नाम इक्ष्वाकु मनु था।

३. इक्ष्वाकु मनु के पुत्र का नाम सूर्य मनु था।

४. सूर्य मनु के पुत्र का नाम चन्द्रकेतु मनु था।

५. चन्द्रकेतु मनु के पुत्र का नाम रेनकेतु मनु था।

६. वशिष्ठ आगे इसी वंश में ज्ञानश्रुति-मनु के काल में भी रहे।

७. आगे वशिष्ठ सूर्य वंश में तथा रघुवंश भी पुरोहित रहे।

वशिष्ठ एक उपाधि है

राज्य का पुरोहित वही होता है, जो अपने जीवन को संयममय बना लेता है और ब्रह्म को अपने में समाहित कर लेता है।

मानव के समीप दो प्रकार के भय हैं, १-एक सामाजिक, २-दूसरा ईश्वर का।

जो ईश्वर को जानते हुए परमात्मा को प्राप्त हो जाते हैं, ऐसे (व्यक्ति) वशिष्ठ पुरुष होते हैं।

उनको लोग अपना ब्रह्मवेता चुना करते हैं। ब्रह्मवेत्ता की उपाधि उसको प्राप्त होती है, जिनमें कर्म-काण्ड भी हो तथा कर्मकाण्ड के साथ साथ उसका जीवन परिमार्जित हो। (सत्रहवाँ पुष्प, २२-२-७२ ई.)

एक बार स्वांगकेतु को वशिष्ठ बनाने के लिये सोमकेतु ऋषि के आश्रम में दधीचि, श्वेतकेतु आदि ऋषियों का समाज एकत्रित हुआ था। स्वांगकेतु को वशिष्ठ की उपाधि इसलिये दी जानी थी कि वे इतने दृढ़ और साहसी थे कि चाहे पुत्र समाप्त हो जाये, (चाहे) पत्नी समाप्त हो जाये, (चाहे) आश्रम नष्ट हो जाये, परन्तु वे अपनी सत्ता को नष्ट नहीं होने देते थे। (ऐसे कठिन काल में भी) उनका अन्तःकरण विनाश को प्राप्त नहीं होता था।

इसीलिये (उस) महात्मा ऋषि को ब्रह्म का उपदेश देने का

अधिकार उसे प्राप्त होता था। (अट्ठारहवाँ पुष्प, १३-४-७२ ई.)

गरुड़

यह विष्णु का वाहन कहलाता है, विष्णु परमात्मा का भी नाम है।

गरुड़ नाम ज्ञान-विज्ञान का है।

'विष्णु' सतयुग में एक उपाधि थी जिसका वैज्ञानिक 'गरुड़' था।

(पन्द्रहवाँ पुष्प, २८-१०-७० ई.)

गरुड़ वह होता है जो सर्प को निगलकर अपने उदर की पूर्ति करता है।

गरुड़ ऋषि वही कहलाता है जो मन रूपी सर्प को निगलकर अपने उदर की पूर्ति करता है, वही राष्ट्रवादी कहलाता है, वह ही अपनी प्रजा पर शासन करने का अधिकारी होता है।

गरुड़ बनने के लिये सर्वप्रथम स्वार्थभाव को निगलना है, जो हमारा सबसे बड़ा शत्रु है, स्वार्थभाव के साथ-साथ मन को भी निगलता है।

वेद विद्या ऐसा प्रकाश है जो मन पर छाये अन्धकार को नष्ट कर देता है। गरुड़ बनने पर ही मनुष्य राष्ट्रवादी बनता है।

राष्ट्रवादी बनने के पश्चात् राष्ट्र में जो दुराचारी होता है, अशिष्टाचारी होता है, उसको दण्ड दिया जाया करता है। जिस राजा के राष्ट्र में दुराचारी को दण्ड मिलता है, उसके राष्ट्र में किसी प्रकार का पाप नहीं होता। यह दण्ड वही राजा देता है, जो ज्ञान विज्ञान में परिपक्व होता है।

महर्षि गरुड़ ने कहा था"अपने जीवन का राष्ट्र सर्वोत्तम कहलाता है। यदि मानव अपने शरीर रूपी राष्ट्र पर शासन कर लेता है, तो वह संसार पर शासन कर लेता है।" (चौथा पुष्प, १८-४-६४ ई.)

गो

जो दुही जाती है, उसका नाम गौ है। १. गौ नाम पशु का है, जो दूध देता है। २. गौ नाम इन्द्रियों का है। ३. गौ नाम सूर्य की किरणों का है। ४. गौ नाम चन्द्रमा की कान्ति का है तथा ५. गौ नाम पृथ्वी का भी है। (पाँचवाँ पुष्प, १९-१०-६४ ई.)

गौ नाम पृथ्वी का है, जो दुही जाती है। कृषि करने वाला वैश्य जब इस गौ रूपी पृथ्वी की चमड़ी उधेड़ कर उसके माँस में बीज की स्थापना करता है, तो इससे नाना प्रकार के अन्न, सोम लताएँ, तथा वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार यह पृथ्वी दुही जाती है। इसी प्रकार वैज्ञानिक इस पृथ्वी के विज्ञान को जानकर इससे नाना प्रकार के खनिज पदार्थों को प्राप्त करता है। वह जान लेता है कि अमुक स्थान में स्वर्ण मिल सकता है और यन्त्रें के बनाने में प्रयोग होने वाले खनिज पदार्थ प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार पृथ्वी को कृषक और वैज्ञानिक दोनों दुहते हैं। अतः इसका नाम गौ है।

६. माता का नाम गौ है। उसे दुहने वाला उसका पुत्र है। वह उसकी लोरियों से दुग्ध पान करता है, तथा जीवन और आनन्द पाता है।

७. जल का नाम भी गौ है क्योंकि वैज्ञानिक इसका मन्थन

करके नाना यन्त्रों द्वारा विद्युत् को निकालते हैं। इस विद्युत् से नाना प्रकार के यन्त्र बनाते हैं। उनसे नाना प्रकार के परमाणुओं को एकत्रित किया जाता है। (पाँचवाँ पुष्प, १९-१०-६४ ई.)

जैन

इस शब्द की वैदिक सन्धि करने पर इसके अर्थ 'अहिंसा परमो धर्मः' बनते हैं। जहाँ 'अहिंसा परमों धर्मः' की पवित्र वेदी होती है, उसी को जैन समाज कहा जाता है। (पन्द्रहवाँ पुष्प, २३-८-७१ ई.)

जनक

जो महान् व्यक्ति अपनी धार्मिकता से अपने मन को विदेह बना लेता है, वह व्यक्ति उस राज्य का जनक चुना जाता है।(सातवाँ पुष्प, २२-८-६२ ई.)

धेनु

१. बुद्धि का नाम है। २. पृथ्वी का भी है। तथा ३. पशु भी होता है। (नौवाँ पुष्प, २६-१०-६७ ई.)

नम

परमपिता परमात्मा को नमः और उसके बनाये पदार्थों को नमः किया जाता है। जब बुद्धिमान् समक्ष आता है, उसके चरणों को स्पर्श करके नमः करता है। हे इन्द्र ! नमः। बालक अपनी माता के चरणों को स्पर्श करके नमः करता है। माता आयुष्मान् कहती है। जब ब्राह्मण पुरोहित अपने बुद्धिमान यजमान के घर पर जाता है, तो यजमान चरणों को स्पर्श करके नमः करता है। ब्राह्मण कहता हैआयुष्मान् कुशलम् भवतु। कुशल से और आनन्द से रहो। तुम्हारी

आयु दीर्घ हो।

पृथ्वी माता को नमः। हम तेरी गोद में आये हैं। प्राणों के लिये नमः। हे प्राण ! तू वास्तव में शुद्ध और पवित्र है, परमात्मा की देन है।

दुष्टों को नमः। ठगों को नमः। किन्तु इनको भुजों से नहीं बल्कि डण्डे से नमः की जाती है। सिंह को भी नमः। इसको दो प्रकार से नमस्कार किया जाता है।

आत्मा तत्त्व को जानने वाला प्रेम से नमस्कार करता है। लोमश, गार्गी, ब्रह्मा, शृंगी आदि ऋषियों के चरणों को सिह स्पर्श करते थे। (तीसरा पुष्प, १२-३-६२ ई.)

उपाधियों का महत्व

ऋषियों की उपाधियाँ परम्परा से चली आ रही हैं। जैसे १. शिव २. विष्णु, ३. ब्रह्मा ४. वशिष्ठ ५. भारद्वाज ६. शृंगी ७. विश्वामित्र आदि। (सत्रहवाँ पुष्प, २२-२-७२ ई.)

हमारे यहाँ परम्पराओं से ये उपाधियाँ बुद्धिमानों के द्वारा परिमार्जित चुनाव होकर दी जाती हैं। उनका मान और प्रतिभा भी एक आभा में सदैव रमण करती रहती है। उस समय आभा के कारण भी नाना प्रकार की उपाधियाँ दी जाती थीं। उपाधि का अभिप्राय यह है कि चुनते समय बुद्धिमान उसकी परीक्षा लेते थे कि यह ऋत् और सत् को जानने वाला है, इसको क्रोध ते नहींआता। उसको ब्रह्मवेत्ता करके पुकारा जाता था तथा सर्वत्र बुद्धिमानों का तथा ब्राह्मण समाज को मान्य होता था। वह ब्रह्मचारी कहलाता था।

(सत्रहवाँ पुष्प, २२-२-७२ ई.)

उपाधियों के द्वारा राष्ट्र और समाज ऊँचा बनता है। उपाधि देने के लिये चुनाव महापुरुषों तथा बुद्धिमानों द्वारा होता है। परम्परा से राष्ट्र और समाज के कल्याण के लिये उपाधियों का निर्माण किया जाता है क्योंकि अधिकारी को वस्तु दी जाती है, वह अधिकारी उस वस्तु को लेकर उसका सदुपयोग कर सकता है। इसी प्रकार उन उपाधियों का भी सदुपयोग किया जाता था।

अतः जब सदुपयोग की भावना को अपने मस्तिष्क में लाते हैं, तो विचार यही आता है कि अधिकारी को ही वस्तु प्रदान की जाये जिससे राष्ट्र और समाज ऊँचे बनें।

जब समाज में अधिकारी तथा अनाधिकारी का विचार नहीं रहता तथा उनका निर्माण बुद्धिमानों और वैज्ञानिकों द्वारा नहीं होता, तो उसका परिणाम यह होता है कि रक्त भरे विचार मानव के मस्तिष्क में आ जाते हैं क्योंकि स्वार्थ की मात्रा प्रबल हो जाती है। स्वार्थ उस काल में आता है, जब अनधिकारी को वस्तु प्रदान कर दी जाती है। जैसे राष्ट्र नेता या राष्ट्रपति का चुनाव यदिबुद्धिमान विवेकी ब्राह्मणों द्वारा नहीं होगा तो वह राष्ट्र के लिये इतना हितकार नहीं होगा। इसके विपरीत जब इसका चुनाव बुद्धिमानों तथा पवित्र पुरुषों के द्वारा होगा तो वह राष्ट्रपति राष्ट्र के लिये उन्नति का कारण बनता है। उस समय समाज में शान्ति होती है, विद्या का प्रसार होता है। इसीलिये चुनाव सुन्दर होना चाहिये तथा अधिकारी को ही वस्तु प्रदान की जाये। (सत्रहवाँ पुष्प, २२-२-७२ ई.)

मनुष्य को वैज्ञानिक बनकर उपाधि प्राप्त करनी चाहिये। दो प्रकार की उपाधियाँ मानी जाती हैं। प्रथम अक्षरों की उपाधि, द्वितीय जहाँ अक्षरों का लेश नहीं।

दूसरे प्रकार की उपाधि वह है जब यह आत्मा उस मनोहर प्रभु में संलग्न हो जाता है और प्रत्येक इन्द्रिय का विषय शान्त हो जाता है। केवल आत्मा मंगलाचरण में जाती है, मंगलमय उसका जीवन हो जाता है।

हमें वह उपाधि धारण करनी चाहिये जिससे हमारे जन्म-जन्मान्तरों के क्लिष्ट कर्म हो जायें। हम सत्य वादी बनें, नास्तिक न बनें। (छठा पुष्प, १५-७-६४ ई.)

समाज में जब अधिकारी तथा अनधिकारी का निर्माण सुन्दर चुनाव के द्वारा होता है और राष्ट्र में मानवता आ जाती है, समाज ऊँचा बन जाता है, तो वैज्ञानिक यन्त्रों का निर्माण तथा लोक-लोकान्तरों की यात्राएँ सफल हो जाती हैं। (सत्रहवाँ पुष्प, २२-२-७२ ई.)

उपाधि का उदाहरण

महाराजा अश्वपति की आयु २८५ वर्ष की थी। बारह वर्ष की आयु में उनका उपनयन संस्कार किया गया था। उसी संस्कार में आचार्यों ने अखण्ड ज्योति को जागरूक किया था। वह ज्योति जीवन पर्यन्त जागरूक रही। वह यज्ञमयी ज्योति थी। यज्ञ का अभिप्राय है शुभ कर्म। यज्ञमयी ज्योति सुगन्ध को उत्पन्न करती है तथा दुर्गन्ध को निकालती है।

जब अश्वपति प्रजापति के यहाँ विराजमान होकर प्रश्न करते रहे, तो प्रजापति उसका उत्तर यही देते रहे कि क्रियात्मक तप करो। तपस्या करने के पश्चात् 'इन्द्र' की दीक्षा प्रदान करने का परिणाम यह हुआ कि इन्द्र की परम्परा तथा देवताओं की परम्परा देवत्व में परिणत होती गयी। इन्द्र की उपाधि अश्वपति को दी गयी थी। (अट्ठारहवाँ पुष्प, १३-४-७२ ई.)

परिचय

परिचय देना एक समस्या है। कोई व्यक्ति अपना नाम बतलाता है, तो प्रश्न उठता है कि यह नाम उसके शरीर का है, आत्मा का है या मन का है। आगे चलकर कहता है कि यह नाम आत्मा का है, तो यह शरीर प्रकृति के तत्त्वों का समूह है प्रकृति सत् है, सत्चित् है तथा परमात्मा सत्चित्आनन्द है।

यजमान् अपना परिचय देता है कि मैं सपत्नीक यजमान हूँ किन्तु यजमान यह आत्मा है या श्रद्धा है। आगे विचार आता है कि आत्मा के सभावों से जो सात्विक श्रद्धा उत्पन्न होती है, वह यजमान है।(उन्नीसवाँ पुष्प, २८-१०-७२ ई.)

स्वागत

'गो' नाम आत्मा का तथा मन उसका बछड़ा है। ऋषि परम्परा में मन रूपी बछड़े को मार कर दूसरे (अतिथि) का स्वागत किया जाता है। इससे प्रीति बढ़ती है और आनन्द होता है। वाल्मीकि ने वशिष्ठ का स्वागत इसी विधि से किया था। (पाँचवाँ पुष्प, २६-१०-६४ ई.)

यज्ञोपवीत का विज्ञान

ब्राह्मण ब्रह्मचारी को यज्ञोपवीत देते समय कहते हैं कि हे ब्रह्मचारी! इस यज्ञोपवीत की एक ब्रह्म-ग्रन्थि मानी जाती है। इसमें तीन धागे माने जाते हैं। एक-एक धागे में तीन-तीन धागों की व्यवहृतियाँ होती हैं। इस परम-पवित्र यज्ञोपवीत में संसार का ज्ञान-विज्ञान ओत-प्रोत रहता है। आत्मा-परमात्मा और प्रकृति इन तीनों से ही संसार का निर्माण होता है। इन तीनों के सूचक तीन धागे हैं। तीन ही प्रकार के गुण होते हैं। रजोगुण, तमोगुणा, सतोगुण, तीन ही प्रकार के प्राणी होते हैं रज, तम, सत तीनों ही प्रकार की विद्यायें हैं.ज्ञान, कर्म, उपासना। आगे तीन धागों की तीन व्यवहृतियाँ हैं ये इसकी सूचक हैं कि :.

शरीर में नौ द्वार हैं। ३ ग ३ त्र ९ व्यवहृतियाँ प्रत्येक एक द्वार की सूचक हैं। इनके संगठन ऐसे माने गये हैं जैसे दो चक्षु और एक श्रोत्र त्र एक व्यवहृति; दो घ्राण और एक श्रोत्र त्र एक व्यवहृति; मुख, उपस्थ, ग्रीवा त्र एक व्यवहृति। अब इन नौ द्वारों पर शासन करता हुआ ब्रह्मचारी इनकी तीन व्यवहृतियाँ बना लेता है और आगे सूक्ष्मता में जाकर इन ९ द्वारों की केवल एक ही ग्रन्थी बन जाती है तो उसे ब्रह्मग्रन्थि कहते हैं। ब्रह्म-ग्रन्थि होकर, आत्मा-परमात्मा-प्रकृति तीनों सुगठित होकर यह आत्मा-परमात्मा के आनन्द का अनुभव करता है। हे ब्रह्मचारी ! तू इस परम-पवित्र यज्ञोपवीत को धारण करके, अपने मानवत्व को जान, इस शरीर-रूपी अयोध्यापुरी को जान। (सातवाँ पुष्प, ७-७-६५ ई.)

हमारे शरीर में नौ द्वार माने गये हैं। ज्ञान-कर्म-उपासना के द्वारा हमें इन नौ द्वारों को जानना चाहिये। इन नौ द्वारों के कार्यों को जानना तथा इन द्वारों में प्रविष्ट हो करके इस गृह को दृष्टिपात करना, यह महान् ऋषियों का कर्त्तव्य होता है। जब हम यज्ञोपवीत को परम पवित्र उच्चारण करते हैं तो इसका अभिप्राय यह है कि हमें नौ द्वारों पर संयम करना चाहिये। जैसे हम अपनी वाणी से आवेशों में आकर अशुद्ध उच्चारण न करें क्योंकि वाणी भ्रष्ट हो जायेगी, वाक्य अशुद्ध हो जायेगा। इसी प्रकार दो घ्राण के छिद्र, दो श्रोतों के छिद्र, दो चक्षुओं के छिद्र, उपस्थ और गुदा हैं। इन नौ द्वारों में नौ ही देवता विराजमान हैं। एक-एक स्थान पर दो-दो देवता हैं। जैसे उपस्थ के द्वारा पर जल और भूमि दोनों ही प्रधानता में परिणत रहते हैं, गुदा के द्वारा जल, पृथ्वी दोनों प्रधान हैं, मुखारविन्द में अन्तरिक्ष और जल दोनों की प्रधानता है, चक्षुओं में अग्नि और वायु की आभा है। श्रोत्रों का सम्बन्ध दिशाओं से है, अश्विनी कुमार इसके देवता हैं। प्रत्येक देवता को जानना है और जान करके भौतिक-विज्ञान तथा आध्यात्मिक-विज्ञान दोनों का मिलान करके अपने राष्ट्र को पवित्र बनाना है।

यज्ञोपवीत को उपनयन भी कहा जाता है। यह महान् है कि इसको धारण करने के पश्चात् मानव को अपनी वृत्तियों पर, आचार-व्यवहार पर उसका नियन्त्रण होने लगता है। यज्ञोपवीत धारण करके भी जो मानव दूसरों के मांस को भक्षण करते हैं वे नारकीय कहलाते हैं। वे नारकीय इसलिये बनते हैं क्योंकि ऋषियों का ऋण उनके

समीप रहता है। यदि वह दूसरों की वेदना को अपने में धारण करके अपने उदर में धारण कर लेते हैं तो उनकी आभा का विनाश हो जाता है। जब हम परम-पवित्र बनकर यज्ञ के समीप जाते हैं तो इसका अभिप्राय यह है कि इन नौ द्वारों पर हमें संयम करना है। नौ द्वारों पर संयम करना हमारे यहाँ यजमान की कर्म-काण्ड की पद्धति में कहा है। (तेईसवाँ पुष्प, १३-११-७१ ई.)

यज्ञोपवीत का महत्व

यज्ञोपवीत वह पदार्थ है जो हमें परमात्मा के मार्ग में जाने के लिये प्रेरित करता है। इसके धारण करने से परमात्मा का ज्ञान जाना जा सकता है। यह परम-पवित्र आर्यों का सबसे प्रथम प्रतीक है। जब हम माता के गर्भ में आते हैं तो एक नाड़ी उसी प्रकार की होती है जैसे यज्ञोपवीत धारण किया जाता है। उस नाड़ी का सम्बन्ध हमारी आत्मा तथा जीवन से होता है। वही गर्भ का प्रतीक हमें बाहर भी धारण करना चाहिये। इसका सम्बन्ध आत्मा आत्मा से होता हुआ परमात्मा से हो जाता है। इससे हमारे विचार पवित्र होने चाहियें। जब यज्ञोपवीत को धारण करके चलते हैं और अपने विचारों को पवित्र बनाते हैं तो हमारे संकल्पों का तथा बुद्धि का सबका विचार आत्मा के द्वारा जाता है और अन्तःकरण रूपी थैली में विराजमान हो जाता है।

प्रश्न : वेद ईश्वरीय ज्ञान है। परमात्मा ने वेदों में यज्ञोपवीत का मन्त्र क्यों दिया ?

उत्तर.परमात्मा ने सृष्टि के आरम्भ में इस यज्ञोपवीत को इसलिये

धारण कराया है कि जिससे आत्मा-परमात्मा को भुला न दे और आत्मा का कल्याण न हो सके। हमें यज्ञोपवीत को धारण कर परमात्मा के गुण गाते हुए प्रकृति को छोड़कर परमात्मा की गोद में जाना चाहिये। प्रत्येक माता-पिता-बालक यज्ञोपवीत को धारण करें उनके विचारों की प्रेरणा हो। आचार्य पवित्र हों ; ब्रह्मचारी हों, उनके विचार ऊँचे हों। वह शिष्यों के अवगुणों को उनसे लेकर उनमें ज्ञान का प्रकाश देने वाले हों। (आठवाँ पुष्प, १३-११-६३ ई.)

यज्ञशाला में यज्ञोपवीत धारण करने वाले को यज्ञ करने का अधिकार हो जाता है। यज्ञोपवीत का तात्पर्य है कि यज्ञ के समीप पवित्र होकर जाना। यज्ञोपवीत परम-पवित्र होने के कारण ही यज्ञ के लिये उसका महत्व रखा गया है। यज्ञोपवीत उसे धारण करना चाहिये जो तीनों ऋणों को अपने में ऋण स्वीकार करके उससे उऋण होने का प्रयास करता है। (सोलहवाँ पुष्प, १७-१०-७१ ई.)

रुद्राक्ष की माला

रुद्राक्ष की माला प्रत्येक मानव को धारण करनी चाहिये। प्रभु का नाम रुद्र है, क्योंकि वह पामरों, पापाचारियों तथा अपराधियों को सताने वाला है। उस रुद्रमय महिमा के गुणगान गाने वाला रुद्राक्ष की माला को ग्रहण करता है। जब हम इस माला को ग्रहण करते हैं तो हमारे हृदय में एक उल्लास उत्पन्न होता है, अर्थात् एक ज्योति जागरूक होती है। हमारा अन्तरात्मा यह उच्चारण करने लगता है कि हम परमपिता परमात्मा का दर्शन करने के लिये उस आभूषण को अपनाने का प्रयास करें, जिसको अपनाकर हम प्रभु के द्वार पर जा

सकते हैं। (उन्नीसवाँ पुष्प, १९-३-७२ ई.)

हम अपनी मानवता को ऊँचा बनाने के लिये अपने जीवन में तपस्वी बनें और माला को धारण करें। ऋषि-मुनि माला को धारण करते हैं। जैसे यह संसार की रचना है, यह नाना प्रकार की वनस्पतियाँ १-खनिज व खाद्य पदार्थ हैं, इसकी जो प्रतिष्ठा है वह २-पृथ्वी मानी जाती है पृथ्वी की प्रतिष्ठा ३-जल, जल की प्रतिष्ठा ४-अग्नि, अग्नि की वायु, ५-वायु की अन्तरिक्ष, ६-अन्तरिक्ष की प्रतिष्ठा महतत्त्व है और यहाँ से ऋषि-मुनियों का दूसरा अध्याय आरम्भ होता है। देखो नीचे से ऊर्ध्वागति को माला के मनके चले और नीचे को प्रारम्भ होते हैं। यह तत्त्व से दूसरे लोकों में जाना १. सूर्य-मण्डलों को जानना, २. चन्द्र-लोकों को जानना, ३. गन्धर्व-लोकों कोजानना, ४. इन्द्र लोकों को जानना, ५-प्रजापति को जानना। प्रजापति ही यज्ञमय है। १-यज्ञ दक्षिणा में, २-दक्षिणा श्रद्धा में, ३-श्रद्धा मानव के हृदय से उत्पन्न होती है। यह एक माला है जिसको ऋषि-मुनि धारण करते हैं। इस माला को धारण करने वाला आध्यात्मिकवाद और भौतिकवाद दोनों से उपराम हो जाता है।

हृदय से श्रद्धा, श्रद्धा से दक्षिणा, दक्षिणा से यज्ञ, यज्ञ से प्रजापति, प्रजापति से इन्द्र, इन्द्र से गन्धर्व, गन्धर्व से चन्द्रमा, चन्द्रमा से सूर्य, सूर्य से महतत्व और महतत्व से अन्तरिक्ष, अन्तरिक्ष से वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से संसार की रचना होती है। (सत्ताईवाँ पुष्प, ६-५-७६ ई.)

देवता और दैत्य

दैत्य और ऋषि सृष्टि के आरम्भ से ही चले आते हैं। यदि ऐसा न होता तो कर्म की क्रीड़ायें ही समाप्त हो जातीं। दैत्य ऋषियों के विपरीत कर्म किया करते थे. यदि ऋषि सत्य उच्चारण करते थे तो दैत्य मिथ्या। जैसे कर्म थे उसके अनुसार योनि तो प्राप्त होनी ही थी। परन्तु सृष्टि के आरम्भ में दैत्य बहुत सूक्ष्म थे। यदि इस सृष्टि में मिथ्यावाद न होता तो सत्य की कोई महत्ता नहीं थी। सत्य न होता तो मिथ्या का कोई महत्व नहीं हो सकता था। इसलिये सत्यवादी और मिथ्यावादी, सृष्टि के आरम्भ से ही हैं। (दूसरा पुष्प, २१-८-६२ ई.)

दैत्य वे मनुष्य कहलाते हैं जो दूसरे जीवों का भक्षण कर जाते हैं और देवता वे होते हैं जो दूसरों की रक्षा करते हैं। देवता जब संग्रामवादी बन जाते हैं तो उनकी विजय हो जाती है और दैत्य समाप्त हो जाते हैं। (चौथा पुष्प, २६-७-६४ ई.)

आर्यों के विपरीत चलने वाले को यवन कहा जाता है, दैत्य भी कहते हैं। आर्यों को देवता तथा अनार्यों को यवन कहा जाता है। (दसवाँ पुष्प, २६-७-६३ ई.)

जो दूसरों को नष्ट करता है वह दैत्य कहलाता है। (दसवाँ पुष्प, २६-७-६२ ई.)

राक्षस वे हैं जो दूसरों को कष्ट देते हैं। दैत्य वे हैं जो दूसरों की महत्ता नष्ट करना चाहते हैं। देवता वे हैं जो दूसरों की उन्नति चाहते हैं। (दसवाँ पुष्प, २६-७-६३ ई.)

देवता

जो देवता प्रकृति के प्राणी होते हैं वे आत्म-विश्वासी होते हैं। वे इस शरीर को वास्तविकता न दे करके, आत्मा को केन्द्र स्वीकार करके आगे रमण करते हैं। जो दैत्य प्रकृति के होते हैं वे बिना विचारे जब आत्मा और विज्ञान की चर्चा करते हैं तो वे इसे पाखण्ड बतलाते हैं क्योंकि उनके लिये तो शरीर का पालन-पोषण करना ही उत्तम है। (नौवाँ पुष्प, १८-७-६७ ई.)

देवता प्रातःकाल में अग्नि के द्वारा द्रव्य पदार्थों का पान करते हैं। वे हर समय दूसरों के कल्याण के लिये विचार करते हैं। दूसरों को कुछ देते हैं। अपनी त्रटियों को देखकर दूसरों के गुणों को धारण करते हैं। दूसरों की निन्दा नहीं करते। वे आत्मा की व्यवहृतियों को जानते हैं। उस इन्द्र से अपने जीवन को नियमित बनाने तथा ज्योति को प्राप्त करने की प्रार्थना किया करते हैं। (सातवाँ पुष्प, २०-१०-६३ ई.)

देव-प्रवृत्ति

जैसे माता का प्रिय बालक क्षुधा से पीड़ित होकर माता को पुकारता है; जब उसे कोई दण्ड देता है तो ममतामयी माता को पुकारता है; उसी प्रकार जब नामोच्चारण करते हैं तो मानव को उसका भान हो जाता है। इसी प्रकार विराजमान होकर प्रभु का चिन्तन करते हैं तो अज्ञानता उसके समीप नहीं आती। जब प्रभु उसके समीप होता है, उसकी करुणामयी गोद होती है, तो नामोच्चारण करने से प्रभु का दर्शन हो जाता है, उसका भान हो जाता है। वह जो महत्ता है वह देव प्रवृत्ति है, देववत् है। (चौबीसवाँ पुष्प,

६-८-७२ ई.)

मानव को देवता बनने के लिये देववत् ही कर्म करने होंगे। केवल उच्चारण करने से ही देवता नहीं बन जाते इसके लिये तो देवपुरी का मन्थन किया जाता है। मानव को अपने जीवन को उज्ज्वल बनाने के लिये अपने जीवन का मन्थन करना है। यह मन्थन संसार के शिक्षालय में ही किया जा सकता है। जीवन में दैत्य और देवता का संग्राम हर समय होता रहता है। एक मनुष्य इस समय एक महान व्यक्ति है, किन्तु किसी क्षण में उसमें दैत्यभाव आकर वह किसी प्राणी का हनन कर सकता है। देवता बनने के लिये इस संग्राम को अनुशासन में लाना है, इसे अनुशासन में लाने के लिये मानव को उज्ज्वल कर्म करने हैं तथा जीवन को पवित्र बनाना है। यदि ऐसा नहीं करता तो उसकी ठीक ऐसी स्थिति है कि उसने इस शिक्षालय के भवन को तो देखा किन्तु उसमें प्रविष्ट कभी नहीं हुआ। देवता वह होता है जो अपने जीवन और परमात्मा के बनाये हुए पदार्थों में आस्था रखता है और विचार-विनियम में लगता है। प्रकृति के आंगन में वह इतना संलग्न नहीं होता कि उसकी मानवता राष्ट्रीयता तथा उसका जीवन समाप्त होता चला जाये। वह तो केवल यही विचारता है कि यह संसार परमात्मा का शिक्षालय है, यहाँ शिक्षा ग्रहण करने आये हैं। (आठवाँ पुष्प, १०-१२-६६ ई.)

देवता-मानव-दानव

प्रजापति की तीन सन्तानें हैं.देवता-मानव-दानव। प्रजापति ने तीनों के कल्याण के लिये 'द' का उपदेश दिया, जिसके अर्थ तीनों

के लिये भिन्न-भिन्न हैं।

देवताओं के लिये 'द' का अर्थ है कि वह जितने दमनशील रहेंगे, उतना ही यह संसार, धर्म तथा मर्यादा विशालता को प्राप्त होता रहेगा, मानव के लिये 'द' का अर्थ है दान करना चाहिये। दान उसी वस्तु का किया जा सकता है जो उसके पास हो। यज्ञ करें, दानी और भव्य बनें। दान से ही हमारे द्रव्य की रक्षा होती है। जो मानव संकीर्ण में जाकर कृपण बन जाता है, उसका द्रव्य कुछ काल के पश्चात् नष्ट हो जाता है। इसके विपरीत दान देने वाला तथा उज्ज्वल कार्य करने वाला मननशीलता में चला जाता है। दानव के निये 'द' का अर्थ है 'दया'। जितने मानव उपद्रवी होते हैं उसको दैत्यों की संज्ञा दी जाती है। इसलिये दैत्यों को दया करनी चाहिये। जब तक वे दयावान नहीं बनेंगे तब तक वे प्रजापति की सन्तान नहीं कहलायेंगे। आगे चलकर वे उद्दण्डता में परिणत हो जायेंगे। उस समय राष्ट्र की परम्परा नष्ट हो जाती है तथा देवताओं का जीवन त्राहि-त्राहि करने लगता है।

जैसे परमपिता परमात्मा इस जगत् का प्रजापति माना गया है, इसी प्रकार मानव-शरीर में जो प्रजापति है वह हृदय है। इसी में नाना प्रकार की तरंगों का जन्म होता है; इसी में देवता, मानव, दानव आदि की प्रवृत्तियाँ आती रहती हैं। मानव को इन तीनों अवस्थाओं में समान रहना है, विचारशील बनना है और अपने जीवन को अस्त-व्यस्त नहीं करना है। जो मानव उपद्रवी बन जाता है। तो उसका अन्तरात्मा उससे दुःखित होता हुआ अपनेपन की वार्ता को

नष्ट कर देता है। इसलिये हमें महत्ता में जाने के लिये अपने हृदय को स्वच्छ और पवित्र बनाना है। प्रकृतिवाद के निर्माण में परमाणुओं का चुनाव मानव के विचारों से होता है। जैसा मानव का विचार वैसा वायुमण्डल बन जाता है। जैसा वायुमंडल से परमाणु आना आरम्भ हो जाता है वैसा ही यह जगत् बन जाता है। मानव समाज का निर्माण मानव के उन विचारों से होता है जिनसे जगत् का प्रादुर्भाव होता है, जगत् की प्रतिभा का जन्म होता है, राष्ट्रीयता का जन्म होता है, राष्ट्रीयता आती है, पवित्र बनती है तो वह मानव के विचारों से बना करती है।

देवता तपस्वी होता है। उसे देवता नहीं कहते जिसमें पक्षपात, निन्दा और स्तुति के अंकुर होते हैं जो अपने स्वार्थों के वशीभूत होकर एक महान् प्राणी को कलंकित कर सकता है। ऐसे मानव के हृदय मैं दैत्य प्रकृति के विचार आ जाते हैं। जो विरोचन प्रकृति के दैत्य होते हैं वे शरीर को ही आत्मा स्वीकार कर लेते हैं। किन्तु देवता शरीर को आत्मा स्वीकार नहीं करते। वे आत्मा को जानते हुए देवता-पद को प्राप्त करते हैं। संक्षेप में देवता वे हैं जो आत्मा को जानते हैं तथा दैत्य वे हैं जिन्हें ज्ञान और विवेक नहीं होता, वे अपने शरीर के पालन में लगे रहते हैं। (दसवाँ पुष्प, १०-५-६८ ई.)

कुम्भ-पर्व

लोक-कथा है कि सृष्टि के आरम्भ में दैत्य और देवताओं ने संसार रूपी समुद्र का मन्थन किया था। जो रत्न उसमें से निकले उनमें अमृत भी था। दैत्यों की माँ का नाम दिति तथा देवताओं की

माँ का नाम अदिति था। विष्णु भगवान ने राहु के दो भाग करके दैत्यों को शान्त कर दिया तथा देवताओं को अमृत का कुम्भ दे दिया। जब दिति और अदिति ने अपना अद्भुत रूप धारण किया तो गरुड़ ने इस कुम्भ को इन्द्र को दे दिया। दैत्यों को जब कुम्भ के जाने का पता लगा तो वे भी पीछे गये, किन्तु इन्द्र के पास जाने के पश्चात् उन्हें न मिल सका। वह अमृत वेद था जिसे देवताओं ने अपना लिया था। वेद के विपरीत चलने वाले दैत्य थे। उन्होंने देवताओं पर आक्रमण किया। परन्तु वह ईश्वरीय ज्ञान किसी काल में भी नष्ट न हो सका।

कुम्भ-पर्वों के अवसरों पर उन स्थानों पर तपस्वी तथा महान् पुरुष आते हैं और अपने अमृत रूपी वेद-ज्ञान को प्रसारित करके चले जाते हैं। प्राणी सुन्दर नदियों में स्नान करते हुए, महान् पुरुषों की वार्ताओं को स्मरण करके अपने हृदयों में सुन्दर संस्कारों को उपलब्ध कर लेते हैं। वे इस संसार-सागर में आगे चलने के लिये तत्पर होते हैं। त्याग और तपस्या की जो महत्ता है वह हृदयों में प्रदीप्त होती चली जाती है। ये स्थान जहाँ पर्व मनाए जाते हैं देवताओं के द्वारा ही नियुक्त किये गये थे। देवता वे होते हैं जो अच्छाइयों को धारण करते हुए उन अच्छाइयों को मानव के लिये प्रसारित करते चले जाते हैं।

इन स्थानों को जहाँ कुम्भ-पर्व मनाए जाते हैं, द्वापर-काल में नियुक्त किया गया था। जब यहाँ वेद-व्यास, कणाद, गौतम, कपिल इत्यादि ऋषियों का प्रवाह हो रहा था। इन ऋषियों को देवता ही

कहा जाता है। समुद्र मन्थन का यौगिक स्वरूप यह है कि जब योगी साधक बनता है वह संसार रूपी समुद्र को अपने हृदय में मन्थन करता है तो उसमें दैत्य और देवताओं की जो व्याहृतियाँ हैं, उन दोनों का जब मन्थन होता है तो कहीं देवता ऊंचे चले जाते हैं तो कहीं दैत्य। जब इस प्रकार की प्रक्रिया योगी के हृदय में चलती है तो योगी, त्याग, तपस्या, विवेक और ज्ञान अमृत का पान करने का प्रयास करता है। जब वह इन्हें प्राप्त कर लेता है तो उसका हृदय अमृतमय हो जाता है और वह इन्द्रपुरी को चला जाता है।

कुम्भ की व्याख्या

यह सर्वस्व ब्रह्माण्ड, जिसमें लोक-लोकान्तर समाहित हो रहे हैं, कुम्भाकार जैसा होता है। जिस समय मानव त्याग और तपस्या में अपने को ऊँचा बनाता है, तो वह प्रत्येक स्थान पर इस कुम्भ को ही दृष्टिपात करता है। जब माता के गर्भस्थल में, जो कमल की पंखुड़ियों जैसा है, एक बिन्दु जाता है तो उससे बालक की रचना होती है। वह गर्भस्थल भी कुम्भाकार की भांति ही हो जाता है। जब सृष्टि का आरम्भ होता है तो यह परमात्मा की इच्छा शक्ति से होता है। प्रकृति के सूक्ष्म परमाणु एक स्थान में सुगठित हो जाते हैं। उस पिंण्ड का आकार भी कुम्भाकार की भाँति ही होता है। जब परमात्मा की शक्ति का महत्तत्व चला जाता है तो उस समय मन और प्राण द्वारा उसके विभाजन होते हैं और नाना लोक-लोकान्तरों में विभाजित हो जाते हैं। मानव का जो मस्तिष्क है वह भी कुम्भाकार के तुल्य होता है। उसमें ब्रह्मरन्ध्र तथा त्रिकुटी होते हैं, जब इन दोनों का

समन्वय हो जाता है तो उस समय हृदय को महत्ता में लेता चला जाता है और मानव संसार-सागर से पार हो जाता है। (दसवाँ पुष्प, १०-५-६८ ई.)

गंगा वर्णन

गंगा नदी पर्वतों से झरने के रूप में निकलकर, अन्य नदी-नालों से मिलकर वैश्यों तथा कृषकों की कृषि को जीवन-दान देती हुई, कीट-पतंगों, पशु-पक्षियों एवम् मानवों को अपने अमृत रूपी जल से सन्तुष्ट करती हुई, जीवन-दान देती हुई बहा करती है। आस्तिक, परमात्मा की इस अनुपम रचना के द्वारा परमात्मा के चिन्तन की ओर लग जाता है और उसमें रमण करने लगता है। किन्तु इस प्रकार की कल्पना सर्वथा मिथ्या है कि गंगा का कभी कन्या-रूप भी हो सकता है, क्योंकि यह तो जल बह रहा है जो जड़ है, चेतना शून्य है और ज्ञान शून्य है। (दूसरा पुष्प, ३-४-६२ ई.)

गंगावतरण की लोक-कथा

राजा सागर के पुत्र सुखमंजस थे। जब कपिल जी ने राजा सागर के साठ हजार पुत्रों को मृत्यु को प्राप्त करा दिया तो सुखमंजस कपिल जी के पास पहुँचे और इस परिवार के उत्थान का उपाय पूछा। कपिल जी ने कहा कि तुम उदार और नम्र हो, गंगा को यहाँ लाने का प्रयास करो। कुछ समय के पश्चात् तुम्हारे कुल में उत्पन्न भगीरथ के द्वारा गंगा का अवतरण होगा। सुखमंजस ने यही समाचार महाराजा सागर को सुना दिया। कुछ समय पश्चात् भगीरथ गंगा को लाए किन्तु उसके प्रवाह को शांत करने के लिये शिव की

याचना की। उसने अपनी जटाओं में इसको लेकर गौमुख के द्वारा इसको अवतरित कर दिया।

ऐतिहासिक दृष्टि से यह है कि शोनाथ नाम के राजा के पुत्र सागर थे, उसकी ६० हजार सेना थी। उन्होंने गंगा को पर्वतों से पृथ्वी पर लाने का प्रयास किया। पृथ्वी में गड्ढे बनाए, प्रधांग गिरि किया, नाना निर्माण किये। फिर राजा सागर के पुत्र सुखमंजस ने भी यही किया। सुखमंजस के पुत्र रेणुकांत, रेणुकांत के पुत्र शोमिन, उसके पश्चात् सुगनाथ भी इसी प्रकार प्रयास करते रहे। परिणाम यह हुआ कि सातवीं प्रणाली में भगीरथ इस कार्य में सफल हो गया। संसार को ज्ञानमय तथा आनन्दमय बनाना राजाओं का कर्त्तव्य है।

इस कथा का आशय यह है कि पर्वत के ऊपरी भाग को जटावासी कहते हैं। ऊपरी भाग से जो आ रहा है, वह जटावासी शिव कहलाता है। शिव नाम सूर्य का भी है। अतः शिवरात्रि का उत्सव केवल गंगावतरण का ही नहीं, यह सूर्य के उत्पन्न होने का भी है। शिवरात्रि के दिन परमपिता परमात्मा की प्रतिभा के आधार पर सूर्य का निर्माण हुआ था। सूर्य को शिव इसलिये कहा जाता है क्योंकि वह परमात्मा का संकल्प है और वह संकल्प परमात्मा को क्रियाशील बना रहा है। सूर्य की जो किरणें हैं वे ही जटारूप वासी हैं। (चौदहवाँ पुष्प, ६-३-७० ई.)

तीन गंगाएं

पर-ब्रह्मा ने तीन प्रकार की गंगाएं हमारे लिये अवतरित की हैं। आकाश-गंगा अन्तरिक्ष में रमण करने वाली है, मधोति-गंगा ब्रह्मलोक

में रमण करने वाली है तथा गंगा मृतमण्डल में रमण करने वाली है।

सृष्टि के आरम्भ में त्रिविधा परमात्मा ने दी, वे तीन वेद हैं। वास्तव में उन्हें भी गंगा कहा है। जिस गंगा में स्नान करने अर्थात् जिस वेद का अध्ययन करने से हमें संसार में कर्म करने का ज्ञान होता है कि हमें क्या करना चाहिये ? किस प्रकार चलना चाहिये ? राष्ट्र का निर्माण कैसे करना चाहिये ? उसे मृतलोकी गंगा कहते हैं। पूर्व वेद में कर्मकाण्ड भी है और ज्ञान भी। हमारा जो सर्वप्रथम कर्म है उसे कर्मकाण्ड कहते हैं।

मृतलोकी गंगा-रूपी वेद के कर्म-काण्ड का महत्व यह है कि इससे हम भौतिक कार्य करते हैं, नाना प्रकार के बड़े से बड़े यन्त्र नियुक्त करते हैं। कर्म-काण्ड को पाकर हम आत्मा के अन्तर को जान लेते हैं। यह मन मधुर तथा विभु होने के नाते नाना प्रकार की योजनाएं बनाता है। कर्म-काण्ड करते हुए हम उच्च बनकर मन के विषय को अच्छी प्रकार जान लेते हैं। यह मन कहाँ जाता है ? कहाँ-कहाँ के चित्र लाकर हमारे अन्तःकरण में विराजमान कर देता है ? उस कर्म-काण्ड में लिप्त हुआ मानव सृष्टि को जान लेता है। वह इस कर्म-काण्ड की गंगा में स्नान करके इतना निर्मल और स्वच्छ हो जाता है कि वह हर प्रकार से पवित्र होकर ऊपर उठना आरम्भ कर देता है।

रावण के पुत्र नरान्तक ने अपने पिता को भौतिक-गंगा के विषय में कहा था कि मैंने तो अब तक यह जाना है कि मृतलोकी गंगा यह कर्मकाण्ड ही है यह हमें नाना प्रकार के यन्त्रों का ज्ञान दे रहा है

जिससे हम राष्ट्र का ऊंचे से ऊँचा कार्य कर सकते हैं। राष्ट्र में कोई बड़ी से बड़ी विपत्ति आ जावे तो उसको भी सह सकते हैं। हम उन यन्त्रों से उन सुविधाओं को बनावें, यही हमारी भौतिक गंगा है।

स्नान करने से शरीर पवित्र हो जाता है तथा इन्द्रियाँ शुद्ध हो जाती हैं। इसी प्रकार कर्म-काण्ड से मन की शुद्धि होने लगती है। यदि मानव को भौतिक या आध्यात्मिक वैज्ञानिक बनना है तो सर्वप्रथम कर्मकाण्ड रूपी गंगा में स्नान करें। वेद के द्वारा नियुक्त की गयी क्रिया को कर्म-काण्ड कहते हैं। इन क्रियाओं में लिप्त हो करके जब हम इस गंगा को अच्छी प्रकार जानने लगते हैं तो हमें ज्ञान होता है कि जहाँ से कर्मकाण्ड की गंगा बह रही है वहाँ भी हमें जाना है। उसी का अनुकरण करके वह उस स्थान पर पहुँच जाता है जहाँ शिव से यह गंगा उत्पन्न हुई है। शिव-संकल्प द्वारा इस आकाश-गंगा या अन्तरिक्ष-गंगा में जाता है और उसमें रमण करने से ज्ञान होता है, आत्म-ज्ञान होता है। अक्षय जो वेद की विद्या है उसे उपासना-काण्ड कहते हैं। इसमें आकर हम उपासना करने लगते हैं, प्रभु का गान गाने लगते हैं। गाते-गाते हम ऊँचे शिखर पर पहुँच जाते हैं।

अलंकारिक-कथा है कि शिव ने राजा दक्ष के संस्कार द्वारे करते-करते नाद (प्रभु का गान) गाया, इससे तीनों शब्दायमान हो गये। उसकी पवित्रता से माता पर्वती मुग्ध हो गयी और फिर नाना प्रकार की योनियाँ मुग्ध हो गईं और सब कैलाश पर पहुँच गये। कैलाश नाम आत्मा का है। जब आत्मा परमात्मा की याचना में जाता है और

उसकी आज्ञा से चलता हुआ परमात्मा की गोद में चला जाता है तो वह मानव का शिव-नाद कहा जाता है। इस अनन्त गान को गाता हुआ आत्मा आकाश-गंगा में स्नान करता है और पवित्र हो जाता है। पवित्र होने पर इन्द्रियों के बन्धन कर्म-काण्ड से वह पृथक् हो जाता है और केवल एक ही नाद रह जाता है। इस नाद को गाते-गाते वह अन्तरिक्ष को भी त्याग देता है और यह जान जाता है कि नाद कहाँ से आ रहा है ? कहाँ भरा हुआ है ? कौन-सी वर-विद्या है जो अन्तरिक्ष में भरी हुई है जिसमें स्नान करने से हम में सब विद्याएँ आ जाती हैं, यह हमारी उपासना है।

कर्म-काण्ड तथा उपासना-काण्ड के पूर्ण हो जाने पर ज्ञान-काण्ड आता है। तब हम प्रकाश के सागर में पहुँच जाते हैं और परमात्मा की साक्षात् गोद में पहुँच जाते हैं। इस प्रकार एक कर्म-गंगा, एक उपासना गंगा तथा एक ज्ञान-गंगा हें मानव को इन तीनों गंगाओं में स्नान करना चाहिये।

शिव की जटाओं में गंगा उत्पन्न हुई है। शिव परमात्मा का नाम है तो ये गंगाएं परमात्मा से उत्पन्न होती है। जटा नाम वाणी का है, जटा नाम गान का है। शिव की जटाओं रूपी वाणी से यह महान् गंगा उत्पन्न होती है तो मृत-मण्डल में, ब्रह्म-लोक और अन्तरिक्ष-लोक, में, तीनों लोकों में गान करती है। परमात्मा ने सृष्टि के आरम्भ में यह तीन गंगाएंँ मानव के कल्याण के लिये उत्पन्न कीं।

गंगा ब्रह्मा की पुत्री है। वाणी ब्रह्मा के आधीन होती है। जो जिसके आधीन होता है वह उसके बालक के तुल्य होता है। इसलिये

यह जो वेद-वाणी है, शिव की जटाओं से उत्पन्न हुई है, ब्रह्मा के द्वार से आई है, इसलिये ब्रह्मा की पुत्री है। इसकी व्याख्या यह है कि ब्रह्मा नाम बुद्धिमान का है। जिसकी वाणी अपने शासन में हो उसको ब्रह्मा कहते हैं और यह ब्रह्म-विद्या जिसके कण्ठ में हो, उसके शासन में रहने वाली हो उसको ब्रह्मा कहते हैं और वेद की विद्या उसकी पुत्री कही जाती है। यह विद्या उसी को आती है जिसका हृदय महान् होता है। मधुगान में मधुरता उत्पन्न होती है।

स्वाध्याय तथा सत्संग के लिये वेद की विद्यायें ही तीन गंगा हैं.गंगा, यमुना, सरस्वती,। गंगा नाम कर्म-काण्ड का है, यमुना नाम उपासना का है तथा सरस्वती नाम ज्ञान का है। (तीसरा पुष्प, ७-४-६२ ई.)

गंगा का आध्यात्मिक स्वरूप

ब्रह्मा की पुत्री यह जल की गंगा नहीं बल्कि आत्मा है, उसको गंगा भी कहते हैं। हमारे शरीर में नौ द्वार हैं वे गन्धर्व हैं। मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक इड़ा, पिंगला, सुषुम्णा नाड़ियों रूपी गंगा, यमुना, सरस्वती बह रही हैं और इन नौ द्वारों को स्वच्छ और पवित्र कर रही हैं। और यह आत्मा इस शरीर से निकल जाती है तो यह निष्प्राण हो जाता है और इसको तभी अपवित्र माना जाता है। यह शरीर उसी समय तक पवित्र है जब तक इसमें आत्मा का निवास है। अतः पवित्र करने वाली गंगा आत्मा ही है।

त्रिगंगा स्नान

मानव शरीर में इड़ा, पिंगला, सुषुम्णा ही गंगा, यमुना, सरस्वती

के नाम से प्रसिद्ध हैं। १-जब मानव योगाभ्यासी बनकर मूलाधार में ध्यान करके रमण करता है तो उसको मृत-लोक की गंगा का ज्ञान होता है। २-इसके पश्चात् जब आत्मा नाभि-चक्र में और हृदय-चक्र में, ध्यानावस्था में पहुँचता है तब उसे आकाश-गंगा का ज्ञान होता है। ३-जब वह समाधि अवस्था में, घ्राण-चक्र में ध्यान लगाता है तब वह त्रिवेणी में पहुँच जाता है या त्रिवेणी का साक्षात्कार कर लेता है। ४-आगे चलकर जब आत्मा ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच जाता है तब उस योगी आत्मा को ब्रह्म-लोक की गंगा का ज्ञान होता है। इस भौतिक-गंगा से तो केवल भौतिक शरीर ही स्वच्छ किया जाता है। मानव का अन्तःकरण तो ज्ञानपूर्वक कर्त्तव्य कर्म करने से ही पवित्र होगा।

१-पूर्व चक्र को हम हरी का मधुर-द्वार या कुनेती कहते हैं।

२-कुनेती कहते हुए जहाँ प्रभु के दर्शन करने का समय आता है उस मार्ग में चलने का जहाँ प्राण माना है, उसको गंगोत्री कहते हैं।

३-यह आत्मा गंगोत्री में स्नान करके आगे चलती है तो नाभि-चक्र आता है जिसे हरी का द्वार कहते हैं। यहाँ पर मधुर आत्मा प्राणों के साथ बैठा हुआ गंगाओं में रमण करता है।

४-आगे चलकर यह हृदय-चक्र में आता है जिसे गणों का द्वार कहते हैं। यह आत्मा उन गणों के समक्ष जाता है। वहाँ अन्धकार में रहने वाले गणों की अज्ञानता समाप्त हो जाती है अर्थात् गंगा में स्नान करके उन गणों का भी उद्धार हो जाता है।

५-आगे चलकर यह आत्मा कण्ठ-चक्र में आता है जिसे काशीपुर कहा जाता है। काशी में नाना प्रकार के मधुवन हैं। यहाँ आत्मा को

नाना कठिनाइयाँ आती हैं, जहाँ नाना विष बस्तियाँ आती हैं। परन्तु आत्मा का साथी प्राण इतना प्रबल है कि जो सृष्टि को आरम्भ करने वाला है और हमारे शरीर को बनाने वाला है, जब यह आत्मा प्राणों के साथ इनके समक्ष जाता है तो सब ग्रन्थियाँ खुलती चली जाती हैं।

६-आगे चलकर यह आत्मा वहाँ जाता है जिसे प्रयागराज कहते हैं।

७-जब यह आत्मा प्रयागराज में स्नान करके, पवित्र और सूक्ष्म होकर आगे को चलता है तो त्रिवेणी का स्थान आता है। यहाँ गंगा यमुना, सरस्वती की तीनों धाराएँ एक में मिल जाती हैं।

८-यह आगे चलकर नील धार बन जाती है जिसको त्रिवेणी कहते हैं। यहाँ देवताओं और दैत्यों का संग्राम होता रहता है। जब संघर्ष होता रहता है, यह प्राणों सहित त्रिवेणी में गोते लगाता रहता है, स्नान करता रहता है। उस त्रिवेणी में स्नान करते ही देवता अलग और दैत्य अलग हो जाते हैं। वहाँ त्रिवेणी रूपी त्रि-विद्या को पाकर, त्रिवेणी में स्नान करके यह आत्मा स्वच्छ और निर्मल हो जाती है। त्रिवेणी में स्नान करता हुआ यह आत्मा त्रिवेणी से ऊपरी स्थान में स्नान करने चला जाता है।

९-इसे ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। यहाँ पहुँचकर योगी को हर प्रकार का प्रकाश हो जाता है। तीन प्रकार के शरीर हैं.स्थूल, सूक्ष्म, कारण। जब स्थूल पार्थिव शरीर को यह आत्मा त्याग देता है तो सूक्ष्म-शरीर वाले की दृष्टि सौ गुनी हो जाती है। जिस समय आत्मा को इतनी

सूक्ष्म दृष्टि प्राप्त हो जाती है उस समय स्थिति को जानकर शंकर के ब्रह्मरन्ध्र में जाते ही आत्मा को सौ सूर्यों वाला प्रकाश प्राप्त हो जाता है।

१०-आगे चलकर यह आत्मा शंख-चक्र (शून्य-चक्र) में पहुँच जाता है। रीढ़ के भाग में जाकर उसकी सब ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। उस समय योगी को प्रज्ञा-बुद्धि प्राप्त हो जाती है। वह परमात्मा से मिलान करने वाली होती है। उस समय जो परमात्मा सबका स्वामी है, जिनके गर्भ में यह संसार बस रहा है उस परमात्मा की गोद में चले जाते हैं, परमात्मा को प्राप्त करते हैं। उसमें रमण करने लगते हैं। इस प्रकार यह त्रिविद्या ही तीन गंगा हैं। इनमें स्नान करने से हृदय पवित्र हो जाता है। उसमें महान् बन करके इस संसार-सागर से पार हो जाते हैं। (तीसरा पुष्प, ७-४-६२ ई.)

तिथि विचार

जितनी तिथियाँ होती हैं उन सबकी गति सूर्य के आधार पर होती है, जैसे.प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी आदि।

द्वादशी का प्रभाव महत्वपूर्ण माना गया है। इसमें कृतिका तथा भानु दोनों की प्रतिभा रहती है। वह प्रतिभा मानव के पिण्ड में भी उसी प्रकार गति करती है। यह दिवस बड़ा सुन्दर और महान् होता है।

अष्टमी में प्रकृति में दोष हो जाते हैं। चन्द्रमा की गति के आधार पर पुष्य जेष्ठाय नक्षत्र दोनों की प्रतिभा इसमें प्रतिष्ठित हो जाती है। इसलिये उनका अच्छी प्रकार स्पष्टीकरण नहीं हो पाता। (चौदहवाँ

पुष्प, ६-३-७० ई.)

एकादशी व्रत

एकादशी व्रत ही शिवरात्रि व्रत है। इसी दिन महाराजा शिव ने राष्ट्र को अपनाया था। इसीलिये राजा ने अपने राष्ट्र में एकादशी व्रत का पालन कराया। यह कोई नवीन तो नहीं था, क्योंकि यह परम्पराओं से ही चला आ रहा था। किन्तु राजा के लिये एक और अवसर प्राप्त हो गया। इस दिन माता पार्वती तथा शिव दोनों जागरूक रहते थे तथा उन्होंने अपनी साधना को परिपक्व किया था।

इस त्योहार में जागरूक रहना अनिवार्य है। इसका कारण है कि जब एकादशी आती है तो सूर्य की किरणों का सम्बन्ध अधिक होने के नाते ही कृत्तिका तथा वृद्धभानु दोनों ही नक्षत्रों की प्रतिभा रहती है। मध्यरात्रि में उस नक्षत्र की प्रतिभा समाप्त हो जाती है। गर्भवती स्त्रियों को तो अनिवार्य रूप से जागरूक रहना चाहिये क्योंकि वृत्तिका और वृद्धभानु नक्षत्रों में, गर्भ में, जरायुज में किसी प्रकाश का दोषारोपण होने की सम्भावना रहती है।

शिवरात्रि के पर्व को, रूढ़िवाद को त्यागकर सब मानवों को अपनाना चाहिये, यह सबके लिये समान है किः.

इन्द्रियों को संयम में बनाना है, संकल्प है, विचारधारा को शोधन करना है। सारी ऋतु-विज्ञान को तथा भौतिक-मानव विज्ञान को पान करना है। यह सभी के लिये महान् तथा सुन्दर है। जब हम यह विचारते हैं कि हमारा जीवन उन्हीं वाक्यों में सुगठित रहता है जिनसे जीवन को प्रतिभा का नवीन प्रतीक होता है, तो हमें इसको अपनाने

में किसी प्रकार का संकोच नहीं होना चाहिये। इस रात्रि को प्रकाश तथा अन्धकार दोनों ही समान होते हैं। व्रत नाम संकल्प का है, व्रत नाम अच्छाइयों का है तथा दुर्व्यवहारों को त्यागना है। केवल अन्न को त्यागना और क्षुधा को पीड़ित बनाना ही व्रत नहीं हे। यह तो उदर की सफाई के लिये है। व्रत तो संकल्पों में रहता है तथा मस्तिष्कों में, मन में तथा इन्द्रियों में विराजमान रहता है। उसी संकल्प के आधार पर जीवन महत्ता को प्राप्त हो रहा है। (चौदहवाँ पुष्प, ६-३-७० ई.)

एकादश हमारी इन्द्रियाँ हैं। यह आत्मा का विशेष संकल्प है। इस व्रत को बहुत उज्ज्वल माना गया है। आचार्यों का कथन है कि केवल अन्न को त्याग करना एकादशी नहीं है। वैसे अन्न का त्याग करना भी वैज्ञानिक रूपों से स्वीकार किया गया है। हमारे जीवन का सम्बन्ध प्रकृतिवाद से रहता है, अन्न से रहता है। इस अन्न में अवृत्त दोष होते हैं। एकादशी के दिन मानव शिव-संकल्प करता है कि मैं संसार में त्रृटियों को त्यागने का प्रयास कर रहा हूँ। अपने जीवन को सूक्ष्म वेला में लाना चाहता हूँ। मेरा बाह्य-जीवन सूक्ष्मतम बन जाये तथा आन्तरिक जीवन विस्तारवादी बन जाये। मेरा विचार विस्तारवाद का हो तथा दोष संकुचित हो। इस प्रकार जब मानव का संकल्प रहता है तो वह मानव तुच्छता को प्राप्त नहीं होता।

एकादशी व्रत का अभिप्राय यह है कि व्रत नाम है संकल्प का तथा एकादश हैं.पाँच ज्ञानेन्द्रियां, पाँच कर्मेनिद्रयाँ और एक मन। मन का संकल्प ही प्रतिभा का एक प्रतीक माना गया है, यह भी कह

सकते हैं कि हमारी यज्ञशाला में दस पात्र हैं तथा ग्यारहवाँ 'होता' है जो हमारे दस पात्रों में आहुति प्रदान करता है।

इस व्रत में अन्न ग्रहण नहीं करना चाहिये। इसका कारण यह है कि वृत्तिका और वृद्धभानु नक्षत्र दोनों का प्रभाव सूर्य की किरणों में होता है। सूर्य की किरणों की प्रतिभा अन्न में जाती है। क्योंकि अन्न का जो सूक्ष्म रूप है वह सूर्य की किरण के आधार पर ही स्थिर रहता है। उसी से उसमें एक गति होती है। सूर्य की किरणों के आधार पर इस गति से अन्न में किसी प्रकार का विष उत्पन्न हो जाता है।

एकादशी का अभिप्राय यह है कि हम मन-वचन-कर्म से अपनी इन्द्रियों को संयममय बनाएँ। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और उनके साथ मन को ही एकादशी कहते हैं। एकाग्रता कहते हैं। यह मन इन्द्रियों का प्रतीक माना गया है। बिना मन के इन्द्रियों का कोई अस्तित्व नहीं होता। जैसे नेत्रों की ज्योति में मन विराजमान है इसीलिये उनके समीप चंचलता आती रहती है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के साथ है। यह मन अपनी प्रतिभा, गति, प्रभाव, चेतना तथा विज्ञानवाद आदि के अस्तित्व को इन्द्रियों को देकर उन्हें क्रियाशील करता रहता है। मानव जब अपना संकल्प बना लेता है कि जो मैंने कहा है उसे मुझे करना है। इस प्रकार का संयम करने पर, उसकी इन्द्रियों पर संयम करने की शक्ति प्रबल हो जाती है तथा इन्द्रियों पर संयम करना उसका लक्ष्य हो जाता है। इस प्रकार के लक्ष्यवाद से ही मानव-समाज उज्ज्वल तथा ऊँचा बनता है।

शिवरात्रि.शिवरात्रि के दिन शिव के संकल्प के आधार पर सूर्य का निर्माण हुआ था तथा वह अपनी सम्पूर्ण कलाओं से युक्त हो गया था। चन्द्रमा की मारकेतु, चन्द्रमा की कृति कान्तन अन्वेषणों में भी एक प्रतीक माना गया है। शिव की रात्रि इसको इसलिये कहते हैं क्योंकि यह प्रथम रात्रि संसार में आई जब संसार की रचना हुई। कुछ ऐसा भी माना जाता है कि एकादशी व्रत को धारण करने वाला जब अपने जीवन को लेकर चलता है तो उसमें एक महत्ता की ज्योति प्रकट हो जाती है। उससे हमारे जीवन का लक्ष्य हमारे समीप आने लगता है। शिवरात्रि वह शोभनीय रात्रि है जिसमें सबसे प्रथम मानव में पिण्ड निर्मित होकर जागरूक हो गया था, क्योंकि वह शिव परमात्मा का संकल्प था। संकल्प के आधार पर ही मानव जागरूक होकर अपनी सम्पन्न कलाओं में परिपक्व हो गया था। उसी को जीवन की एक कृतिधारा कहा जाता है। जिसको अपनाने के पश्चात् हमारे जीवन में आनन्द उत्पन्न हो जाता है तथा हमारी इन्द्रियों में एक महान् संकल्प की पवित्र धारा ओत-प्रोत हो जाती है। (चौदहवाँ पुष्प, ६-३-७० ई.)

पूर्णिमा व्रत

पूर्णिमा व्रत का अर्थ यह है कि जिस व्रत को धारण करो, उसे पूर्णता से करो। जो भी नियम बनाओं वे ऐसे पूर्ण हों जैसे पूर्णिमा का चन्द्रमा पूर्ण कलाओं से युक्त होता है। किसी भी कार्य को अधूरा न छोड कर उस महान् व्रत को धारण करें तभी हमारा व्रत सफल तथा वास्तविक फलदायक हो सकता है। केवल अन्न का त्याग, क्षुधा

से पीड़ित होना, उपवास करना आदि से विशेष लाभ नहीं होता। जो मानव व्रत धारण करके उसको सम्पूर्ण रूप से नहीं करता तो उसका जीवन ऐसा होता है जैसे एक मानव की नौका भंवर में पड़ी हो। प्रत्येक पदार्थ तथा उसके सूक्ष्म-सूक्ष्म परमाणु हमें पूर्णता का ज्ञान दे रहे हैं।

मानव जीवन के भी दो पहलू हैं। शुक्लपक्ष वह है जिसमें मानव का उत्कर्ष होता है। कृष्णपक्ष वह है जिसमें अवनति होती है। उन्नति, अवनति साधन के दो भेद हैं, जिन पर दृढ़तापूर्वक आचरण से, उच्च कर्त्तव्य के पालन से मानव इस पूर्णता को धारण कर सकता है और सूर्य की भांति सब जगत् को अपने प्रकाश से आलोकित कर सकता है। कृष्णपक्ष कठिनाइयों का काल होता है जिसका अन्त उज्ज्वल शुक्लपक्ष में होता है, जो बहुत ही सुखदायक होता है। उसमें सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। इस प्रकार मानव को आपत्ति-काल में दृढ़ रहना, अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए, शुभ-कर्म के ऊपर दृढ़ निश्चय रखते हुए आगे बढ़ना चाहिये। उसमें पूर्ण चन्द्रमा की भाँति पूर्ण प्रकाश होता है। (प्रथम पुष्प, ६-४-६२ ई.)

कृष्णपक्ष समाप्त होने पर मानव का जब शुक्लपक्ष आ जाये, उसके हृदय में प्रकाश हो जाये तथा विद्या और लक्ष्मी का प्रकाश गृह में हो जाये उस समय अभिमान न आकर दृढ़ रहना चाहिये। उस आपत्तिकाल को भी विचारना चाहिये जो उस पर आ चुकी था। उस समय जो मानव माया-लिप्त होकर अन्धकार में आ जाता है वह अपने को नष्ट कर लेता है। अन्त में उसकी सब सम्पत्ति नष्ट हो

जाती है। जो मर्यादा में बंधकर दृढ़ रहता है उसका जीवन परम्परा तक बना रहता है और अन्त में मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। (तीसरा पुष्प, ८-३-६२ ई.)

पाप और पुण्य हमारे अन्तःकरण में नियुक्त रहते हैं। जब पुण्य का उदय होता है तो मानव का विकास होता चला जाता है। यह शुक्लपक्ष है। जब पाप समक्ष आते हैं तो वह अधोगति में चला जाता है, यह कृष्णापक्ष है। कर्मों के अनुसार मानव को भोगना अनिवार्य है। मानव का कर्त्तव्य है कि वह समय के अनुकूल कार्य करे। शुभ वातावरण आये तो उसे भोगे। यदि समय अशुभ आ जाये तो वहाँ भी शुभ भोगने की चेष्टा होनी चाहिये। उसके अनुकूल अपने जीवन को ऊँचा अवश्य बना लेना चाहिये, यही धर्म कहता है। (तीसरा पुष्प, ९-३-६२ ई.)

नवरात्रि व्रत

नौ रात्रियों का वैदिक-साहित्य में सुन्दर वर्णन है। इसका तात्पर्य है कि हमारे नौ द्वारों में जो अन्धकार छा गया है। हमें अनुष्ठान करते हुए एक-एक रात्रि में, एक-एक इन्द्रियों के द्वार के ऊपर विचारना चाहिये कि उनमें किस-किस प्रकार की आभाएँ हैं तथा उनका किस प्रकार का विज्ञान है। इसका नाम नवरात्रि है। रात्रि का अर्थ है अन्धकार। अन्धकार से प्रकाश में लाने को ही जागरण कहा जाता है। जागरण का अभिप्राय यह है कि जो मानव जागरूक रहता है उसके यहाँ रात्रि कोई वस्तु नहीं होती। रात्रि तो उनके लिये होती है जो जागरूक नहीं रहते। अतः जो आत्मा से जागरूक हो जाते हैं वे

प्रभु के राष्ट्र में चले जाते हैं और वे नवरात्रियों में नहीं आते।

माता के गर्भस्थल में रहने के जो नव मास हैं वे रात्रि के ही रूप हैं। वहाँ पर अन्धकार रहता है। वहाँ रुद्र रमण करता है तथा मूत्रों की मलिनता रहती है। उसमें आत्मा वास करके शरीर का निर्माण करता है। वह भयंकर अन्धकार है। अतः जो मानव नौ द्वारों से जागरूक रहकर उनमें अशुद्धता नहीं आने देता वह मानव नव मास के इस अन्धकार में नहीं जाता, जहाँ मानव का महाकष्टमय जीवन होता है। वह इतना भयंकर अन्धकार होता है कि मानव न तो वहाँ पर कोई विचार-विनिमय कर सकता है और न अनुसन्धान कर सकता है और न विज्ञान में जा सकता है। इस अन्धकार को नष्ट करने के लिये ऋषि-मुनियों ने अपना अनुष्ठान किया। गृहस्थियों में पति-पत्नी को जीवन में अनुष्ठान करने का उपदेश दिया। अनुष्ठान में दैव-यज्ञ करें। दैव-यज्ञ का अभिप्राय यह है कि ज्योति को जागरूक करें। दैविक ज्योति का अभिप्राय यह है कि दैविक ज्ञान-विज्ञान को अपने में भरण करने का प्रयास करें। वहीं आनन्दमयी ज्योति है जिसको जानने के लिये ऋषि-मुनियों ने प्रयत्न किया। इस आत्मिक अग्नि को जान करके हमें ध्रुव-लोक में जाने का प्रयत्न करना चाहिये।

चैत्र के मध्य भाग में प्रायः अनुष्ठान किये जाते हैं। इसमें परम्परा से राजा और प्रजा मिलकर यज्ञ किया करते थे। इसमें प्रकृति-माता की उपासना की जाती है। जिससे वायुमण्डल वाला वातावरण शुद्ध हो और अन्न दूषित न हो। इस समय माता पृथ्वी के गर्भ में नाना प्रकार की वनस्पतियाँ परिपक्व होती हैं। इसी नाते बुद्धिजीवी प्राणी माँ

दुर्गे की याचना करता है। अर्थात् प्रकृति की उपासना करता है कि हे माँ ! तू इन ममतामयी वनस्पतियों तथा हमारे अन्न को हमारे गृह में भरण कर दे तथा अस्वात कर दे। जैसे ब्रह्मचारी अपनी विद्या की रक्षा करता है, इसी प्रकार हे माँ ! यह राष्ट्र और प्रजा की सम्पदा है। इसमें तू हमें इस अन्न को दे। इस प्रकार वैदिक-मन्त्रों द्वारा अनुष्ठान करके यज्ञ में जो आहुति दी जाती है वे द्यु-लोक को प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार नवरात्रि तथा नवदिवस उपासना की जाती है। प्रतिपदा से लेकर अष्टमी तक प्रकृति की गति चैत्र के महीने में शान्त रहती है। इसीलिए इसको गति देने के लिये तथा वायुमण्डल को शोधन करने के लिये प्रत्येक मानव यज्ञमयी ज्योति को जागरूक करता है। यह ज्योति शान्त नहीं होनी चाहिये। इसका अनुष्ठान व्रती रहकर संकल्प के द्वारा जब यज्ञपति, होताजन, उद्गाताजन आदि यज्ञ करते हैं उस समय यह प्रकृति-माँ वसुन्धरा बनकर अपने प्यारे पुत्रों को इच्छानुसार फल दिया करती है। ऊँचे कार्य का ऊँचा परिणाम या फल होता है। जब प्रत्येक मानव और देवकन्या याज्ञिक बनकर अनुष्ठान करने लगता है तो उसकी प्रवृत्तियाँ ही मानव का निर्माण करती हैं तथा प्रवृत्तियाँ ही वायुमण्डल का निर्माण कर देती हैं। वायुमण्डल जितना शोधित होता है उतनी ही कृषक की भूमि पवित्र होती है और उतनी ही पृथ्वी के गर्भ में नाना प्रकार की औषधियाँ शोधित हो जाती हैं और पवित्र बन जाती हैं। इसलिये यह अनुष्ठान किया जाता है।

एक वर्ष में यह अनुष्ठान दो समय होता है.एक चैत्र मास में तथा

दूसरा क्वार मास (आश्विन मास) में। इन दोनों का महात्म्य एक ही है। पृथ्वी के गर्भ में जो बीज की स्थापना की जाती है तो उन महीनों में बीज का फल व परिणाम गृहों में आता है। इसलिये प्रत्येक कृषक, राजा तथा प्रजा के गृहों में यह अखण्ड ज्योति रहनी चाहिये जिससे राष्ट्र और समाज ऊँचा बनता चला जाये।

अन्न शरीर का घृत है। अतः अन्न की स्थापना करके अन्नमयी ज्योति जागरूक की जाती है। उसी के द्वारा यह अग्नि प्रदीप्त रहती है अन्यथा बिना वनस्पतियों के इस अग्नि का कोई महत्व नहीं। इसीलिये हमें अग्नि की उपासना करते हुए, उस ज्योति को जानते हुए तथा माँ वसुन्धरा की याचना करते हुए, अपने जीवन में यौगिकता को प्राप्त करना चाहिये।

अष्टभुजी दुर्गा

दुर्गा को आठ भुजाओं वाली कहा गया है। ये योग के आठ अंग हैं। इन आठ अंगों को संयम से करने वाला अपने को माँ दुर्गे के समक्ष समर्पित कर देता है। जो योग के आठ अंग रूपी आठ भुजाओं को नहीं जानता, वह माँ दुर्गा के द्वार पर किसी काल में भी नहीं पहुँच सकता। इसीलिये माँ दुर्गा की गोद में पहुँचने के लिये प्रयास करना चाहिये। जो चेतना रूपी माँ प्रभु है, वह आनन्द को देने वाली है। इसका लोक और परलोक दोनों से सम्बन्ध होता है। इस लोक की दुर्गा यह प्रकृति है, पृथ्वी है और परलोक की माता अग्नि है जो नाना रूपों में प्रदीप्त होकर जीवन का घृत बनी हुई है। घृत बनकर उसमें आत्मा बलिष्ठ हो जाता है; तो माता अपनेपन में विचित्र

बनती चली जाती है और वैदिक सम्पदा को अपने में धारण कर लेती है। अतः हम अपने को पवित्र और ऊँचा बनाते चले जायें। उसकी विचित्रता ही महत्ता की प्रतीक है। हम उस देव की महिमा का गुणगान गाते हुए ममतामयी माता को जानते चले जायें।

हे माता ! तेरे गर्भस्थल में हमारा निर्माण होता है। हम तेरी पूजा करें तो हमारे मनों के आधार पर ही तू हमें फल दे। यह माता अपने प्यारे पुत्रों का पालन स्वतः ही करती रहती है। इसीलिये माता दुर्गा की पूजा होनी चाहिये। जो रूढ़िवादी, माता को त्यागकर केवल पिता की उपासना करते हैं, वे केवल आधे अंग की उपासना करने से कुछ काल में समाप्त हो जाते हैं। जहाँ माता का आदर नहीं, वह गृह नहीं। जहाँ माता का अपमान होता है वह गृह श्मशान होता है, वह गृह नहीं होता। इसलिये माता की पूजा और उपासना होनी चाहिये। वह वहीं जननी माता है जो अपने गर्भस्थल में बालक का निर्माण करती है। हे माता ! तू कितनी ममतामयी है। जब हम अपने को तेरी गोद में समर्पित कर देते हैं। तो हम अपने को कितना सौभाग्यशाली समझते हैं। इसलिये हमें उस प्यारे प्रभु रूपी माँ के समक्ष अपने को समर्पित करने के लिये उत्सुक रहना चाहिये। वह आनन्दमयी ज्योति सदैव जागरूक रहती है।

यह जो लोक का घृत है यही तो मानव की प्रवृत्तियाँ हैं, यही वायु मण्डल को शोधन करती हैं। इसीलिये हमें अनुष्ठान करना चाहिये तथा नौ द्वारों पर संयम करना चाहिये। ऋषियों का कथन है कि जब पृथ्वी की मध्यगति हो तो माता-पिता दोनों को संयमी रहना

चाहिये। संयमी रह कर अनुष्ठान करना चाहिये। अनुष्ठान का अभिप्राय यह है कि इस समय दुर्वासनाओं, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि की वासनाएं नहीं आनी चाहिये। अनुष्ठान में अपने को जाना जाता है तथा अपने को जानने की मानव की प्रवृत्ति बनाई जाती है, उन प्रवृत्तियों को संयम में करने का नाम ही अनुष्ठान है।

चैत्र मास में प्रतिपदा से लेकर अष्टमी तक यज्ञ होने चाहिये। दैवी यज्ञ होने चाहिए। (इसके कर्म-काण्ड का वर्णन अन्यत्र है) यज्ञ में अग्नि को प्रदीप्त करके विचारों को सुगन्धि में लिपटा देना चाहिये जैसे माता का प्रिय बालक विनोद में माता के अंग में लिपट जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक वेद-मन्त्र की आभा उस दैवी-यज्ञ के समीप रहनी चाहिये। हमें उस रात्रि में नहीं जाना चाहिये जहाँ अन्धकूप है, माता का गर्भाशय है। हमें यौगिक बनकर, यौगिक सम्पदा को अपनाते हुए, संसार-सागर से पार होते हुए अपने मन को ऊँचा बनाना चाहिये। हमें इस मन के ऊपर सवार होकर योग के आठ अंग जानने चाहिये। (अट्ठारहवाँ पुष्प, १७-३-७२ ई.)

दीपमालिका या लक्ष्मी पूजा

दीपमालिका अरवों-खरवों वर्षों से मनाई जा रही है। यह वह दिन है जब सृष्टि में, सर्वप्रथम पृथ्वी में बीज को कृषक ने वोया था। इससे पूर्व यह पृथ्वी करोड़ों वर्षों तक तपती रही थी। इस पर्व पर कृषक अपने गृहों में याज्ञिक कर्म करते हैं, अपनी भूमि में बीज की स्थापना करने के पश्चात् प्रभु से याचना किया करते हैं कि प्रभु वसुन्धरा में जो हमने बीज की स्थापना की है उसके लिऐ पर्जन्य

तथा औषधि जल दे जिससे यह कृषि उत्तम बने तथा हम याज्ञिक बनें। त्याग का यज्ञ करने के पश्चात् गृहों में देव-यज्ञ करना अनिवार्य रहा है। हमारी कृषि में सुन्दर अन्न उत्पन्न हो जिससे हमारा जीवन सुन्दर बने। दीपमालिका का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक गृह में दीप होना चाहिए और उसमें कृति हो। इससे मानव की प्रतिभा तथा विचारों की सुगन्धि और प्रत्येक इन्द्रिय की कर्मठता सिद्ध हो। हमारी इन्द्रियाँ प्रकाशमय हों, रात्रि भी प्रकाशमय हो, अन्धकार हमें छू भी न सके। (तेरहवाँ पुष्प, ९-११-६९ ई.)

महत्व

१-राष्ट्रनायक मनु ने सर्वप्रथम दीपावली के दिन जन्म ग्रहण किया था। वे देव-लोक को त्याग करके इस मृत-मण्डल में उद्धार करने के लिये आ गये थे।

२-भगवान राम को भी राष्ट्र की सत्ता इसी दिवस को प्राप्त हुई थी। भगवन राम का यह पुनीत निर्वाण दिवस भी था।

३-भगवन कृष्ण को भी अपने स्थलों से इसी दिवस को जाना हुआ था।

४-इस सृष्टि के आरम्भ में दीवाली के दिवस को ही सूर्य का जन्म हुआ था और सूर्य का जन्म होते हुये हेमन्त और ग्रीष्म को त्यागकर शरद ऋतु में जाने का नाम प्रीति और तेज कहा जाता है।

५-इस समय कृषक अपनी भूमि में अन्न को स्थापित कर देते हैं। पृथ्वी के गर्भ में जब बीज की स्थापना की जाती है तो वह बीज

मानव की मौलिक धाराओं का ही नहीं, मानव के सच्चरित्र को ऊँचा बनाता चला जाता है।

६-आज दीपावली का वह दिवस है जब यहाँ के एक महापुरुष को कामी प्रकृति वाले प्राणियों ने विष दे करके उसकी त्वचा में रक्त की धारायें प्रवाहित कीं (महर्षि दयानन्द सरस्वती जी महाराज) और आज के दिवस गायत्राणि छन्दों का पठन-पाठन करते हुए उन्होंने अपने शरीर को त्याग दिया था। वह यथार्थ ऋषि आ करके और हमारे समीप एक महान् साधु बन करके सत्यता का उपदेश देकर चले गये।

दीपावली का जो पर्व है वह कृषकों के लिये, वैश्यों के लिये, ब्राह्मणों के लिए, सभी प्राणियों के लिये होता है। इसमें कृषक अपनी भूमि में बीज को स्थापित कर देते हैं और याचना करते हैं यज्ञ-भगवान से कि हे प्रभु हमारी कृषि ऊँची हो। हमें खाद्य और खनिज पदार्थ भी इस पृथ्वी से प्राप्त हों। यह जो दीपावली है, यह मानव का दिग्दर्शन है अथवा इस सृष्टि का दिग्दर्शन है इस शुभ अवसर पर सभी एकत्रित होकर यज्ञ करते हैं, आहुति देते हैं, अपने विचारों की आहुति देते हैं, अपने नाना साकल्य की आहुति दी जाती है। उस साकल्य की आहुति देता हुआ प्राणी कितना हर्ष-ध्वनि करता है, क्योंकि वह सत्यता का व्रत धारण करता है, 'अग्नेव्रतपते' से व्रत लेता है, क्योंकि उस व्रत को लेने के पश्चात् अग्नि उस मानव के समीप होती है तो वह पाप नहीं करता अग्नि कहते हैं ज्ञान को। (बाईसवाँ पुष्प)

दीपावली के पर्व को सूर्य-दिवस, प्रकृति-पर्व तथा चन्द्र-पर्व भी कहा गया है। यह वह पुनीत पर्व है जिस दिवस कृषक के गृह में अन्न आता भी है और पृथ्वी के गर्भ में बीज की स्थापना करता भी है। पृथ्वी के गर्भ में बीज की स्थापना करने के पश्चात् कृषक अपने कुटुम्ब को लेकर सुन्दर यज्ञ करता है। वेद के अनुसार सुगन्धिदायक उस प्रकृति की उपासना दीपमालिका के पर्व के द्वारा करता है। दीप कहते हैं दीपम्-प्रकाश को और मालिका कहते हैं जो प्रकाश से बिन्धी हो। यह जो प्रकृति है इसको दीपमालिका कहते हैं, यह ब्रह्म की चेतना से गतिशील दृष्टिपात हो रही है। इसीलिये इसको हमारे यहाँ दीप-मालिका कहा गया है। देवी नाम प्रकृति का है जो प्रकाश से पिरोई हुई है। एक-एक कण जितना परमाणुवाद है, जितने भी हममें सूर्य-चन्द्रमा नाना प्रकार के नक्षत्र अपनी-अपनी गति पर रमण कर रहे हैं, भ्रमण कर रहे हैं, इसी नाते उसको दीपमालिका कहा गया है।

दीपमालिका का महत्व हमारे इस मानव-जीवन से सुगठित रहता है। इसमें भी प्रकृति अपना कार्य करती रहती है। दीपमालिका अपना कर्त्तव्य करती रहती है और वह कैसा सुन्दर कि एक-एक कण उस पुनीत आत्मा से चेतना में पिरोया हुआ होता है, इसलिये इसको दीपमालिका कहा जाता है।

दीपमालिका का पर्व सृष्टि के आदि से चला आ रहा है, देवताओं ने इसे अपना पर्व चुना है क्यों चुना है? प्रकृति की उपासना करने के लिये। जिससे प्रकृति हमारे शरीर में कार्य करती रहे।

वैज्ञानिक रूपों से कुछ ऐसा भी माना गया हे कि यह तो शरद-ऋतु आती है इसमें मानव के शरीर में पित्त प्रधान होता है। उसकी शान्ति के लिये प्रकृति में सुगन्धि होनी चाहिये, जिससे प्रकाश हो। पित्त की प्रधानता में सुगन्धि जब मानव के हृदयों में प्रविष्ट होती चली जायेगी उस समय मानव का हृदय मानवता से पुनीत और पवित्रता में परिणत होता चला जायेगा।

एक वैज्ञानिक सिद्धान्त यह है कि कृषक की भूमि में जो अन्न की उपज होती है, अन्न आता है, इस अन्न में नाना प्रकार की वनस्पतियों का शोधन किया जाता है। अपने तेज के द्वारा, यज्ञ की क्रियाओं के द्वारा, अन्न भी पवित्र होता है। चन्द्रमा की कान्ति की उपासना की जाती है, क्योंकि चन्द्रमा की कान्तियों का विशेषकर पृथ्वी से सम्बन्ध होता है। मानव के जीवन में अमृत और शीतलता को प्रविष्ट किया जाता है। इसलिये आचार्यों ने कहा है कि इसमें सुगन्धि होनी चाहिये। वेद के पंडितों के द्वारा यज्ञ होने चाहियें।

इस ऋतु में ऐसा भी माना गया है कि यह तेज का ऋतु है, इसमें सब महापुरुषों को एकत्रित हो करके विचार-विनिमय प्रारम्भ करना कर्त्तव्य है। क्योंकि हे मानव ! अब शरद्-ऋतु का काल आ रहा है, हेमन्त ऋतु आने वाली है। इन ऋतुओं में अपने जीवन का आहार और व्यवहार पवित्र बनाना चाहिये।

आज (दीपावाली) का दिवस वह भी है जिस दिवस आचार्यों ने सर्वप्रथम यज्ञ क्रिया था। सबसे प्रथम आदित्य, अंगिरा, वायु इत्यादि ऋषियों ने अपने-अपने वेद की पोथी को लेकर, वेद के कुछ चुने हुए

मन्त्रों को ले करके यज्ञ किया था, दीपावली का पूजन किया। प्रकृति का पूजन करना इस शरद्-ऋतु में बहुत ही अनिवार्य होता है क्योंकि ऋतु राम प्रकृति को कहा गया है। महर्षि वायु ने अंगिरा जी से कहा कि महाराज! ऐसा क्यों है? उन्होंने कहा कि आज का दिवस वह है जब सबसे प्रथम हमारे यहाँ यज्ञ का आयोजन होता है, क्योंकि श्रावणी के पर्व पर वेदों का निर्माण हुआ, उसके पश्चात् यज्ञों का प्रादुर्भाव हुआ। क्योंकि आदि ब्रह्मा से सृष्टि के आरम्भ में यज्ञों का प्रादुर्भाव होता है। अरबों वर्ष हो गये जब अंगिरा आदि ऋषियों ने वेदों के द्वारा इस संसार में सबसे प्रथम यज्ञ किया था।

महर्षि अत्रि ने माता अनुसूइया को बताया था कि हे देवी! आज के दिवस तुम्हें वेद की प्रत्तिभा को जान लेना चाहिये। आयुर्वेद का जितना ज्ञान माता को होना चाहिये इतना पुरुष को नहीं। माता का जीवन दर्शनों से सुगठित रहता है, दर्शनों से विशेष सम्बन्ध रहता है। जितना माता के द्वारा दर्शन होगा उतना ही माता के गर्भस्थल में होने वाला बालक दार्शनिक होता चला जायेगा। माता का गर्भाशय संसार में सर्वप्रथम विश्व-विद्यालय है। (बाईसवाँ पुष्प, २९-१०-७६ ई.)

लक्ष्मी-पूजा

लक्ष्मी वही स्थान ग्रहण करती है जहाँ उसके पति का पूजन होता है। लक्ष्मी का पति धर्म कहलाया गया है। जहाँ लक्ष्मी और धर्म दोनों का पूजन होता है वहाँ नाना प्रकार की सम्पत्ति तथा संसार की सम्पदा होती है। लक्ष्मी कहते हैं द्रव्य को। जितने पदार्थ हैं,

वनस्पतियाँ हैं वे सब द्रव्य हैं। द्रव्य कई प्रकार के होते हैं जैसे-लक्ष्मी का द्रव्य, बुद्धि का द्रव्य, शारीरिक बल का द्रव्य, यह सब नाना प्रकार की सम्पदा हैं। इनमें से किसी का दुरुपयोग नहीं होने देना चाहिये। जब इनका दुरुपयोग नहीं होगा तो मानव के जीवन में विशेष प्रकार के अंकुर ओत-प्रोत होते चले जायेंगे।

१-बुद्धि-द्रव्य :.किसी मानव को परमात्मा ने संस्कारों में बुद्धि दी है। यदि वह उससे अनुचित कार्य करता है, साधारण प्राणियों को कुदृष्टिपात करता है तो बुद्धि का दुरुपयोग है। बुद्धि का सदुपयोग यह है कि उससे स्वयं को ऊँचा बनायें तथा दूसरों को बुद्धिमान बनायें। यदि मानव अपनी बुद्धि से पद की लोलुपता में साधारण प्राणियों को पगों के नीचे दबाकर ऊँचा बनना चाहता है तो परमात्मा और धर्म की दृष्टि से बुद्धि का दुरुपयोग है।

२-शारीरिक-बल :.यदि मानव अपने शारीरिक बल से अनुचित कार्य करता है और चरित्र का भी विचार नहीं करता, किसी प्राणी को अपने भुजाबल से नष्ट करने की प्रवृत्ति रखता है तो यह बल का दुरुपयोग है। जिस प्रकार उसने उस प्रभु की सम्पदा-बल को प्राप्त किया है, उसका दूसरों को उपदेश देना, स्वयं बलवान बनना, अपने स्तर से नीचे न जाना यह बल का सदुपयोग है। इससे आगे चलकर उसके जीवन में महान् प्रतिभा ओत-प्रोत हो जाती है।

३-द्रव्य-बल :.यह भी परमात्मा का दिया हुआ पुरुषार्थ का फल है। स्वयं द्रव्यपति बनना, दूसरे अनाथों की सेवा करना यज्ञ आदि करना, परोपकार के अन्य नाना कार्य करना उसका सदुपयोग है।

निष्कर्ष यह है कि इन तीनों प्रकार की लक्ष्मी के साथ धर्म होना चाहिये, धर्म के बिना इनका कोई अस्तित्व नहीं है।

देवताओं को सर्वप्रथम हवि देना द्रव्य का सदुपयोग कहलाया गया है। अन्न, औषधियों तथा विचारों की सामग्री बनाकर हवि दी जाये। देवताओं का दूत अग्नि है, इसमें प्रसारण-शक्ति है, वह इन सबको प्रसारित कर देती है और ये देवताओं को प्राप्त हो जाते हैं। जब धर्म के साथ लक्ष्मी का समावेश होता है तो लक्ष्मी धर्म में प्रवृत्त होकर मानव को उन्नत बनाती चली जाती है। इस प्रकार उसकी आत्मा का उत्थान देवताओं तक पहुँच जाता है। जब देवता उसे ग्रहण कर लेते हैं तो संसार की प्रत्येक सम्पत्ति उसके निकट आ जाती है। इस प्रकार मानव को अपने जीवन को उन्नत बनाने के लिये सदैव यज्ञ करने चाहिए, जो मानव लक्ष्मी को नाना प्रकार की दुर्गन्धियों में, मादक-द्रव्यों में नष्ट करता है, कर्त्तव्यवाद में नहीं लगता तो उस मानव की प्रतिभा नष्ट-भ्रष्ट हो जाया करती है।

मानव-शरीर में देवता, अग्नि, वायु, जल,अन्तरिक्ष, पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य नाना नक्षत्रों के रूप में कार्य कर रहे हैं। वे हमारे शरीर से प्रवृत्तियों को बाह्य करके शरीर को सुचारू रूप से चलाते हैं। जो मानव उन देवताओं की जिनका सम्बन्ध मानव-शरीर से है हवि देना चाहता है उसको पहले अपने में तपाकर अग्नि के समान बना लेना चाहिये। उसके पास इतनी संकल्प शक्ति होनी चाहिये कि वह अपने विचारों को उसमें तपा सके। इसके साथ ही उसकी मानवता में इतना साहस तथा दृढ़ता होनी चाहिये कि वह हवि देने के योग्य बन

सके। उसे ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अग्नि की जिर्गो को धारणा करते रहना चाहिये। उसको विचारना चाहिये कि यज्ञशाला की कितनी प्रकार की जिर्यिं होती हैं और उसका क्या-क्या स्वरूप होता है। (ग्यारहवाँ पुष्प, २०-१०-६८ ई.)

गऊ संवर्धन

जितनी योनियाँ हैं वे मानव के लिये अनेकों प्रकार से लाभकारी हैं। किन्तु यह कहना भूल है कि वे आहार के लिये हैं। इसके खण्डन के लिये बुद्ध, महावीर तथा नानक आये किन्तु उनके आदेशों की भी परवाह न की गयी। (छठा पुष्प, १५-५-६२ ई.)

जो मानव सबका उदय चाहते हैं उनके हृदय में एक वेदना होती है, उनका अन्तरात्मा सबके उदय के लिये पुकारता रहता है। सबसे तात्पर्य यहाँ प्राणीमात्र से रहता है। सर्वोदय पर विचार करने के लिये प्रश्न यह है कि सबका उदय कैसे होगा ? इसको भागों में बांटा, मानव का उदय कैसे होगा, प्राणीमात्र के उदय में तथा मानव के उदय में कितना अन्तर है ? इन प्रश्नों पर विचार करने पर हम पाते हैं कि हमारा जीवन किन-किन पशुओं से कितना जुड़ा है और कितना इसका मेल है ? इसको सर्वोदय नहीं कहा जा सकता कि - गऊ' रूपी पशु तक की भी रक्षा न की जाती हो जिसका मानव जीवन में बहुत महत्व है।

'गऊ' पशु में कितना विज्ञान है ? इसके श्वास में एक विशेष प्रकार की सुगन्धि होती है। उसमें विशेष प्रकार के परमाणु होते हैं। इन्हीं परमाणुओं से हमें मानव जीवन का परिचय मिलता है। उसके

घृत में भी सुगन्धि होती है। उसके दुग्ध में पाई जाने वाली स्वर्ण की मात्रा से यह अनुभव होता है कि वास्तव में इस पर वैज्ञानिक खोज करनी चाहिये। (तेरहवाँ पुष्प, ९-१-६९ ई.)

'गऊ' नाम के पशु में नाना यन्त्र लगे हैं जो उस अन्न को ग्रहण करते हैं, जो दूसरे प्रकार का है तथा पशुओं की सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न किया गया था। अर्थात् वे वनस्पतियाँ पान करते हैं। 'गऊ' पशु का सम्बन्ध सूर्य की किरणों से विशेष होता है। जिस समय 'गऊ' प्रसन्न होकर दूध देती है तो उस समय उसका सूर्य ताप गतिमान होता है। जिस गऊ का सूर्य ताप गतिमान होता है उसकी 'स्वर्ण-विधि' नाम की नाड़ी का सम्बन्ध सूर्य की 'जेतु' नाम की किरण से होता है, उसकी रीढ़ के विभाग में प्रकृति से तथा सूर्य की किरणों से स्वर्णतत्व वाली किरणों को एकत्रित किया जाता है। इन्द्र से लेकर श्वास की गति तथा रीढ़ की गति का जब सन्निधान हो जाता है तो नाड़ियों के द्वारा उसके यन्त्रों में वह चेतना तथा धारा आती है जिनसे गऊ पशु ने जो अन्न पाया था उसका मन्थन होकर दुग्ध बनता है। दुग्ध का मन्थन करके घृत बनाया जाता है। वह घृत अमृत है। क्योंकि उसमें अग्नि और स्वर्ण प्रधान है। (इक्कीसवाँ पुष्प, पृष्ठ-६६)

यज्ञवेदी में गो-घृत की आहुति देने पर अग्नि प्रज्वलित हो जाती है इससे सिद्ध होता है कि गो-धृत में अग्नि तथा वायु के परमाणु अधिक हैं। (सोलहवाँ पुष्प, १७-१०-७१ ई.)

गऊ नाम का पशु हमें वह पदार्थ देता है जिससे बल और वीर्य की वृद्धि होती है, मानव को सद्गति तथा सद्वृति तथा सद्बुद्धि देता है।

(आठवाँ पुष्प, १९६६ ई.)

स्वयम्भु मनु की ५००वीं. पीढ़ी में जन्मे राजा भृंगी ने महर्षि भारद्वाज को अपने राज्य में सर्वोदय का दर्शन कराते हुये दिखलाया था कि राष्ट्र में ब्रह्मवेत्ताओं की यह विचारधारा व्याप्त थी कि दुग्ध देते समय यदि पशु दुःखित होता है तथा दर्द से दूध लिया जाता है तो वह भी एक हिंसा कहलाई जाती है। गऊ दुहते समय एक नाद बजता था तो गऊयें प्रसन्न होकर दूध दिया करती थीं। उस दूध को जो भी मानव पान करता था उसका हृदय भी ''अहिंसा परमोधर्मः'' में परिणत होता इसी प्रकार नाद श्री कृष्ण भी बजाते थे। (तेरहवाँ पुष्प, ९-१-६९ ई.)

गऊ माता का हनन करना एक धृष्टता है, इससे समाज और धर्म की हानि होती है। गऊ मानव के जीवन का भूषण है। मानव का जो जीवन है वह गऊ पशु है। इसको वेद ने, दर्शन ने अग्रेय पशु कहा है। जैसे अग्नि की ऊर्ध्वागति होती है इसी प्रकार इस पशु की भी ऊर्ध्वागति होती है। जो मानव इसके सम्पर्क में रहे तथा इनके दियें हुये दुग्ध का पान करे तो उसकी भी ऊर्ध्वागति हो जाती है। महर्षि वशिष्ठ, कणाद, भृगु आदि सभी ऋषियों के आश्रमों में कामधेनु गऊओं का वास था। (छठा पुष्प, १९६६ ई.)

गऊ की रक्षा किस प्रकार की जाये, यह केवल बुद्धिमान ही विचारें मूर्ख नहीं । क्योंकि यदि मूर्ख व्यक्ति एकत्रित होकर राजा के पास जायेंगे तो वे राष्ट्र को हानि ही पहुँचायेंगे। यदि बुद्धिमान अपने कर्त्तव्य को, राष्ट्रीयता को और मानवता को लेकर राजा के पास

जायेंगे जो राजा के लिये उस पर विचार करना अनिवार्य हो जाता है। राष्ट्र के किसी भी प्राणी का हनन नहीं होना चाहिये। मानव बुद्धिमान बनकर मनोविज्ञान के आधार पर विचार करे कि जब हम किसी प्रकार प्राणी को जीवन नहीं दे सकते, रक्षा नहीं कर सकते तो उसे नष्ट करने का अधिकार भी हमें नहीं है। (आठवाँ पुष्प)

राजा को अपने राष्ट्र में नियम बनाकर पशुवध निषेध कर देना चाहिये क्योंकि पशु से मानव जीवन का गहरा सम्बन्ध है। उन्हें केवल मांस-भक्षण के लिये नष्ट कर देना उचित नहीं। ब्राह्मण को राजा के समक्ष यह घोषणा कर देनी चाहिये कि या तो पशुवध बन्द करो या मेरे प्राणों को नष्ट कर दो। इस प्रकार के विचारों से ही श्रेष्ठ अन्तरिक्ष की रचना होती है। इन्हीं से यज्ञ-वेदी की रचना होती है तथा राष्ट्रवाद आता है। (चौदहवाँ पुष्प, ८-११-६९ ई.)

१४ त्रयोदश अध्याय-आनन्दमय जीवन के प्रेरणात्मक पथ-प्रदर्शक सदुपदेश

आनन्द की खोज

यह संसार परम्परा से इसी प्रकार चला आ रहा है। इसमें किसी काल में विचारक पुरुष विशेष हो जाते हैं और किसी में अविचारक प्राणी उत्पन्न हो जाते हैं। परन्तु दोनों का मन्तव्य एक ही रहा है कि हम आनन्द को प्राप्त करना चाहते हैं। आनन्द की पिपासा प्रत्येक प्राणी के हृदय में स्वभावतः उत्पन्न होती रहती है। क्योंकि उसका जो मूल जगत् है वह अन्तरात्मा के समीप विराजमान रहता है। जिसे आत्मा की पिपासा नहीं होती है, वह संसार में नाना प्रकार के अकर्म-कार्य करता रहता है। परन्तु जब वह अकर्म-कार्यों से निवृत्त होकर आत्मा के समीप जाता है अथवा मनुष्यत्व के समीप जाता है और शान्ति से हृदय में विचार-विनिमय करने लगता है कि मैं क्या था ? मेरी विशेषता, मेरी गति क्या बन गयी है ? अब उसके अन्तरात्मा से तरंगें उत्पन्न होती हैं। उन तरंगों में मानव अपने आन्तरिक और बाह्य-जगत् दोनों को स्वर्गमय बनाने का प्रयास करता है।

आन्तरिक जगत् वह कहलाता है जिसमें मानव अपनी अन्तरात्मा के हृदय की पुकार से अपना कार्य करता है, जिसके द्वारा न मान होता है न अपमान। आत्मा में नित्यप्रति प्रत्येक स्थल में नाना प्रकार की तरंगें उत्पन्न होती रहती हैं। जब उन तरंगों का आश्रय लेकर

उनके आधार पर कार्य करता है तो जानो कि वह आन्तरिक जगत् को जानता है और वह आन्तरिक जगत् के अनुकूल अपना कार्य कर रहा है।

बाह्य जगत् में वह अपने हृदय से संसार को मापना चाहता है तो यह नहीं मापा जाता। इस संसार के ऊपर वह नाना प्रकार के अवांछनीय लक्षणों का प्रतिपादन करता रहता है; परन्तु यह बाह्य जगत् उसे किसी काल में भी प्राप्त नहीं होता। वह बाह्म जगत् की उड़ान उड़ता हुआ बाह्य समाज में इतना लिप्त हो जाता है, इतना वह अपने में इस संसार को वशीभूत कर लेता है कि उसे कोई अन्य दृष्टिपात नहीं आता। वह बाह्य-जगत् को स्वर्ग बनाना चाहता है, कहीं वाणी से मधुर उच्चारण करता है, कहीं वाणी में और नेत्रों में स्वर्ग की अनुभूति की भावना होती है, वह बिडम्बनावाद में रमण करता रहता है। परन्तु शान्ति की स्थापना उसके हृदय में नहीं होती। बाह्य जगत् में आगे वह उड़ान उड़ता है कि वह मेरा कुटम्ब है, इसके समीप एक स्वर्ग लाना चाहता हूँ। ज्यों-ज्यों वह कुटुम्ब के समीप जाता है त्यों-त्यों उसकी संकीर्णता बलवती होती जाती है। वह उस क्षेत्र में भी सफलता को प्राप्त नहीं करता । अग्रणी बन करके वह आगे चलकर इस सम्बन्ध में ऊँची उड़ान उड़ता है और उन्हीं अवांछनीय शब्दों को ले करके अपनी उड़ान उड़ना चाहता है। परन्तु उसकी उड़ान सार्थक नहीं हो पाती और उसे बाह्य जगत् में स्वर्ग प्राप्त नहीं हो पाता।

जब मानव स्वार्थ को त्यागकर तप-त्याग के द्वारा अपने जीवन

को बलिष्ठ बनाते हुये इस संसार की आभा को जानने में लग जाता है, वह ऊँची उड़ान उड़ता हुआ अपने मानवीय शरीर को भी किसी में स्वीकार करता हुआ उस क्षेत्र में चला जाता है। जब नाना लोक-लोकान्तरों के प्राणी एक स्थल पर आकर विचार-विनिमय करते हैं। कहीं मानव चन्द्रमा के प्राणियों से वार्ता करता है, मंगल की यात्रा में मंगल के निवासियों से वार्ता करना प्रारम्भ करता है, कहीं वह गुरु-मण्डल के प्राणियों से वार्ता करता है। इस प्रकार बाह्य-जगत् को ऊँचा बनाता है। अब जितना भी प्रत्यक्षवाद है वह लोक-लोकान्तरों से विजय प्राप्त करता हुआ उसका जीवन उसी स्थल पर आ जाता है। जहाँ से उस प्राणी का उत्थान होता है। वहाँ आकर पुनः वह विचारता है कि यह संसार मेरी प्रतिष्ठा करे, क्योंकि नाना लोक-लोकान्तरों में मेरी गति हुई तथा लोक-लोकान्तरों में जाना मेरे लिये सहज हो गया। अब विश्राम छोड़ता हुआ वह मानव जब आन्तरिक हृदय के जगत् में जाता है। तो आत्मा में शान्ति प्राप्त नहीं होती। नाना प्रकार के द्रव्य के आनन्द में संलग्न हो जाता है। इस वास्तविकता की प्राप्ति में उसे आनन्द प्राप्त नहीं होता। इस जगत् में भी उसको प्रतिभा अथवा प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं होती।

आनन्द किस काल में प्राप्त होता है, यह जानना है मानव को। महर्षियों ने कहा है कि हे मानव ! यदि तुझे इस संसार में स्वर्ग लाना है तो अपनी आध्यात्मिक उड़ान को उड़ना प्रारम्भ कर। तू आत्मा के क्षेत्र में चल, आत्मा जिसे आज्ञा दे उस कार्य को तुझे करना है और उसी को करते हुये तुझे आत्मा की शान्ति को प्राप्त

करना है। मानव को सुख उस काल में प्राप्त होता है, जहाँ उसे आनन्द की प्राप्ति और सुगन्धि उत्पन्न होती है। संसार में प्रत्येक मानव सुगन्धि चाहता है, दुर्गन्ध की इच्छा प्रकट नहीं हो पाती। अब विचारना यह है कि हम दोनों प्रकार की आभाओं को लेकर रमण करें। एक भौतिक जगत् की उड़ान है; लोक-लोकान्तरों की ही क्या और भी ऊर्ध्वागति की उड़ान है। परन्तु इससे पूर्व मानव की आध्यात्मिक उड़ान है। मानव अपने आध्यात्मिक क्षेत्र को ऊँचा बनाये।

हम आत्मा के उस क्षेत्र में जाना चाहते हैं जहाँ मानव के समीप एक नवीन आभा बन जाती है। उस आभा को लेकर के जब मानव अग्रणी बनता है तो वह मानव सफल होता है। यदि मानव की किसी प्रकार इससे विपरीत गति हो गयी तो वह मानवीय समाज में हानिप्रद हो जाता है। मानव स्वर्ग में जाने के लिये योग में जाता हुआ अपने मन और प्राण को सार्थक रूप में लाना चाहता है। परन्तु यौगिक क्षेत्र में ले जाने वाला मानव का आहार-व्यवहार है। जब वह दोनों को लेकर अग्रणी बनता है तो योग के क्षेत्र में चला जाता है। इसके लिये नाना वृक्षों के पंचांगों को अग्नि में तपाकर पान कराया जाता है, इससे प्राण-शक्ति प्राप्त होती है। प्राण-शक्ति को बलवती बनाना है। अन्न के स्थान में जब नाना प्रकार की औषधियों को पान कराया जाता है तो उसकी योग में गति हो जाती है; उनका रक्त, उनका विचार तथा मानवत्व की आभा इसी प्रकार की बन जाती है और उनकी ऊर्ध्वागति बन जाती है। इसके पश्चात् गोदुग्ध का पान किया जाये जिससे जीवन यज्ञमय बनता चला जाये। (अठाईसवाँ

पुष्प, ११-१२-७४ ई.)

प्रत्येक मानव तथा प्रत्येक देवकन्या को संसार में ऊँचा बनना चाहिये। पति-पत्नी तथा सामाजिकवाद आदि तो लौकिकता के वाद हैं। परन्तु परमगति का स्थान तो और ही है। आत्मिक ज्ञान में न कोई किसी की पत्नी है और न कोई किसी का पति क्योंकि ईश्वर के राष्ट्र में अन्धकार नहीं होता, अतः उसके राष्ट्र में जाने से किसी प्रकार का अन्धकार या अन्तर्द्वन्द्व नहीं रहता; वहाँ तो एक-दूसरे के प्रति स्वतन्त्र धारणा रहती है तथा विचारशीलता रहती है। (ग्यारहवाँ पुष्प, २५-२-७२ ई.)

शान्ति-प्राप्ति की योजना

एक समय अज्ञानता छा जाने पर पापड़ी मुनि के परामर्श से नारद महर्षि सनत्कुमार के पास शान्ति-प्राप्ति हेतु गये। सनत्कुमार ने उपदेश दिया कि :.

जानकारी सबसे बड़ी है, इसको ऊँचा बनाओ जानकारी से बढ़कर वाणी है। यथार्थ उच्चारण करने से वाणी में ओज और तेज आ जाता है। वाणी से बढ़कर मन है। मन स्थिर हो जाने पर मानव को बहुत ऊँचा पहुँचा देता है। जब हम किसी को देखते हैं तो नेत्रों से पिछले पटल पर पिछले पटल से तन्मात्राओं तक तथा तन्मात्राओं से मन को उसकी इच्छा को पहुँचा देता है। यदि मन की चंचलता को समाप्त कर स्थित न बनाया तो इसकी गति विलक्षण हो जायेगी और वह मनुष्य की मृत्यु का सामान करने लगेगा। यदि मन को संसार के शुभ कर्मों में लगाये रखते हैं तो तब तक यह यथार्थ रहता

है, जब इसको छुटकारा मिलता है, वह संकल्प-विकल्प करके तभी मनुष्य की मृत्यु का सामना करने लगता है। मन से बढ़कर बुद्धि है, यह परमात्मा की देन है । यह मन सब वासनाओं को लेकर बुद्धि के समक्ष रख देता है। बुद्धि निर्णायक होती है। कि वह उसे क्या माने? चार प्रकार की बुद्धि होती है.बुद्धि, मेधा, ऋतम्भरा और प्रज्ञा। मेधा, ऋतम्भरा, प्रज्ञा आ जाने पर आत्मा-परमात्मा में रमण करने लगता है और मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

बुद्धि से बढ़कर अन्तःकरण है। यह इतना विचित्र है कि उसमें परमात्मा का रचा हुआ यह ब्रह्माण्ड समा जाता है। बुद्धियों को अन्तःकरण में रमण कर दो तब यह अन्तःकरण पवित्र बन जायेगा। तब तुम्हारा जीवन शिरोमणि बन जाएगा। अन्तःकरण से बढ़कर यह स्मृति है। जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार हमारे अन्तःकरण में विराजमान रहते हैं, उनके जागृत होने का नाम स्मृति है। स्मृति से बढ़कर ब्रह्मचर्य है। वह ओज और तेज का देने वाला है। तथा ब्रह्म में रमण करा देता है। ब्रह्मचारी संसार में ऊँचा, तेजस्वी, आदित्य, मृत्युंजय, रुद्र आदि नामों से पुकारा जाता है।

ब्रह्मचर्य से बढ़कर अन्न है। यह हमें ओज और ब्रह्मचर्य देता है। इसलिये अन्न और वनस्पतियों की याचना करो। अन्न से बढ़कर यह पृथ्वी है। मानव माता के गर्भ से पृथ्वी पर आता है। वह अन्न और वनस्पति से उसका पालन करती है। हमें पृथ्वी के विज्ञान को जानना चाहिये। इससे मानव कैसा भी वैज्ञानिक बन सकता है। यह आध्यात्मिक वैज्ञानिक को आत्मिक शान्ति देती है और भौतिक

वैज्ञानिक को भौतिक विज्ञान। वह इससे नाना प्रकार की मणियों तथा विद्युत् आदि जिसकी इच्छा करता है प्राप्त कर लेता है।

पृथ्वी से बढ़कर तेज है जो संसार में ओत-प्रोत होकर इसे चला रहा है। तेज ही वृष्टि करता है जिससे पृथ्वी में अन्न वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनको मनुष्य खाकर ब्रह्मचर्य प्राप्त करता है। ब्रह्मचर्य को सुरक्षित रखने से स्मृति ऊँची होती है, स्मृति ऊँची होने से अन्तःकरण पवित्र बनता है, अन्तःकरण पवित्र होने से बुद्धि पवित्र होती है; बुद्धि पवित्र होने से मन पवित्र होता है, मन पवित्र होने से वाणी पवित्र होती है, वाणी पवित्र होती है तो संसार की जानकारी अच्छी प्रकार से कर लेते हैं।

तेज से बढ़कर अन्तरिक्ष है। अन्तरिक्ष हमारी बुद्धियों, जीवन, आयु अग्नि का प्रेरक है। जो वाक्य हम उच्चारण करते हैं वह अन्तरिक्ष में रमण कर जाता है। अन्तरिक्ष से वह हमारी बुद्धियों के अनुकूल आता है। मेधा बुद्धि का सम्बन्ध अन्तरिक्ष से है। अन्तरिक्ष से बढ़कर अम्बर है। इसमें सब लोक-लोकान्तर अपनी-अपनी परिधि में रमण कर रहे हैं। अम्बर से बढ़कर प्राण है। यह तमाम संसार में ओत-प्रोत होकर उसका कल्याण करता है। प्राण, आत्मा का सहायक है तथा शून्य प्रकृति को चलाने वाला है। प्राण से बढ़कर परमपिता परमात्मा है जो प्राण को भी देने वाला है, संसार को चलाने वाला है और हमारी आत्मा को प्रेरणा देने वाला है।

हे नारद ! यदि तुम्हें आत्मिक शान्ति पानी है तो परमपिता परमात्मा की गोद में जाओ।

इस प्रकार महर्षि सनत्कुमार ने नारद को मनोविज्ञान, भौतिक विज्ञान, आध्यात्मिक विज्ञान और सब तेजों के विज्ञान का निर्णय कराया। (तीसरा पुष्प, १२-३-६२ ई.)

संस्कारों का जन्म

महर्षि भारद्वाज ने महर्षि पिप्पलाद से पूछा :.

ऐसा कौनसा संकल्प तथा प्रतिभा है जिससे आवागमन के संस्कार हमारे अन्तःकरण में प्रविष्ट न हों।

पिप्लाद ने विचार-विनिमय आरम्भ किया और कहा कि आन्तरिक भावनाओं को इतना पवित्र और उज्ज्वल बनाया जाये कि मस्तिष्कों में नाना प्रकार के द्वेषवाद और रूढ़िवाद का जन्म न हो।

भारद्वाज :.जब हम संसार में आये हैं, नाना प्रकार की औषधियों का पान करते हैं, हमारा प्राण इस वायुमण्डल में रमण करता है, प्रकृति के गर्भ में हम आये हैं तो नाना प्रकार के संस्कारों का उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

पिप्पालाद :.इन कार्यों से मानव में संस्कारों का जन्म नहीं होता। संस्कारों का जन्म तब होता है जब मानव इष्ट-विचारों पर टिप्पणी करना आरम्भ कर देता है, उस टिप्पणी के साथ उसमें घृणा उत्पन्न होती है, घृणा के साथ अभिमान होता है, अभिमान के कारण उसमें करुणा नहीं रहती, तब उसमें वे संस्कार जन्म लेते हैं जिनसे वह आवागमन में आ जाता है। हम सब प्रभु के इस विज्ञानमयी जगत-रूपी राष्ट्र में आते हैं, अनुसन्धान करते हैं, परमात्मा की प्रतिभा को जानते हुए वह अपने हृदय की अगम्यता

को, प्रभु के हृदय की अगम्यता में परिणत कर देते हैं तो दोनों का समन्वय हो जाता है। उस समय मानव इस संसार में कर्म करता हुआ भी इस जगत् से उदासीन हो जाता है। (चौदहवाँ पुष्प, २६-३-७० ई.)

संसार में कोई मानव यह उच्चारण करने लगे कि मेरी पिपासा शान्त हो गयी है तो यह असम्भव है, क्योंकि जिस मानव की आकांक्षा समाप्त हो जाती है, यह संस्कार बन जाता है तो मानव मोक्ष के द्वार पर जाने के लिये तत्पर ही जाता है, क्योंकि संस्कारों को उपलब्ध न करना, संस्कारों को जन्म न देना वही मार्ग प्रगति का कहलाता है। (चौबीसवाँ पुष्प, २७-१०-७३ ई.)

यह संसार कल्पवृक्ष है

कुछ विद्वानों का यह मत है कि ये सृष्टि-रूपी विज्ञानशालाएँ, नाना प्रकार के मण्डल वायु प्रधानता वाले, अग्नि प्रधानता वाले, पार्थिव प्रधानता वाले.सब कुछ केवल एक कल्पवृक्ष हैं। यहाँ जो मानव परमात्मा का आस्तिक बन कर, ऊर्ध्वागति बनाकर संकल्प करता है अपने मन में उदारता से विचार करता है कि यह परमपिता परमात्मा का वह स्थान है जहाँ मानव को वही वस्तु प्राप्त होती है जिसकी वह कल्पना करता है। इसलिये यह एक कल्पवृक्ष है। हम संसार में जैसी कल्पना करें, वैसे ही बन जाते हैं। योगी की कल्पना करने पर योगी, ऋषि की कल्पना करने पर ऋषि, गृहस्थी से गृहस्थी, विष्णु से विष्णु बन जायेंगे। मोक्ष की कल्पना करने से मोक्ष मिल जायेगा, दुराचारी बनना चाहें तो दुराचारी बन जायेंगे। अतः हमें

संसार-रूपी कल्पवृक्ष के नीचे आकर भोग-विलासों की कल्पना नहीं करनी चाहिये; देवता बनने की कल्पना करनी चाहिये, मोक्ष की कल्पना करनी चाहिये। (सातवाँ पुष्प, २७-४-६६ ई.)

यह संसार एक सुन्दर भवन है जिसमें मानव भ्रमण करने के लिये आता है तथा कर्म करता है। कहीं वह नृत्यकला, कहीं कलाकार बनता है, कहीं नाना प्रकार के आभूषणों को अपनाता है। ये सब कल्पनायें ही हैं। एक आयुर्वेदाचार्य कहता है कि मैं आयुर्वेद के सिद्धांत को तथा औषधि को जानने आया हूँ जिससे उन्हें जानकर आयुर्वेद का ज्ञाता बन जाऊँ। (बीसवाँ पुष्प, १४-१-७६ ई.)

जब इस संसार की कल्पना आत्मिक विज्ञान से करते हैं तो यह संसार कुछ नहीं, किंचत्मात्र है। आत्मिक विज्ञान के लिये यह संसार एक कल्पवृक्ष है। यहाँ जो कल्पनायें की जाती हैं वह ही मनुष्य की पूर्ण हो जाती हैं। देवता बनने की कल्पना कर लो, वैज्ञानिक बनने की कल्पना कर लो, भोग-विलासों वाली कल्पना कर लो, विष्णु बनने की कल्पना कर लो, वही बन जाओगे। (पाँचवाँ पुष्प, १९-१०-६४ ई.)

वास्तव में यह जगत् तो एक कृषकशाला है। यदि मानव दूसरे से द्वेष करता है तो वह द्वेष उसके अन्तःकरण में इतना प्रबल हो जाता है कि वह अपनी स्मरण-शक्ति को स्वयं ही निगल जाता है। अतः यह द्वेष दूसरे के लिये नहीं अपने लिये ही किया जाता है। द्वेष की मात्रा मानव की स्मरण-शक्ति तथा सुकृतों का हनन कर लेती है। सुकृतों के नष्ट हो जाने के पश्चात् मानव की परम्परा नष्ट हो जाती

है। अतः मानव का कर्त्तव्य है कि वह सदैव विचार करके कार्य करे, किसी के प्रति द्वेषात्मक दुर्भावनाओं को न पनपने दे, क्योंकि यह कोई सुन्दर कर्त्तव्य नहीं है। (बीसवाँ पुष्प, १४-१-७० ई.)

जो मानव दूसरों के प्रति अनिष्ट विचार बनाता है वे वास्तव में दूसरे के प्रति नहीं बनते, वे तो उसकी भावनाओं तथा अन्तःकरण को स्वयं शनैःशनै निगलते चले जाते हैं। यदि किसी के प्रति द्वेष किया जाय, क्रोधित हुआ जाये तथा अनिष्ट व्यापार किया जाय या अनिष्ट कल्पना की जाय तो उस समय तो उस मानव को स्वार्थ के कारण वह प्रतीत नहीं होता किन्तु उससे उसके सब पुण्य हनन हो जाते हैं। यह दर्शन वेद का ऋषि कहता है। (बीसवाँ पुष्प, १४-१-७० ई.)

घृणा करना मानव का सबसे महान् पाप है। घृणा का माध्यम मानव की बुद्धि को नष्ट कर देता हे। इससे मानव के विशाल प्रकाश वाले तन्तु नष्ट हो जाते हैं, भस्मीभूत होने के कारण मानव का विकास नहीं होता। जो मानव घृणा के द्वारा अपने मस्तिष्क को संकुचित कर लेता है उसके हृदय तथा मस्तिष्क का मिलान नहीं हो पाता। वह अपनेपन में नास्तिक बन जाता है तथा प्रभु की महत्ता को त्याग देता है। अपनेपन में इतना रूढ़िवादी बन जाता है कि वह विशाल हृदय से संसार को दृष्टिपात ही नहीं कर पाता। मानव जब पापों का वृक्ष बना लेता है, यह अशुद्ध होता है, वह मानव स्वयं को नष्ट कर देता है। इसके विपरीत जब वह अच्छाइयों का वृक्ष उत्पन्न करता है, मानवता का वृक्ष उत्पन्न करता है और उस वृक्ष की छाया में वह विराजमान होता है तो प्रभु को धन्यवाद देता है। मानव का

विशाल हृदय बनकर, ब्रह्मचर्य की ऊर्ध्वागति करके संसार में अच्छाइयों का वृक्ष लगाना चाहिए। (चौदहवाँ पुष्प, २-११-७० ई.)

स्वयं को जानो

जब तक मानव अपने को उच्च नहीं बनायेगा तब तक वह दूसरे मानव को कदापि नहीं जान पायेगा। हमें संसार की त्रुटियों पर दृष्टि नहीं रखनी चाहिये। ऐसा करने पर हम स्वयं त्रुटिपूर्ण हो जायेंगे। यहाँ समस्या यह है कि यदि हम दूसरों की त्रुटियों को न देखें तो संसार की जानकारी कैसे होगी। इसका समाधान यह है कि जो मानव संसार में किसी की जानकारी करना चाहता है तो पहले वह अपनी जानकारी करे इसके पश्चात् जिसकी वह जानकारी चाहता है वह स्वयं हो जाती है।

ब्रह्माण्ड के सभी तत्त्व, सूक्ष्म-भूत, अग्नि आदि इस शरीर में हैं। इस शरीर रूपी पिण्ड की जानकारी कर लेने पर हमें पता लग जाता है कि इसमें जो मन है वह ब्रह्माण्ड की जानकारी कर लेता है, अन्तःकरण ऐसा पदार्थ है जो शुद्ध हो जाने पर पूरे ब्रह्माण्ड को आकर्षित करके अन्तःकरण में अर्पित कर देता है और इस प्रकार पूरा ब्रह्माण्ड इसमें समाहित हो जाता है। जब मानव अपने अन्तःकरण को शुद्ध कर लेता है और मन की जानकारी कर लेता है तो संसार के मानव की त्रुटि नहीं देखता। वह संसार की त्रुटियों का समूह बनाता है जिसे वह ज्ञान के द्वारा अपने अन्तःकरण में देख लेता है कि अमुक मानव क्या करता जा रहा है। (प्रथम पुष्प ४-४-६२ ई.)

मानव को अपने ऊपर दया करनी चाहिये। परमात्मा के पुजारी मत बनो, अपने पुजारी बनो। यह विचारो कि जो कार्य मैं करने जा रहा हूँ वह मेरे शरीर, मेरे विचारों के अनुकूल भी है या नहीं, उससे लाभ है या हानि। काम और क्रोध से कितनी हानि होती है उसको विचारो। जिस समय मानव को क्रोध आता है उस समय १२ श्वाँसों में जो शक्ति नष्ट होती है, यदि उससे निकली प्राण-शक्ति की तरंगों को संचित करके त्वचा पर ओत-प्रोत कर दिया जाये तो १२ प्राणियों का हनन हो सकता है। इससे अनुमान लगाना चाहिये कि क्रोध से कितनी शक्ति और कितनी मानसिकता समाप्त होती है। इसी प्रकार जब ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी कामी बनते हैं तो कुछ समय के पश्चात् रुग्ण हो जाते हैं और नाना औषधियों में तल्लीन हो जाते हैं। यदि काम-वासना के समय विचारते तो आजीवन कभी रुग्ण न होते।

सन्ध्या करने में भी सबसे पूर्व अपने को ऊँचा बनाने तथा बलिष्ठ बनाने के मन्त्र आते हैं। जब हम अपने ही पुजारी बन जायेंगे तो परमात्मा के ऋतु को जानने वाले बन जायेंगे। परमात्मा के ऋत को जानकर ब्रह्म के मण्डल में चले जायेंगे। उस समय कोई कष्ट न होगा और उस समय स्वतः ही परमात्मा के पुजारी बन जाओगे। (नौवाँ पुष्प, २९-७-६६ ई.)

भौतिक परमाणुओं को जानने से पूर्व अपनी मानवता को जानना अनिवार्य है जिससे हम महत्ता में परिणत होते चले जायें, उसी से मानवीय गति तथा महत्ता का जन्म होता है। परमात्मा को जानने से पूर्व हमें अपने विचारों को सुगठित बनाना होगा। यदि हमारी

विचारधारा उज्ज्वल नहीं होगी तो हमारा जीवन किसी काल में भी उन्नत नहीं होगा। (बीसवाँ पुष्प, १८-२-७६ ई.)

श्रेष्ठ पुरुष बनो

(१) संसार में जो शुभ कर्म करने को आगे चलता है उसके समक्ष आशायें भी आती हैं तथा निराशायें भी आती हैं। संसार में उसके जीवन को नष्ट करने की योजनाएं बनाई जाती हैं तथा चरित्र सम्बन्धी दोष भी लगाये जाते हैं। इसमें उस महापुरुष का दोष नहीं होता। जो मानव बिना दृष्टिपात किये तथा बिना विचारों के किसी के सम्बन्ध में दूषित विचार प्रकट करता है तो उससे उसका पुण्य हनन हो जाता है। अतः संसार में जो भी विचार व्यक्त करना हो, उस पर पहले विचार-विनिमय कर लेना चाहिये। (इक्कीसवाँ पुष्प, २८-२-७२ ई.)

(२) प्रत्येक बुद्धिमान, गम्भीर और तपस्वी अपनी बुद्धि को किंचत ही कहता है। इसका कारण यह है कि यदि किंचत बुद्धि से कोई वाक्य अशुद्ध हो जाये तो उस अशुद्धता का भार अपने ऊपर न बने। बुद्धिमान उसका निर्णय दे दें। (चौथा पुष्प, २८-७-६३ ई.)

(३) मानव का जीवन तभी श्रेष्ठ बनता है जब उसका मान और अपमान दोनों हों, मित्र और शत्रु हों और वह शत्रु को भी मित्र बना सके। जो आज शत्रु दिखाई देते हैं किसी समय मित्र भी बनेंगे। (आठवाँ पुष्प, १३-११-६३ ई.)

(४) संसार में वह मानव ऊँचा कहलाता है जो दूसरों के गुणों का ग्राही बनता है तथा अपने अवगुणों को हर समय विचारा करता

है। वह वेद को मानने वाला कहलाता है। दूसरों की त्रुटि देखने वाला वैदिक ब्राह्मण नहीं कहलाता। यदि कोई मनुष्य वेद का पाठी है तथा दुराचार करता है तो उसके दुराचार को अवश्य उच्चारण करना चाहिये। (चौथा पुष्प, १८-४-६४ ई.)

(५) संसार में मानव अपने अन्तःकरण को पवित्र बनाने के लिये आता है। यदि उसका अन्तःकरण पवित्र होने के पश्चात् कोई अन्य उसके अन्तःकरण से लाभ उठाना चाहता है तो उठाना चाहिये। इससे मानव के हृदय में एक उज्ज्वलता आती है। (बारहवाँ पुष्प, ३-१०-६४ ई.)

(६) उन्हीं आत्माओं का जीवन पवित्र कहलाता है और धन्य होता है जो अपने जीवन को संधर्ष में व्यतीत करते हैं। संघर्ष वही होता है जो ज्ञान और विज्ञान से परिपक्व हो। हमें अपने अवगुणों को, एक-दूसरे में त्रुटि देखने की भावना को अपनी ज्ञान-रूपी तरंगों से नष्ट-भ्रष्ट कर देना चाहिये। उसके पश्चात् अपनी आत्मा को पवित्र और बलिष्ठ बनाकर हमें भगवान राम जैसा चक्र फहराना चाहिये। (चौथा पुष्प, १७-४-६४ ई.)

(७) जो महापुरुषों की वार्ताओं को दूर करता है वह मानव संसार में कभी सफल नहीं होता। मानव में सूक्ष्मसा ज्ञान आने पर अभिमान आ जाता है, यह अभिमान मिथ्या है क्योंकि जो कुछ भी है सब प्रभु का ही तो है। अतः समाज में निरभिमानता होनी चाहिये, इससे महत्ता वाली विचारधारा बन जाती है। (उन्नभवाँ पुष्प, २६-२-७२ ई.)

(८) यदि हमें संसार में ऊँचा बनना है और संसार में वास्तविकता लानी है तो हमें एक-दूसरे से प्रीति करनी चाहिये। प्रीति से समाज में उन्नति होती है। (चौथा पुष्प, १९-७-६४ ई.)

(९) विश्वास और धारणा यह मानव के स्वाभाविक गुण हैं और लक्षण भी है। इसको जानने की मानव में स्वतः इच्छा होती है। अपना जीवन बनाना ही मानव का कर्त्तव्य है। (नौवाँ पुष्प, १८-७-६७ ई.)

(१०) इस संसार में कोई मानव किसी को ऊँचा नहीं बना सकता, जो भी मानव ऊँचा बनता है वह अपने कर्मों तथा विचारों के अनुसार ऊँचा बनता है। वे विचार चाहे उसके इस जन्म के हों या पूर्व जन्म के हों। किसी जन्म के संस्कार मानव को ऊँचा तथा न्यून बना दिया करते हैं। संसार में ऊँचा वही बन सकता है जिसके हृदय में उदारता और करुणा होगी जो 'अहिंसा परमो धर्मः' का पुजारी होगा ओर प्रभु का विश्वासी होगा, जिसे प्राणिमात्र से स्नेह होगा। (ग्यारहवाँ पुष्प, १-८-६८ ई.)

(११) जिस मानव को संसार में विशाल बनना है, उसे अपने हृदय रूपी गुफा में चेतना को, आत्मा को जानना चाहिये। जब हम उसको जानने लगते हैं तो हमें ज्ञान होता है, विवेक होता है। (चौदहवाँ पुष्प, २६-३-७० ई.)

(१२) प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य है कि वह आत्मा के ऊपर चिन्तन करे तथा अपने कर्तव्य का पालन करे। केवल भोग-विलास तथा ऐश्वर्य में न फंसा रहे। (चौदहवाँ पुष्प, २७-३-७० ई.)

(१३) हमें मानव वाले कर्म करने चाहियें तथा देवता बनने की क्षमता व प्रेरणा होनी चाहिये। यह प्रेरणा मानव के हृदय से प्राप्त होती है। हृदय उस समय पवित्र होता है जब यह मन स्थिर होता है। यह ज्ञानेन्द्रियों के विषय को लेकर स्थिर हो जाता है। तो हृदय से सुन्दर-सुन्दर प्रेरणाओं का जन्म होता रहता है। उन्हीं प्रेरणाओं के साथ और उन्हीं के प्रकाश में हम पनपते रहते हैं। प्रकाश आता रहता है, जीवन आता रहता है तथा जीवन के आश्रित हो करके हम संसार की उत्तम-उत्तम आभाओं का दीर्घ-दर्शन करने लगते हैं, उन्हीं का विचार विनिमय करते-करते हम ज्ञान और विज्ञान की आभाओं में भ्रमण करने लगते हैं। (पन्द्रहवाँ पुष्प, २३-८-७१ ई.)

(१४) मानव-जीवन दिवस के समान है, शिशुकाल, प्रातः, युवा मध्याह्न तथा वृद्धावस्था सायंकाल है। शिशुकाल में मानव जब मधुरता में, आनन्दता में, नम्रता में रमण करता है तो वह ऊँचे मार्ग पर चला जाता है। यदि मध्याह्न में तेज देकर उसे अभिमान हो गया तो उसकी मर्यादा समाप्त हो जाती है। यदि मानव ने जीवन में मन्थन नहीं किया तो वृद्धावस्था में अज्ञान छाकर रात्रि आ जायेगी। (नौवाँ पुष्प, १८-७-६७ ई.)

(१५) यदि मानव को अपनी विद्या का, वेद-विद्या का, मानव जाति का गौरव होता है तो मानव का जीवन एक काल में महान् बन जाता है। (पाँचवाँ पुष्प, १९-८-६२ ई.)

(१६) एक मानव कहता है कि मैं यह करूँगा। परन्तु इसका सामर्थ्य है नहीं, तो वह मिथ्यावादी बनकर संकल्पहीन बन जाता है।

जो मानव संकल्पहीन हो गया उसका जीवन अधूरा ही रह जाता है। संकल्प ही मानवत्व का प्रतीक है। जैसे किसी ने संकल्प किया कि मैं क्रोध नहीं करूँगा तो जिस समय उसने अपने संकल्प को भंग किया तो उसी समय उसकी मानसिकता नष्ट जाती है। (नौवाँ पुष्प, २९-७-६६ ई.)

चरित्र का महत्व

चरित्र ही मानव का जीवन है। वह उसे राष्ट्रीय बनाता है। चरित्र के लिये ही राष्ट्र का निर्माण होता है। चरित्र और धर्म की स्थापना ही राष्ट्र का मुख्य उद्देश्य होता है। (तेरहवाँ पुष्प, ९-११-६४ ई.)

हम दूसरों को तभी ऊँचा बना सकते हैं जब हममें चरित्रता और मानवता होगी और हममें ज्ञान रूपी अग्नि होगी। (सातवाँ पुष्प, ८-११-६३ ई.)

जो व्यक्ति दुराचारी है उसका विरोध सदैव करना चाहिये। जो चिन्तनवादी है, चिन्तन करके ऊँचा जाता है उसका आदर करना चाहिये, जो वेद को स्वीकार नहीं करता परन्तु चरित्र को स्वीकार करता है वह नास्तिक नहीं होता। नास्तिक वह जिसको स्वयं आत्म-विश्वास नहीं होता। संसार में वे ही नास्तिक कहलाये जाते हैं जिसको अपनी आत्मा तथा स्वयं पर अधिकार नहीं होता। वे भी नास्तिक कहलाते हैं जो वेद की पोथी को जानने वाला हो परन्तु वेद के स्वरूप को न जानता हो। केवल इससे कोई व्यक्ति नास्तिक नहीं कहलाया जा सकता कि वह प्रभु को स्वीकार नहीं करता। जब त्रैतवाद को स्वीकार कर लेते हैं तो उसमें नास्तिकवाद का प्रश्न ही

नहीं उठता। यह आवश्यक नहीं कि प्रभु का चिन्तन करने वाला ही आस्तिक हो। जो प्रभु का चिन्तन आस्तिक श्रद्धा से करता है और आत्मा के स्वरूप को जानता है वह संसार में वास्तविक आस्तिक होता है। (नौवाँ पुष्प, १३-४-६९ ई.)

हम अपने जीवन को यज्ञमय बनाना चाहते हैं। यज्ञमय जीवन उसे कहते हैं जब मानव अपनी मनोभावना को दृढ़वत बना लेता है, सुसज्जित बना लेता है। मानव जो वाणी से कहता है वह उसके कर्म में हों, जो कर्म में हो वही व्यवहार में, उसके मानवीय क्षेत्र में होनी चाहिये जो मानव अपनी वाणी को, अपने शरीर को, अपने जीवन को ऊँचा बनाना चाहता है वह त्रुटियों को त्यागने का प्रयास करे और सत्यता को लाने के लिये सदैव तत्पर रहे, इसी का नाम जीवन है। वही मानव का तप है। (अट्ठाईसवाँ पुष्प, ११-१२-७४ ई.)

यथार्थ के अतिरिक्त मिथ्या कभी नहीं बोलना चाहिये। मिथ्या बोलने से यदि किसी को कष्ट होता है तो वह तो पाप है ही, यदि कोई मिथ्या इस प्रकार का है कि उससे किसी को कष्ट नहीं तो भी उससे अपना आत्मबल गिरता है। अतः वह भी त्याज्य है यदि मिथ्या उच्चारण से किसी का हित होता हो तो वह भी उचित नहीं। उस समय तो उसका हित हो जायेगा, किन्तु उसके पश्चात् दोनों को अभिमान हो जायेगा। एक को तो यह कि उसने मिथ्या के होते हुये भी अपने को बचा लिया। दूसरे को यह कि उसकी वाणी में इतना बल है कि उसने उसको कष्ट से बचा लिया। इस अभिमान से दोनों का विनाश हो जाता है। फिर उससे समाज तथा राज्य-व्यवस्था भी

भंग होती है। जो मिथ्या उच्चारण से अपने उदर की पूर्ति करते हैं वह भी उचित नहीं क्योंकि पहले उसमें आनन्द आता है किन्तु अन्त बड़ा क्लिष्ट होता है। यथार्थ उच्चारण करने से आरम्भ में तो कष्ट होता हे किन्तु एक समय वह आता है जब यह संसार में सूर्य बन जाता है, उसकी वाणी में अमोघता आ जाती है। (दसवाँ पुष्प, २६-७-६३ ई.)

स्वाभिमान उच्चारण करना मानव के लिये सहज है परन्तु स्वाभिमानी बनना बहुत दुर्लभ है। स्वाभिमानी पुरुष वह होता है जो अपने मन को जान लेता है, अपने में प्रतिष्ठित होता है। रहा यह कि संसार में पदार्थो का वह स्वाभिमानी बन जाये तो उसकी प्रतिभा, उसकी मानवता का जो विशेषण है वह मानवता में समाप्त हो जाता है। (चौबीसवाँ पुष्प, २७-१०-७३ ई.)

संसार में जितना भी क्रोध आता है वह जानकारी के कारण ही अधिक आता है। जिसको मानव जानता ही नहीं, उस पर क्रोध भी क्या आ सकता है। जिसकी प्रवृत्तियों को मानव जानने लगता है उस पर क्रोध स्वाभाविक हो जाता है। (तेरहवाँ पुष्प, १८-१-७० ई.)

वेद का उपदेश

वेद का उपदेश है कि हे मानव! तू अपने जीवन को महान् और सुन्दर बना। वेद अमानवता की नहीं, मानवता की घोषणा करता है। वेद का ऋषि कहता है कि यह मानव शरीर न तो मानव है और न आत्मा है, यह तो प्रभु की देन है अथवा धरोहर है। यह मानव शरीर तो योनिज है परन्तु मानव को मानव बनने के लिये कहा है। शरीर के आकार से ही मानव नहीं बनता, मानव तो वह होता है जो

मननशील होता है, ज्ञान और विज्ञान के मनन करने में उस दिव्य महान् प्रभु के आनन्दमय स्वरूप को दृष्टिपात करता है क्योंकि वह हमारे जीवन का और संसार का स्तम्भ है। मानव से ही देवता बनना है, देववत् बनना हमारा कर्त्तव्य है। मानव के हृदय में तरंगों की उद्बुधता होती है, उन्ही तरंगों से अर्थात् वाणी, प्राण, क्षेत्र के द्वारा उनका बाह्य स्वरूप बनता रहता है। यह बाह्म स्वरूप ही अमानवता में ले जाने वाला है। इस बाह्य स्वरूप को जब अन्तरात्मा में दृष्टिपात करने लगते हैं तो मानव का जीवन आनन्दमय होकर पवित्रता में परिणत हो जाता है। मानव को याज्ञिक बनना चाहिये क्योंकि यज्ञ ही उसका कर्म है। जितने भी शुभ कर्म हैं वे सब यज्ञ ही कहलाए गये है। (उन्नीसवाँ पुष्प, २८-१०-७२ ई.)

वेद का उपदेश है कि प्रकाश ही मानव का जीवन है तथा अन्धकार में जाना ही मृत्यु है। यह प्रकाश ही जीवन है, राष्ट्रवाद है तथा उन्नत ज्योति है। मानव संसार में उज्ज्वल बनने तथा परमात्मा की आराधना के लिये आता है, दुष्ट-कर्म करने के लिये नहीं। (बीसवां पुष्प, २८-९-७० ई.)

मानव के लिये वेद में परमात्मा का उपदेश है कि हे मानवो! तुम एक-दूसरे से प्रीति करों, परस्पर प्रेमपूर्वक व्यवहार करो, भौतिक विज्ञान और आध्यात्मिक विज्ञान को जानकर अपने जीवन को उच्च बनाओं, स्वयं प्रकाशवान होकर, अपने जीवन को उच्च बनाकर प्रकाश वाले कर्म करो। परमात्मा ने हमें प्रकाश पाने का अवसर दिया है। यदि हम कर्त्तव्य कर्म नहीं करेंगे तो हमारा जीवन व्यर्थ हो जाएगा।

इसीलिए मानव को कोई कार्य कल पर नहीं छोड़ना चाहिये क्योंकि पता नहीं आत्मा इस शरीर को त्यागकर कब कूच कर दे और मानव का यह जीवन कब समाप्त हो जाये। हमारा कर्त्तव्य है कि इस सुन्दर संसार में हम धर्म की आस्था तथा राजनीति की मर्यादा को बाँधकर ही परलोक सिधारें। यही परमात्मा का आदेश है। (दूसरा पुष्प, ३-४-६२ ई.)

परोपकार करो

परमात्मा ने जितने पदार्थ बनाये हैं वे हमारे जीवन को उच्च बनाने के लिये हैं। यह शरीर परमात्मा ने अपना तथा दूसरों का उपकार करने के लिये दिया है, जीवन को उच्च बनाने का महान् कर्त्तव्य हमें सौंपा है। कर्म करने में सब वस्तुओं का सदुपयोग करने का आदेश है। जो उनका दुरुपयोग करते हैं उनके जीवन का कोई महत्व नहीं रहता। (प्रथम पुष्प, ६-४-६२ ई.)

मानव में संसार में सुगन्धि देने की भावना होनी चाहिये। मानवीय समाज में, प्राणीमात्र में, जैसे वृक्ष प्राणीमात्र के लिये छाया देता है। सूर्य प्रकाश देता है तथा नाना प्रकार की वनस्पतियाँ सुगन्धि देती हैं, इसी प्रकार अपने से भी हमें शिक्षा प्राप्त होती है, जैसे रसना सब स्वाद चखती है किन्तु उसमें इतनी त्याग भावना है कि वह अपने पास कुछ नहीं रखती। हमें अपनी विचारधारा को विशाल बनाने का प्रयास करना चाहिये। जैसे परमात्मा की महत्ता संसार में ओत-प्रोत हो रही है,इसी प्रकार मानव को भी प्रकाशवान होना चाहिये। मानव को सुगन्धि ही देनी चाहिये, कहीं पदार्थों से, कहीं

विचारों से, कहीं अपनी ऊर्ध्वागति और आचरणों से। इसमें संसार का प्राणी लाभान्वित हो सके तथा शिक्षाप्रद हो। हमें उस शिक्षा को तथा सुगन्धि को सदैव पान करना चाहिये जिससे मानव-जीवन ऊर्ध्वागति को प्राप्त होने लगता है। (उन्नीसवाँ पुष्प, २६-२-७२ ई.)

पूजा का अभिप्राय

पूजा का अभिप्राय यह है कि जो गुण जिसमें होते हैं उन गुणों को विस्तार में, प्रत्यक्ष में लाये। जैसे हम यज्ञ करते हैं, उसके प्रकाश को ग्रहण करते हैं, प्रकाशमय होते हैं। उस प्रकाश को लेकर उसका सदुपयोग करना ही उसकी पूजा कहलाती है। इसी प्रकार पवित्र आत्माओं का रमण तथा उनके चरित्र को अपने में लाना ही मानव का कर्त्तव्य है तथा यही उसकी पूजा कहलाती है। (छठा पुष्प, २८-७-६६ ई.)

जो जैसा पदार्थ है उसको उसी रूप में स्वीकार करना, उसी रूप में ले जाना वह उसकी पूजा करना है। जैसे अग्नि पूजा है उसका सदुपयोग करना है, उससे यज्ञ करना है सुगन्धि का प्रसारण करना है, उससे अन्न आदि को पचाना है। यह अग्नि पूजा नहीं कहलाती कि अग्नि प्रदीप्त हो रही है और मानव उसके समीप होता हुआ उसका सदुपयोग नहीं कर रहा है। अज्ञानता में जो अन्धविश्वास किया जाता है वह भी राष्ट्र और समाज को अन्धकार में ले जाता है। हम संसार को तभी ऊँचा बना सकते हैं जब पूजन की सामग्री हमारे पास हो। पूजन की सामग्री, हमारा ज्ञान और विज्ञान है। हम उसका सदुपयोग करते चले जायें।

हमें लक्ष्मी पूजन करना चाहिये। पूजन का अभिप्राय यह है कि सदुपयोग किया जाये। जो अपने द्रव्य का सदुपयोग करते है वह सौभाग्यशाली है। जो मानव इसका दुरुपयोग करता है तो लक्ष्मी माँ उसको नहीं अपनाती और अपने से दूर कर देती है, अर्थात् उसका द्रव्य समाप्त हो जाता है। लक्ष्मी का आहार जल और वायु है। जल में प्राणत्व की भावना आती है और इन प्राणों से ही इस द्रव्य लक्ष्मी की उत्पत्ति होती हे। प्राणों का स्रोत है यह आत्मा। आत्मा का स्रोत परमपिता परमात्मा है। इस प्रकार यह द्रव्य परमात्मा से प्राप्त होता है, परमात्मा ने इसको दिया है। हमें इसे दुरुपयोग करने का कोई अधिकार नहीं है। परमात्मा के क्षेत्र में इसको परिणत करना चाहिये। (अट्ठाईसवाँ पुष्प, १७-११-७५ ई.)

द्रव्य धर्म के लिये होता है, किन्तु आज तो धर्म को पाप में परिणत कर दिया है तथा द्रव्य का प्रयोग भी धर्म के स्थान पर पाप में ही किया जा रहा है। राष्ट्र के द्रव्य को तथा प्रजा के भी द्रव्य को धर्म में परिणत हो जाना चाहिये। जब प्रजा का द्रव्य पाप में परिणत हो जाता है तो वह राष्ट्र में जाकर राष्ट्रीयता में परिणत हो जाता है, उससे नाना यन्त्र बनाये जाते हैं जिनसे एक-दूसरे को नष्ट किया जाता है। किन्तु मानव जीवन को बनाने वाला कोई यन्त्र नहीं बनाया जाता। (सोलहवाँ पुष्प, १-८-७० ई.)

कर्त्तव्यपालन

जिस प्रकार यह प्राण रुद्र रूप धारण करके अपने गृह को सुरक्षित रखने के लिये अपने-अपने स्थान पर विराजमान होकर

अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहे हैं, इसी प्रकार प्रत्येक मानव, प्रत्येक देवकन्या और ऋषिमण्डल को यदि इस संसार को ऊँचा और विलक्षण बनाना है तो अपने-अपने कर्त्तव्य पर दृढ़ हो जाना चाहिये। राजा का प्राण प्रजा है। यदि प्रजा अपने कर्त्तव्य का पालन करती है तो राजा भी उसकी रक्षा कर सकता है। (चौथा पुष्प, १९-७७६४ ई.)

यह संसार विचारों से, भावनाओं से, चरित्र से ऊँचा बनता है। राष्ट्र हो साधारण प्राणी हो, कोई भी मानव हो, जब तक उसकी रचना सुन्दर नहीं वह ईश्वरीय गुणों से गुथी न हो तो रचना अधूरी ही रहती है, उसमें अभिमान होता है। उस अभिमान से मानव के मौलिक और आन्तरिक विचार नष्ट-भ्रष्ट होते रहते हैं। जब मानव में प्रभु की सुगठिता नहीं होती तो मृत्यु से बचने का प्रयत्न करता है, मानव मानव से भयभीत रहता है, सब ओर भय और आशंकाओं का वातावरण बना रहता है। इससे चिन्तायें रहती हैं और ये ही मानव के विनाश का कारण होती हैं। (नौवाँ पुष्प, २-३-६३ ई.)

संसार में मानव का जो जन्म होता है वह प्रभु को प्राप्त करने के लिये तथा आत्मा को स्वतन्त्र बनाने के लिये होता है। इसलिये मानव बनना चाहिये तथा धर्म कर्म करना चाहिये। (पच्चीसवाँ पुष्प, ११-११-७२ ई.)

अधिकार तथा कर्त्तव्य

मानव को अधिकार में परिणत नहीं होना चाहिये। अधिकार तो मानव को स्वतः प्राप्त हो जाता है। वह अधिकार मानव को उच्चारण

करने से, उसके लिये संग्राम करने से कदापि प्राप्त नहीं होता। जब विधाता-विधाता में त्याग की प्रवृत्ति नहीं रहती तो मानव विडम्बना में परिणत हो जाता है। किन्तु जब वह नम्र बन जाता है और वह जानता है कि संसार में तेरा अस्तित्त्व क्या है, मेरे शरीर का निर्माण क्यों हुआ है आदि इन वाक्यों पर विवेकी पुरुष विचार करता है तो वह सेवक बन जाता है। उसे संसार की विडम्बना अथवा सांसारिक पदार्थ मिलाते नहीं। वह कर्त्तव्यवाद में राजसिक विचार बना लेता है। वह कहता है कि मैं स्वाभिमान के लिये कर्त्तव्य कर रहा हूँ। जहाँ त्याग भावना होती है, जहाँ तपस्या होती है वहाँ मानवता का आदर्श होता है, विचित्रता होती है और वहाँ कर्त्तव्य के लिये मानव अधिक रहना चाहता है और यह चाहता है कि मैं कर्त्तव्य का पालन कर रहा हूँ।

कर्त्तव्य के अभाव में तो अधिकार ही रह जाता है। वह चाहे अनधिकारी हो परन्तु अधिकार के लिये संग्राम करता है, विधाता विधाताओं का विनाश हो जाता है। इस समाज में वह काल बड़ा नष्ट-भ्रष्ट होने वाला होता है जहाँ प्रत्येक मानव अपने अधिकार के लिये ही जीवनयापन करता है चाहे अनधिकारी हो। उसमें नम्रता नहीं होती तपस्या नहीं होती। उसका परिणाम यह होता हैं, रक्तभरी क्रान्तियों का संचार हो जाता है। उस काल में समाज भ्रष्ट हो जाता है और वर्ण-संकरता की स्थापना हो जाती है।

अधिकार के लिये भी मानव को संग्राम करना चाहिये, परन्तु पहले अपने मनुष्यत्व का अधिकार जान लेना चाहिये, हमारा

मनुष्यत्व उस अधिकार को स्वीकार करता है या नहीं। परन्तु जब हमारा मनुष्यत्व, हमारी मानवता अधिकार में परिणत नहीं है, हमारा अन्तरात्मा इस वाक्य को सत्य उच्चारण करने के लिये तत्पर नहीं है तो हम कैसे सफल हो सकेंगे ? परिणाम यह है कि तपस्या, प्रभु का ज्ञान, विवेक मानव को सत्यवादी बनाता है और सत्यवादी बनने के पश्चात् उसमें विवेक आता है, विवेक आने के पश्चात नम्रता आती है, नम्रता आने के पश्चात् त्यागी बनता है। वह समानता में धर्म को दृष्टिपात करता है। प्रत्येक स्थली में धर्म ही धर्म उसके लिये रह जाता है। बिना धर्म के इस संसार में कोई भी मानव उत्तीर्ण नहीं होता। (चौबीसवाँ पुष्प, २७-१०-७३ ई.)

अपराधी कौन?

अपराधी वह मानव होता है जो अपनी अन्तरात्मा का हनन करके उसके विपरीत कर्म करता है। हृदय कुछ प्रेरणा दे रहा है तथा मानव कुछ कर्म कर रहा है। वह आत्मा के विरुद्ध है तथा आत्मा का हनन है। प्रभु के राष्ट्र में वही अपराधी है जो परमात्मा की आज्ञा का पालन पापाचारों में रमण करता है। (उन्नीसवाँ पुष्प, १९-३-७२ ई.)

जो बालक माता की आज्ञा का पालन नहीं करता वह माता के ऋण से उऋण नहीं होता। उसमें सद्गति व सद्विचार हों। जो माता की आज्ञा का पालन करने वाला होता है वह संसार से उदासीन होकर हृदय-ग्राही कर्म करता है। (उन्नीसवाँ पुष्प, १९-३-७२ ई.)

नीति

जैसा समय आये उसी के अनुसार करो, यह नीति है। इसी में

मानव का विकास होता है। (तीसरा पुष्प, ८-३-६२ ई.)

महाराज कृष्ण ने अर्जुन से कहा था, अरे अर्जुन यह काल तुम्हारा संग्राम करने का है। यह आत्मा तो विभु है, यह न जन्म लेती है न मृत्यु को प्राप्त होती है। तूम किसको नष्ट करेगा? अर्जुन के कहा कि जब यह आत्मा समाप्त नहीं होती तो यह अज्ञानता क्यों करा रहे हो? कृष्ण ने कहा, अरे अर्जुन! मानव का जैसा समय होता है वैसा उसे भोगना पड़ता है। समय के अनुकूल कर्म करना अनिवार्य है। अपने कर्त्तव्य को पहचान। (तीसरा पुष्प, १९-३-६२ ई.)

प्रफुल्लित रहो

मानव जब विनोद करता है तो उसका हृदय पवित्र, निर्मल और स्वच्छ होता है। (तीसरा पुष्प, १२-३-६२ ई.)

जब मानव चिन्ता में हो तो विनोद करने लगो, चिन्ता से विहीन होते चले जाओगे। चिन्ता करने से कोई लाभ नहीं होता, भावी प्रबल होती है। (दूसरा पुष्प, २९-७-६४ ई.)

मौनव्रत करते समय कोई भी मानसिक बाधा नहीं होनी चाहिये। मानसिक बाधा में जो परिश्रम होता है उससे बुद्धि का ह्रास होता है। (इक्कीसवाँ पुष्प, पृष्ठ-२४)

ऋतु परिवर्तन का स्वास्थ्य पर प्रभाव

प्रभु ने ऋतु परिवर्तन का विधान बनाया। बसन्त ऋतु में तथा अन्य ऋतु परिवर्तन के समय जो मानव ब्रह्मचर्य को ऊँचा बनाता है, उसकी रक्षा करता है वह निरोग तथा स्वस्थ रहता है। इसके विपरीत जो मानव पापी होता है, ब्रह्मचर्य सत्ता को नष्ट करने वाला होता है

उसके हृदय में इतने तुच्छ संस्कार तथा मल-विक्षेप आ जाते हैं कि वह ऋतुकाल में कहता है कि परमात्मा मेरे जीवन को समाप्त कर दे। (सातवाँ पुष्प, १२-७-६२ ई.)

अनुभवों को लेखनीबद्ध करते समय सावधान

ऋषियों का कथन है कि अपने जीवन की धाराओं को लेखनीबद्ध करना चाहिये। किन्तु लेखनीबद्ध करने से पूर्व वे विचार लेते हैं कि शुद्ध विचारों को ही लेखनीबद्ध करना है। ऐसे मानव विरले ही होते हैं जो सौभाग्यशाली होते हैं अन्यथा मानव अपने जीवन की महान् से महान् भूल को भी लेखनीबद्ध कर देते हैं। (इक्कीसवाँ पुष्प, पृष्ठ-२४)

कैलाशपति बनो

हमारे शरीर में इन्द्रियाँ कैलाश हैं । इनका पति यह आत्मा है। इन्द्रियों को प्रेरित करने वाला यह मन है। मन को वश में करके हमें पवित्र और सदाचारी बनना चाहिये। (आठवाँ पुष्प, १३-११-६३ ई.)

महर्षि याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा था कि हे जनक ! यह मन तो शांत रहता नहीं, यह तो कार्य करता ही रहता है। इसीलिये तुम मन को शुद्ध बनाओं, मन में अच्छे संकल्प नियुक्त करो। मन अच्छे कार्यों में लग जायेगा तो यह स्थिर हो जायेगा। तभी अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार अन्तःकरण को शुद्ध कर उस प्रभु से सम्बन्ध करा सकते हैं तो विभु है, जो पाप-पुण्य कर्मो का फल देने वाला है। इसके अतिरिक्त कोई साधन नहीं। यह निश्चय है कि मानव जैसा कर्म करता है वैसा ही भोगता है। (तीसरा पुष्प, ९-३-६२ ई.)

ज्ञान-प्राप्ति के चार साधन (अध्ययन, मनन, कार्यान्वयन, सत्संग)

शान्ति तभी प्राप्त होती है जब ज्ञान शुद्ध और पवित्र हो, यज्ञमय भी हो। जब ज्ञान ही वस्त्र, ज्ञान ही भूषण, ज्ञान का ही मार्ग और ज्ञान का ही उसका सर्वस्व शरीर हो जाता है तो उस समय मानव को परम शांति प्राप्त होती है। यदि कोई मानव ज्ञान के क्षेत्र में नहीं जाना चाहता तो यह उसे जान लेना चाहिये कि वह जो भी शुभ या अशुभ कर्म करेगा उसे भोगना उसके लिये अनिवार्य है। (बारहवाँ पुष्प, ५-३-६९ ई.)

ज्ञान का सागर इतना अनुपम है कि भावुकता में मानव अपने को समाप्त कर देता है। जैसे जिज्ञासु जब अपने गुरु के चरणों में ओत-प्रोत होता है तो अपने व्यक्तित्व को त्याग करके वह उनके चरणों के रज के समान हो जाता है क्योंकि वह भावुक होता है। (छठा पुष्प, १९६६ ई.)

ज्ञान-विज्ञान की आभा का स्रोत मानव के अन्तःकरण में होता है। उस अन्तःकरण में जो सुन्दर आभायें आती रहती हैं वे उन पवित्र आभाओं से प्राप्त होती हैं जिसको पवित्र माना गया है, तथा आनन्दमय माना गया है। (अट्ठारहवाँ पुष्प, १३-४-७२ ई.)

जिस प्रकार अग्नि की गति का प्रवाह अपने सखा सूर्य की ओर ऊर्ध्व होता है, द्युमण्डल की ओर होता है इसी प्रकार प्रत्येक प्राणीमात्र का आत्मा, आत्म-ज्ञान के लिये पिपासु रहता है। (पच्चीसवाँ पुष्प, १४-८-७२ ई.)

आत्मा का अध्ययन करना प्रत्येक मानव का परम कर्त्तव्य है।

आत्म-तत्त्व को जानने के पश्चात् मानव का कोई शेष कर्म नहीं रह जाता। मानव की सदा से इसको जानने की इच्छा रही है। जो मानव न तो आत्मा का चिन्तन करके आत्मवेत्ता बनना चाहता है और न आत्मा को स्वीकार करता है वह जीवन का अधिकारी नहीं। जीवन का अधिकारी वही है जो अपने ऋणों से उऋण होना चाहता है। संसार में मानव जो भी कर्म करता है वह स्वयं अपने लिये ही करता है, किसी अन्य व्यक्ति, चेतना या ईश्वर-तत्व के लिये नहीं। अपनेपन में ही उसे प्रसिद्धि प्राप्त होती है तथा अपनेपन में ही नाना प्रकार से उसका अन्तरात्मा धिक्कारने लगता है। उसको भी जीवन का अधिकार नहीं। जीवन का अधिकार उसे ही है जिसको अपनी आत्मा पर अटूट श्रद्धा हो तथा विश्वास हो। जिस मानव को अपनी आत्मा और स्वयं की प्रवृत्तियों पर विश्वास और श्रद्धा नहीं होती, उसका अन्तरात्मा उसको धिक्कारता रहता हैं परन्तु वह अपने प्रकृति के आवेशों में आ करके उसकी प्रतिभा को अस्त होते हुए सूर्य की किरणों की भाँति समाप्त कर देता है।

मानव को अपना यथार्थ वाक्य उच्चारण करने का अधिकार है। परन्तु यह अधिकार उसको तभी प्राप्त होता है जब स्वयं उसे अपनी आत्मा पर विश्वास होता है। इसके बिना वह वायुमण्डल तथा दूसरे मानव के हृदय को प्रभावित नहीं कर पाता। वह तो अशुद्ध क्रान्ति ही ला सकता है। जो मानव शुद्ध हृदय से यथार्थ उच्चारण करता है तथा त्रुटिमय शब्दों को त्याग देता है तो उसका वह अधिकारी है। उस अधिकार की पवित्रता में मानव जब अपना विचार इस प्रभु के आंगन

में देता है तो उस मानव की एक महान् विचारधारा बनती चली जाती है।

हमें जीवन में अध्ययनशील बनना चाहिये। जैसे सूर्य का अध्ययन करते हैं, उसकी किरणें कैसे कार्य करती हैं ? पृथ्वी पर आकर स्वर्ण का निर्माण करती हैं तथा वनस्पति को तेज देकर ऊँचा बनाती हैं। (बीसवाँ पुष्प, २८-३-७३ ई.)

मानव इस संसार में अनुसन्धान करने के लिये आता है। वह नाना प्रकार के भोग भोगने के लिये नहीं आता। जितना हम जानते हैं उन्हीं का भोग भोगा जा सकता है। (तेरहवाँ पुष्प, १७-१-७० ई.)

बकासुर नाम पाप का है तथा इन्द्र नाम ज्ञान का है। बकासुर मनुष्य की मृत्यु का सामना कर रहा है। ज्ञान का मन्थन करना ही इन्द्र का आक्रमण है तथा उसी से पाप नष्ट हो जाते हैं। (तीसरा पुष्प, १२-३-६२ ई.)

बुद्धिमान वह है जिसके रोम-रोम से तथा इन्द्रियों से अमृत की धारा बहती है। उस धारा को जो ग्रहण करता है वह अमृत-तुल्य हो जाता है, वह धारा वेद है। जब वेद का ज्ञान मानव के समक्ष रहता है तो उस काल में यह संसार अन्धकार में नहीं जाया करता। (तीसरा पुष्प, ८-३-६२ ई.)

एक मनुष्य है जो आत्मा के विषय को देता है, जिसे वह स्वयं नहीं जानता और न इस विषय को अनुकूलता में ही लाता, परन्तु उस विषय को लेकर पुस्तक बना देता है तो उस पुस्तक का इतना प्रभाव नहीं होगा, जितना एक शक्तिशाली प्राणी उन्हीं शब्दों को ज्यों

का त्यों पुस्तकों में लिखता है। उसकी मानसिक यथार्थता, सत्यता, त्याग और तपस्या इन शब्दों में जो उसने पुस्तक के रूप में अंकित किये हैं उसमें भी उसका त्याग और चरित्र ओत-प्रोत रहते हैं। इन वाक्यों को हमें वैज्ञानिक रूपों में अध्ययन करना होगा तभी हम विकासवादी तथा राष्ट्रवादी बनेंगे। (नौवाँ पुष्प, २९-७-६६ ई.)

मनुष्य वहीं होता है जो वेद की वाणी के अनुकूल अपने जीवन को वेद के समर्पण कर देता है। वेद भगवान उसको स्वयं अपनी गोद में धारण कर लेते हैं। उसके हृदय में सुगन्ध उत्पन्न होने लगती है और उस सुगन्ध को सब पान करने लगते हैं। चाहे वह राष्ट्रवादी हो, संसारवादी हो या आध्यात्मकवादी हो। यहाँ तक कि सिंह तक भी सुगन्ध को पान करके उसके चरणों में ओत-प्रोत हो जाते हैं। जिस प्रकार प्रत्येक वेद-मन्त्र ओ३म् की ध्वनि से बिंधा है उसी प्रकार उसके अंग-उपांग एक-एक वेद-मन्त्र से बिंध जायेगा अर्थात हमारे जीवन में एक-एक वेद-मन्त्र गहने की तरह सुशोभित हो जायेगा, उस समय मानव में से सुगन्ध उत्पन्न हो सकती है अन्यथा नहीं। (चौथा पुष्प, १८-४-६४ ई.)

पाखण्डी उसको कहते हैं जो वेद ही वेद पुकारता है, किन्तु न तो वेद के अनुसार उसका आचार ही है, और न व्यवहार ही, और न वाणी ही है। चारों वेदों का ज्ञाता भी पाखण्डी कहला सकता है जैसे रावण। एक अक्षर भी न जानने वाला सदाचारी कहलाता है। यह निश्चय नहीं कि यहाँ वेद-पाठी ही सदाचारी बन सकताहै। जो दूसरों से द्वेष करता है, अपनी प्रशंसा जानकर अपने आत्म-तत्त्व को समाप्त

करता है, वह पाखंडी है। वेद में कहा है कि जिसका निश्चय ही नहीं, जिसकी धारणा ही नहीं, जिसके उदार भाव ही नहीं वह संसार में छली, दम्भी और कपटी कहलाता है। पाखण्डी वह कहलाता है जिसके विचारदूषित हो जाते हैं, चाहे वह वेद का प्रतिपादन करता हो, वेद के सिद्धान्तों को भी वाणी से उच्चारण करता हो, चाहे वह कुछ भी हो यदि वह दुराचारी है, दूसरे के प्रति द्वेष रखता है; छल, दम्भ, कपट रखता है तो वह विशेष पाखण्डी कहलाता है। पाखण्डी दो प्रकार के होते हैं.एक वह अज्ञानी जो संसार में कुछ नहीं जानता, दूसरा वह जो वेद का पण्डित होता है, जैसे रावण।

जैसा जिसका हृदय होता है उसी के अनुकूल दूसरों के हृदय की तुलना किया करता है। हमें जीवन में दूसरों की वार्ताओं पर नहीं जाना चाहिये। जो दूसरों की वार्ताओं पर जाता है, वह अपने मानवत्व को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। हमें ऊँचा बनना है तो संसार को कुछ भी उच्चारण करने दो। हमें अपने सदाचार को ले करके, राष्ट्र की वार्ता, ज्ञान और विज्ञान की चर्चा को लेकर ऊंचे जाना चाहिये, तभी हमारा जीवन अमर होगा। (दूसरा पुष्प, २-१०-६४ ई.)

मानव को इस संसार-क्षेत्र में आकर अच्छे कर्म करने चाहिये। कर्म दो प्रकार के होते हैं, एक आध्यात्मिक, दूसरा भौतिक। इन दोनों प्रकार के कर्मों को समायानुसार तथा उचित मात्रा में करना चाहिये। जिस प्रकार मानव इस भौतिक शरीर के लिये उदरपूर्ति का प्रयत्न करता रहता है। उसी प्रकार आत्मा को भोजन देने का प्रबन्ध भी करना चाहिये। आत्मा का भोजन है सत्संग, वेद-वाक्यों को गाना,

परमात्मा का विचार करना, ज्ञान प्राप्त करना। इन दोनों प्रकार के कर्मों को करने के लिये मानव को अपने जीवन के विभाग बनाकर, दिनचर्या बनानी चाहिये और बुद्धि से कार्य करना चाहिये। (प्रथम पुष्प, १-४-६२ ई.)

हमें उसी स्थान पर जाना चाहिये तथा उसी योग्यता और ज्ञान को पाना चाहिये जिससे आत्मा को भोजन मिले और वह बलवान हो। (चौथा पुष्प, १९-७-६२ ई.)

जब कोई व्याख्याता द्रव्य उपार्जन के लिये व्याख्यान देता है तो वह सुन्दर नहीं होता। यदि सुन्दर भी हो गया तो उसमें शक्ति नहीं होगी। अतः व्याख्यान हृदय से होना चाहिये। (दसवाँ पुष्प, ९-११-६८ ई.)

उपसंहार

हमारे यहाँ वायुमण्डल में जो परमाणु रमण कर रहे हैं, वे दूषित हो चुके हैं। वे चिन्ता के परमाणु हैं, मानव की वेदना के परमाणु हैं और इस प्रकार के कठोर हैं कि उसको पान करने वाले, परमाणु से भी अधिक क्लिष्ट बन जाता है। (छठा पुष्प, २८-७-६६ ई.)

हम परमात्मा से प्रार्थना करें कि वह इस व्याकुल संसार को पवित्र बनाने के लिये कोई उपाय करें जिससे यहाँ प्रत्येक मानव एक-दूसरे के रक्त का प्यासा न बनकर पथ-प्रदर्शक बने। जब माताएं इस पवित्र बेला में अपने गृहों में गायत्राणी छन्दों से गान करती हैं तो वह गृह पवित्र कहलाता है। तब इन्द्र, शची, वाशिष्ठ, अरुन्धती, बलि रेणुका जैसे गृहस्थ जोड़े बनेंगे। हम पवित्र बेला में गायत्री से

अपने हृदयों को पवित्र करना चाहते हैं। दया करके भगवान् ! हमारे नेत्रों में वह सत्ता दीजिये। हम उस ब्रह्मचर्य को धारण करें जो आनन्दमय ज्योति से हृदय को पवित्र कर देता है। इस ज्योति को पाकर माता गायत्री राजाओं-महाराजाओं के दोषों को इस प्रकार ठुकरा देती थी जैसे सूर्य की किरणों तपोमय अन्धकार को ठुकरा देती हैं। (पांचवाँ पुष्प, १८-१०-६४ ई.)